गीतातत्त्वालोक

परम पूज्यपाद ब्रह्मलीन
स्वामी श्रीपूर्णानन्दतीर्थ (उड़िया बाबाजी)

श्रीमद्भगवद्



गीता की व्याख्या

संकलयिता

स्वामी सिद्धेश्वराश्रम (दण्डिस्वामी सियाराम)

सम्पादक

स्वामी सनातनदेव



गीतातत्त्वालोक

परम पूज्यपाद ब्रह्मलीन
स्वामी श्रीपूर्णानन्दतीर्थ (उड़िया बाबाजी)द्वारा
श्रीमद्भगवद्गीता की व्याख्या



संकलयिता
स्वामी सिद्धेश्वराश्रम (दण्डिस्वामी सियाराम)

सम्पादक
स्वामी सनातनदेव

प्रकाशक :
श्रीपूर्णानन्द तीर्थ (उड़िया बाबा) ट्रस्ट समिति,
वृन्दावन

प्राप्ति स्थान
श्रीकृष्णाश्रम, दावानल कुण्ड
वृन्दावन (मथुरा)

संस्करण सन् - २००७ संवत् २०६४

मूल्य : ६५ रुपये मात्र

मुद्रक :
राधा प्रेस
२४६५, मेन रोड, कैलाश नगर, दिल्ली-३१
फोन - ०११ - २२०८३१०७

कृतज्ञता

श्रीकृष्णार्जुनसङ्कथामृतनिधेर्धीरं गभीरं तलं।
तत्त्वान्वेषण तत्परैरधिगतं कैःकैर्न सद्धीवरैः।।
किन्तु प्रत्नविचाररत्ननिकरानानीय दाने प्रभुः।
पूर्णानन्दमृते न कश्चिदिति तं सर्वात्मना संश्रये।।

दण्डिस्वामी श्रीसिद्धेश्वराश्रमजी महाराज चिरकालपर्यन्त पूज्यपाद श्रीपूर्णानन्द तीर्थजी (श्रीउड़ियाबाबाजी) महाराज की सेवा एवं सत्संग में रहकर वेदान्त श्रवण करते रहे हैं। बाबा प्रायः प्रतिदिन प्रातःकाल शंकरानन्दी टीका सहित भगवद्गीता लेकर बैठ जाते और स्वतंत्र रूप से श्लोकों पर नये-नये भाव और विचार प्रकट करते। उनके गम्भीर अनुभव एवं नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से चमत्कारकारी अभिप्रायों का प्रकाश होता। दण्डिस्वामी जी प्रायः ही उन्हें लिख लिया करते। अब वही संग्रह श्री स्वामी सनातन देव जी के द्वारा संशोधित सम्पादित एवं सुव्यवस्थित रूप से प्रकाशित हो रहा है। हम अपने महाराजश्री के तो ऋणी हैं हीं, इन दोनों स्वामियों के भी अत्यन्त कृतज्ञ हैं। इस प्रकाशन से जिज्ञासु जगत् को अनुपम लाभ होगा।

अनेक बार ऐसे प्रसंग आते कि श्री महाराजजी सत्संगियों से पूछ बैठते और फिर स्वयं उसका उत्तर देते। एक बार उन्होंने बताया कि गीता के बारहवें अध्याय का–

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।

यह श्लोक मुझे बहुत पसन्द है। इस श्लोक का रहस्य बताते हुए उन्होंने कहा था, 'केवल मुझमें ही मन का आधान और बुद्धि का निवेश अन्य में आधान और निवेश का निषेध करने के लिये है। अवधारण रूप 'एव' अर्थात् 'ही' की संगति तब तक नहीं लग सकती जब तक मन और बुद्धि को उनके आश्रय अन्तर्यामि अथवा अधिष्ठान चेतन में स्थिर न किया जाय। अन्य दृश्य अथवा विषय में मन-बुद्धि स्थापित करने से वे

उसको छोड़कर लौट आयेंगे, परन्तु आश्रय में स्थापित करने पर वे उससे अभिन्न हो जायेंगे। मन से आत्म-प्रेम और बुद्धि से आत्म-विचार, क्योंकि प्यार और विचार के अतिरिक्त मन-बुद्धि कोई वस्तु नहीं हैं। 'अत ऊर्ध्वम्' का अर्थ है मन के आधान एवं बुद्धि के निवेश के पश्चात्। अभिप्राय यह कि बुद्धि और मन की उपाधि ही आत्मा को परमात्मा से अलग करती है। अतः इस आधान और निवेश के अनन्तर परमात्मा में ही निवास होगा। अर्थात् प्रत्यगात्मा ब्रह्म से पृथक नहीं रहेगा। 'अत ऊर्ध्वम्' का अन्वय 'निवेशय' के पश्चात् है। इसको 'निवसिष्यसि' के पश्चात् भी कर लो। इस निवास रूप अभेद के अनन्तर संशय और उसके हेतु अज्ञान का अस्तित्व ही नहीं रहता।

उनके प्रवचनों में नई-नई सूझ-बूझ की बातें रहा करती थीं ब्रह्मनुभूति से परिपूर्ण। वे कोई टीका-टिप्पणी नहीं करते थे। उनके श्रीमुख से जीवन्मुक्त महापुरुष के स्वछन्द उद्‌गार प्रकट होते थे।

हम अपने ही इन दोनों स्वामियों के प्रति पुनः इस कार्य के लिए कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं।

—अखण्डानन्द सरस्वती

अवतरणिका

आज से प्रायः पचास वर्ष पूर्व की बात है, हृदय में विरक्त जीवन व्यतीत करने की व्यतीत करने की तीव्र लालसा थी। यद्यपि विवाह हो चुका था, प्रायः सत्ताईस वर्ष की आयु थी। तथापि संसारिक जीवन से चित्त उचट चुका था। घरवालों के संस्कार भी अनुकूल थे। संसार में जो साक्षात् ममता की मूर्ति मानी जाती हैं, वे माताजी भी मुझे विरक्त वेश में देखने को उत्सुक थीं। विरक्ति के लिए सबसे अधिक प्रेरणा मुझे उनसे ही मिली थी।

चित्त में श्रीमद्भगवद्गीता पढ़ने का उत्साह हुआ। किन्तु पढ़ाई-लिखाई विशेष हुई नहीं थी। अतः संस्कृत-व्याकरण पढ़ने की दृष्टि से रामघाट की संस्कृत पाठशाला में प्रवेश पाने के लिये गया। वहीं पूज्यपाद श्रीमहाराजजी के दर्शन हुए। समय-समय पर दर्शनार्थ जाता रहा तो परिचय हो गया। एक दिन गंगास्नान को जाते समय मार्ग में बोले, "मैं तुझे ऐसी गीता पढ़ाऊँगा जैसी किसी ने नहीं पढ़ाई होगी।" जब कुटिया पर लौटकर आये तो मैं गीता लेकर सामने बैठ गया। बोले, "क्या है?" मैंने कहा, "आपने गीता पढ़ाने को कहा था।" तब कहा, "इस प्रकार नहीं आवेगी। पहले प्रतिदिन एक अध्याय पढ़कर सुना।" मैं नित्यप्रति एक अध्याय पढ़कर सुनाने लगा। अठारह दिन में पूरी होने पर मैंने कहा, "अब पढ़ाइये।" आप बोले, "इस प्रकार नहीं, पहले पूरी गीता कण्ठस्थ होनी चाहिये।" मैंने कण्ठस्थ कर ली तब बोले, "किसी से शब्दार्थ पढ़कर आओ। तब इसकी व्याख्या मैं सुनाऊँगा। मैंने कहा, "मैं तो किसी को नहीं जानता, कहाँ जाऊँ।" बोले, "लम्बे नारायण स्वामी के पास चला जा।"

मैं उनके पास गया और उन्हें श्रीमहाराजजी का सन्देश सुनाया। वे बोले, "तुमने विचारचन्द्रोदय या विचारसागर पढ़ा है। उन्हें बिना पढ़े तुम गीता क्या समझोगे।" मैं लौट आया। तब श्रीमहाराजजी ने अच्युत मुनिजी के पास जाने को कहा। मैं वहाँ गया। वे पञ्चदशी के पण्डित थे। उन्होंने पहले वही ग्रन्थ पढ़ने को कहा। मैं लौट आया, तब आपने मुझे अनूप शहर में श्रीभोले बाबाजी के शिष्य श्री नेपाली बाबाजी के पास जाकर पढ़ने को कहा। उन्होंने मुझे गीता का शब्दार्थ पढ़ाया। वहाँ से आकर मैंने श्रीमहाराजजी से कहा कि अब सुन लीजिये। वे बोले, "अब क्या सुनना है, बता किस टीका के अनुसार सुनाऊँ।" मैं बोला, "महाराजजी! और टीकाएँ तो हम देखते रहेंगे। हमें तो आपकी टीका सुननी है। अपना अनुभव सुनाइये।"

बस आपने प्रवचन रूप से गीता पढ़ाना आरम्भ कर दिया मैं साथ-साथ लिखने लगा। तब बोले, "अरे! क्या करता है?" मैंने कहा, "महाराजजी! हमारी तुच्छ बुद्धि है। हम भूल जायेंगे, इसलिये लिखता जाता हूँ।" तब बोले, "अच्छा, लिखले।" मैं कभी-कभी लिखने में पिछड़ जाता था। तब अपने सहाध्यायी रामदासजी को संकेत कर देता। वे कोई प्रश्न कर देते। श्रीमहाराजजी उसका उत्तर देने लगते तब मैं अपना कार्य पूरा कर लेता। प्रायः एक वर्ष में गीता पूरी हुई। महाराजजी ने उसे दुबारा आरम्भ कर दिया। इस प्रकार मैंने तीन बार उनके मुख से उनकी सम्पूर्ण व्याख्या सुनकर लिख ली।

मैं इसे छपवाना चाहता था। परन्तु जैसी मैंने लिखी थी वह पुस्तकाकार छपवाने के योग्य नहीं थी। मैंने स्वामी श्रीसनातनदेवजी से उसका सम्पादन करने को कहा। वे देखकर चुप हो गये। फिर कई वर्ष बाद झाँसी में मुझे इनका पत्र मिला और इन्होंने मुझे फिरोजपुर (पंजाब) बुलाया। मैंने जो कुछ लिखा या उसका अंश देखकर इन्होंने कहा, "यह टीका तो उपयोगी हो सकती है। परन्तु मैं इसका सम्पादन तभी करूँगा जब आप प्रकाशन के लिये इसे श्रीमहाराजजी के ट्रस्ट को दे दें।" मैंने स्वीकार कर लिया। अब उन्हीं के द्वारा संशोधित और सम्पादित होकर यह ग्रन्थरत्न जनता के सामने आ रहा है। मेरे लिये तो ब्रह्मलीन श्रीमहाराजजी की यह दिव्य वाणी अमूल्य निधि है। आशा है, अधिकारी लोग इससे अवश्य लाभान्वित होंगे।

कुछ लोगों की दृष्टि इसे या इसका भाषान्तर में अनुवाद कराकर छपवाने और अपना प्रचार या व्यवसाय करने की रही है। इसका दुरुपयोग न हो इसलिये मैं यह सूचित किये देता हूँ कि श्रीपूर्णानन्द तीर्थ (उड़िया बाबा) ट्रस्ट समिति के सिवा और कोई व्यक्ति या संस्था मेरी अनुमति लिये बिना इस रूप में अथवा इसका अनुवाद कराकर छपवाने का प्रयत्न न करें। यदि कोई ऐसा दुःसाहस करेंगे तो उन्हें उसका दुष्परिणाम भोगना पड़ेगा।

—स्वामी सिद्धेश्वराश्रम
(सियाराम)

आमुख

भारतीय वाङ्मय में श्रीमद्भगवद्गीता का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि संसार के सार्वभौम साहित्य की दृष्टि से देखें तो भी इसकी गणना सर्व प्रमुख ग्रन्थों में की जा सकती है। संसार में सम्भवतः बाइबिल को छोड़कर और कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं है जिसका इतनी भाषाओं में प्रकाशन और प्रवर्तन हुआ हो। इसके ऊपर भारत की सभी भाषाओं में विचारक और मनीषियों की अगणित व्याख्याएं हैं। फिर भी यह एक नवीन टीका प्रकाशित करने की आवश्यकता अनुभव हुई, यह विषय विचारणीय है। गीता तो एक ही है, किन्तु उसके व्याख्याकारों के वैदुष्य और अनुभव के कारण उसकी टीकाओं का एक विशेष स्थान हो जाता है और उनमें मतभेद भी बहुत है। प्रस्तुत ग्रन्थ के वक्ता परम पूज्यपाद ब्रह्मलीन श्रीउड़िया बाबाजी महाराज अपने समय के एक सर्वमान्य सन्त थे। उनके अनुभव, ब्रह्मनिष्ठा और त्याग-वैराग्य के कारण साधु-समाज में उनका बहुत ऊँचा स्थान था। उनके कथन में एक नवीन ओज और प्रभाव होता था। वे सदा लक्ष्य पर दृष्टि रखकर बोलते थे और थोड़े शब्दों में ही बहुत ऊँची बात कह जाते थे। वे यद्यपि कोई वक्ता, व्याख्याकार या लेखक नहीं थे। तथापि उनमें कुछ ऐसा आकर्षण था कि लोग उनके दर्शन और वाक्य-श्रवण को सर्वदा लालायित रहते थे।

वे सत्संग की दृष्टि से गीता की शंकरानन्दी टीका लेकर प्रातःकाल नित्य ही कुछ प्रवचन किया करते थे। यह प्रवचन कैसे आरम्भ हुआ उसका उल्लेख स्वामी श्री सिद्धेश्वराश्रमजी ने अपनी अवतरणिका में किया है। उस प्रवचन को स्वामीजी, जितना हो सकता, लिख लेते थे। बातें उसमें बहुत महत्त्वपूर्ण और जिज्ञासु साधकों के लिए उपयोगी होती थीं। श्रीमहाराज जी के महाप्रस्थान के पश्चात् इनकी इच्छा हुई कि यह संग्रह ग्रन्थ रूप में प्रकाशित कर दिया जाय। किन्तु जैसा लिखा गया था वैसा तो प्रकाशन के योग्य था नहीं तथापि उसमें जो सामग्री थी उसे देखते हुए उसे प्रकाशित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अतः मुझसे जैसा बना उसका सम्पादन करके जनता के सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ। इसमें भाषा तो मेरी है किन्तु भाव और

शैली श्रीमहाराज जी की ही है। कई जगह विस्तार का संकोच तो किया गया है परन्तु कहीं भी अपनी ओर से जोड़ा कुछ नहीं गया। प्रवचन सत्संग की दृष्टि से होता था, इसलिये बीच-बीच में प्रश्नोत्तर भी हुए हैं। इससे विषय को हृदयंगम करने में और भी सहायता मिलती है।

यह एक तत्त्वनिष्ठ महापुरुष की वाणी है। इसमें यद्यपि विद्वान् व्याख्याकारों की तरह शब्दों का चमत्कार और किसी विशेष सिद्धान्त का आग्रह नहीं है, तथापि भावों की गम्भीरता और विवेचन की प्राञ्जलता स्पष्ट पाई जाती है। अतः वैदुष्य का प्रदर्शन न होने पर भी यह वैदुष्य से वञ्चित नहीं है। श्रीमहाराज जी ने यद्यपि अद्वैतवाद की दृष्टि से ही विवेचन किया है, परन्तु आपके विवेचन में किसी प्रकार की खींच-तान नहीं है। जो कुछ कहा गया है निष्पक्ष दृष्टि से ही कहा गया है। ग्रन्थ का वास्तविक तत्त्व प्रकट करने में यह व्याख्या अद्वितीय है। अतः आशा है कि यह ग्रन्थ जिज्ञासु साधक और विचारक मनीषियों के लिये बहुत उपयोगी होगा।

इस ग्रन्थ के आरम्भ में हमारे ट्रस्टाधिपति सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पूज्य स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती ने इस ग्रन्थ के संकलन और सम्पादन के लिये कृतज्ञता प्रकट की है। यह उनकी उदारता ही है। जो अपना कर्त्तव्य है उसका यत्किञ्चित् पालन करके हमने ऐसा क्या विशेष कार्य किया। यह तो हमें करना ही चाहिये था। किंतु महापुरुष अल्प को भी महान् मान लेते हैं। मैं आपकी इस उदारता के लिये अत्यन्त आभारी हूँ।

विनीत,

सनातनदेव

सत्संग भवन, जोधपुर

८ फरवरी १९७९ ई०

प्राक्कथन

कुछ समय पहले की बात है कि काशी में विद्वानों में विवाद हुआ कि मेरा शास्त्र श्रेष्ठ है तथा मेरे शास्त्र की विचारधारा ठीक है। किन्तु कोई निर्णय न हो सका अतः सभी विद्वानों ने मिलकर यह निश्चय किया कि जगन्नाथपुरी चलें। वहाँ श्रीजगन्नाथजी के समक्ष एक कोरा कागज, कलम-दवात रखकर रात्रिभर सब विद्वान अपने-अपने इष्ट की उपासना, ध्यान, जप आदि करें, और भगवान से प्रार्थना करें कि जो शास्त्र सर्वश्रेष्ठ हो उसका निर्देश अपनी लेखनी से इस कोरे कागज पर लिखने की कृपा करें। विद्वान सच्चे उपासक व तपोनिष्ठ थे उनकी प्रार्थना से भगवान ने प्रसन्न होकर उस लेखनी से कोरे कागज पर यह श्लोक लिखा—

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥

प्रातःकाल यह श्लोक देखकर सब विद्वान आश्चर्यचकित हो गये। तभी से गीता सर्वमान्य हो गई, और विश्व के सभी विभिन्न-विभिन्न विचारधारा वालों ने अपनी-अपनी विचारधारा के अनुसार गीता पर व्याख्या की है। परन्तु यह निर्णय तो हम नहीं कर सकते कि कौन ठीक है, हाँ, इतना जरूर कहेंगे कि इस गीता शास्त्र को जिन प्रभु के मुख से प्रकाश मिला है वही गीता शास्त्र श्रेष्ठ है। उसके अर्थ को वही जानते हैं अथवा ज्ञान वैराग्य, भक्ति के द्वारा जिन्होंने उनका साक्षात्कार किया है उनसे अभिन्न भू महापुरुष ही जानते हैं। उन भगवन्निष्ठ, भगवत् स्वरूपभूत हमारे श्रीमहाराजजी की वाणी आप लोगों के सौभाग्य से आपके समक्ष उपस्थित है। आप इस अमृत का पान कीजिए और अपने हृदय को शीतल बनाइये।

—श्री पूर्णानन्द तीर्थ (उड़िया बाबा) ट्रस्ट समिति,
श्रीकृष्णा आश्रम, दावानल कुण्ड, वृन्दावन -२८११२१

ॐ

श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

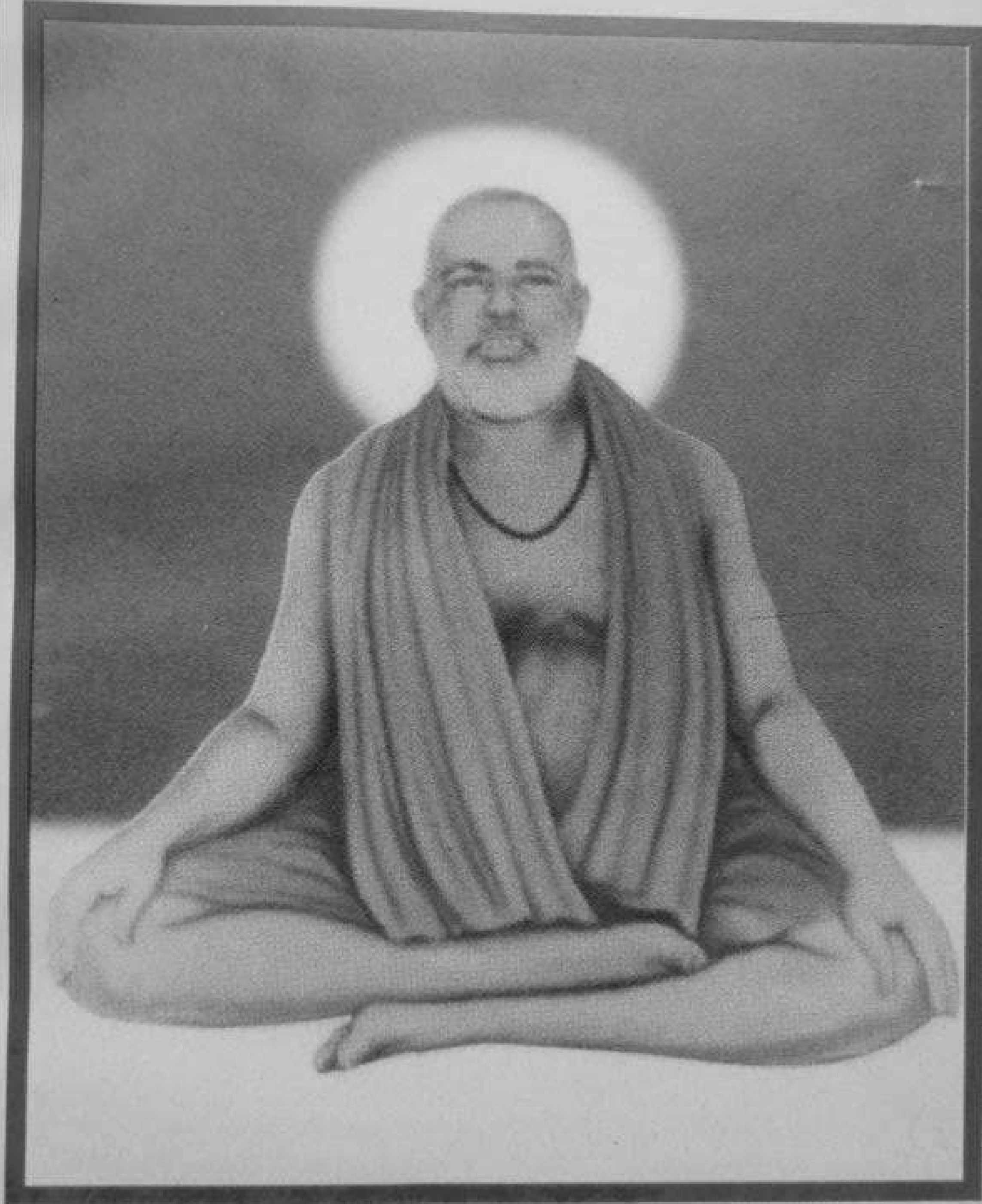
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

श्रीगुरुवन्दनम्

आनन्दमानन्दकरं प्रसन्नं ज्ञानस्वरूपं निजबोधरूपम्।
योगीन्द्रमीड्यं भवरोगवैद्यं श्रीसद्गुरुं नित्यमहं नमामि।।

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा।।
अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः।।
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।





पूज्यपादश्री स्वामी पूर्णानन्दतीर्थ
श्री उड़िया बाबाजी महाराज

श्रीपूर्णानन्दष्टकम्

पावनं परमं पुण्यं पद्मपत्रमिव स्थितम्।
पूर्णप्रेमप्रदातारं पूर्णानन्दं नमाम्यहम्।।१।।
सुखदं शान्तिदं सौम्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्।
सारासारप्रवक्तारं पूर्णानन्दं नमाम्यहम्।।२।।
भजनं भाजनं भव्यं भक्तभावप्रदर्शकम्।
भक्तानन्दकरं भव्यं पूर्णानन्दं नमाम्यहम्।।३।।
मानदं मोहकं मुख्यं मानातीतं मनोहरम्।
भुक्तिमुक्तिप्रदातारं पूर्णानन्दं नमाम्यहम्।।४।।
तार्किकं तर्कहन्तारं तर्कातीतं तु तुष्टिदम्।
न्यस्तदण्डं तुरीयं तं पूर्णानन्दं नमाम्यहम्।।५।।
परात्परं परातीतं पालकं परमेश्वरम्।
पुरीनिवासिनं पुण्यं पूर्णानन्दं नमाम्यहम्।।६।।
लौकिकं वैदिकं शास्त्रं ज्ञानविज्ञानसंयुतम्।
भक्तान् शिक्षयते यस्तं पूर्णानन्दं नमाम्यहम्।।७।।
लेह्यं चोष्यं च पेयं च चर्व्यं भोज्यं तथैव च।
भुङ्क्ते भोजयते यस्तं पूर्णानन्दं नमाम्यहम्।।८।।

फलम्

पुण्यं पापहरं स्तोत्रं यः पठेत् भक्तिभावतः।
न तस्य भयमायाति न दुःखं न पराभवम्।।



॥ ॐ श्रीपूर्णानन्दाय नमो नमः ॥

श्रीपूर्णानन्दतीर्थस्फुरदमृतगवी-
विप्रुषाऽऽप्लावितानां,
नास्माकं मोक्षचिन्ता प्रविदितमहसां
ब्रह्मभावं गतानाम्।
किन्त्वेषा बोधधारा विघटितनिखिला-
कारसंस्कारकारा,
स्वच्छन्दं दन्ध्वनीति प्रतिपदमधुना
तामनुव्यञ्जयामः ॥ १ ॥

ये हैं श्रीपूर्णानन्दतीर्थ। इस अद्भुत तीर्थसे वचनसुधा लहराती है। हम उसके सीकरोंमें स्नान कर चुके हैं। हमें अद्वितीय ज्योतिका बोध हो गया और ब्रह्मात्मभावका अनुभव है, मोक्षकी कोई चिन्ता नहीं है। फिर भी उस कृपा-सीकरसे प्राप्त बोधकी धारा प्रवाहित होकर समस्त आकार एवं संस्कारके कारागारको छिन्न-भिन्न कर रही है और स्वच्छन्द उपदेश- ध्वनिसे परिपूर्ण कर रही हे। अब हम प्रतिपद उसीको अभिव्यक्ति देते हैं ॥१ ॥

शिक्षा सर्वागमानां निखिलजनमनः
पावनी कापि दीक्षा,
दीप्ता सर्वात्मदृष्टिर्निरवधिकरुणा
किं नु वात्सल्यवृष्टिः।
निष्ठा ब्रह्मात्मविद्याद्युतिदलिततम-
स्तोमविद्वन्मणीनां,
श्रीपूर्णानन्दतीर्थो जगति विजयते
सत्यप्रतिष्ठा यतीनाम्॥ २ ॥

श्रीपूर्णानन्दतीर्थकी जय हो, जय हो! यह हमारे महाराजश्री सम्पूर्ण शास्त्रोंकी मूर्त्तिमती शिक्षा है अथवा निखिल जनताके मानसको पावन करनेवाली कोई दीक्षा। ये प्रदीप्त सर्वात्मदृष्टि हैं, अपार करुणाके पारावार हैं अथवा

वात्सल्यकी वर्षा हैं। हो न हो, ब्रह्मात्मविद्याकी द्युतिसे अज्ञानान्धकारको दूर अपसारित करनेवाले ज्ञानी पुरुषोंके मुकुटमणि हैं। ऐसा लगता है जैसे महात्माओंकी शाश्वत प्रतिष्ठा ही इनके रूपमें प्रकट हो गयी हो ॥२॥

सम्भोगे विप्रलम्भे निरुभयमभयं
भाति भूपो रसानां,
विक्षेपे वा समाधौ विहरणनिपुणा
ब्रह्मविद्यैव नूनम्।
इत्थं लोकैरशोकैरनुपदमधिकं
भाव्यमानोऽवधूतः,
श्रीपूर्णानन्दतीर्थः पथि पथि पथिकान्
नन्दयन् बम्भ्रमीति ॥ ३ ॥

संयोग शृंगार और वियोग शृंगार दोनोंसे अलग और दोनोंमें विद्यमान ये निर्भय रसराज ही हैं क्या? हो सकता है विक्षेप एवं समाधि में समान विहार करनेवाली ब्रह्मात्मविद्या ही इनके रूपमें प्रकट हुई हो। आनन्दसे भरपूर जनता सब ओर इनके बारेमें उद्भावना कर रही है। ये कौन है? कोई अवधूत हैं। इनको लोग श्रीपूर्णानन्दतीर्थके नामसे जानते हैं। मार्गवासी लोगोंको आनन्द देनेके लिए ये पैदल ही पथ-पथपर विचरण करते हैं ॥३॥

ब्रह्मानन्दाब्धिलीलाललितलहरिका-
व्यञ्जितासंख्यबिन्दु-
ब्रह्माण्डव्रातरोमा विधुतविधिविधु-
त्र्यक्षविस्तारसीमा।
संविद्भूमांशुमालोज्ज्वलविमलरुचि-
ध्वस्तमायाविलासः,
श्रीपूर्णानन्दतीर्थो मम मनसि मना-
गात्मभावं बिभर्त्तु ॥ ४ ॥

ये हैं श्रीपूर्णानन्दतीर्थ। ब्रह्मानन्दसागरकी लीलाललित असंख्य बिन्दुओंसे छलकते हुए राशि-राशि ब्रह्माण्ड इनके रोम-रोममें स्थित हैं। विष्णु, ब्रह्मा

और शङ्करके विस्तारकी सीमा टूट चुकी है। अनन्त संवित्‌के राशि-राशि चिदाभास रश्मिसमूहकी चमकसे मायाविलासका विध्वंस हो रहा है। यही श्रीमहाराजजी कृपा पूर्वक हमारे मनमें थोड़ा-सा आत्मभाव भर दें ॥४॥

तीर्थानां नास्ति संख्या विलसति पुरतः
कापि तेषामभिख्या,
येषां स्नानप्रदानप्रवचनपटिमा
कां कलां नातिशेते।
तच्चित्रं यस्य चित्रं कलितमपि मनाक्
छ्रेयसां प्रेयसां च,
पारोक्ष्यं संपिधत्ते वितरति परमां
पूर्णतामात्मरूपाम् ॥ ५ ॥

तीर्थोंकी संख्या नहीं है। गंगा-पुष्करादि, महात्मागण विद्वान्—सभी तीर्थ हैं। उनकी अद्‌भुत शोभा प्रत्यक्षरूपसे अनुभवमें आती रहती है; उनमें स्नान करो, दान करो, प्रवचन सुनो। उनकी पटुता सभी कलाओंका अतिक्रमण कर जाती है। परन्तु श्रीपूर्णानन्दतीर्थमें एक विचित्रता है। यदि एक बार, केवल एक बार थोड़ी देरके लिए उनके चित्रका भी आकलन कर लिया जाय तो वह श्रेय एवं प्रेय दोनोंको प्रत्यक्ष कर देता है और आत्मस्वरूप सच्ची पूर्णताका दान कर देता है ॥५॥

सा दृष्टिः सूक्ष्मलक्ष्या स्थिरचरविषया
वासनास्पर्शशून्या,
सा दृष्टिर्दृश्यमुक्तं करणमिव परं
सम्प्रसादैकरूपा।
सा दृष्टिर्यत्र नान्यत् सकलमविकलं
ब्रह्म प्रत्यक् प्रशान्तं,
श्रीपूर्णानन्दनेत्रद्वयरसविलसत्-
कोणकारुण्यमात्रम् ॥ ६ ॥

वह दृष्टि जिसका लक्ष्य सूक्ष्म होता है, खुली रहकर स्थावर-जंगमको भी देखती रहती है किन्तु वासनाका स्पर्श भी नहीं होता। वह दृष्टि जिसमें दृश्य न हो, निर्विषय करणके समान हो और सम्प्रसन्न समाधिरूप हो; वह दृष्टि जिसमें द्वैत है ही नहीं, सब कुछ प्रत्यक् चैतन्याभिन्न निर्विकार एवं प्रशान्त ब्रह्म ही है। वह शाम्भवी मुद्रा, सम्प्रज्ञात समाधि अथवा निर्विकल्प निर्बीज ब्रह्मनिष्ठा श्रीपूर्णानन्दतीर्थ महाराजके नयनयुगलके विलासपूर्ण कोणका कारुण्य मात्र ही है॥ ६॥

यत्किञ्चिद्वास्तु वस्तु प्रणमत कृतिनो
ज्ञानतोऽज्ञानतो वा,
श्रीपूर्णानन्दतीर्थामृतकणपवन-
स्पर्शधन्यं धरण्याम्।
यत्सम्पर्कादनर्हामिव हरिहरतां
मन्यमाना महान्तः,
स्वान्तर्व्योम्नि प्रशान्तं निरुपधिविमलं
ब्रह्म पूर्णं लभन्ते॥ ७॥

सज्जनों! धरतीपर चाहे कोई भी वस्तु क्यों न हो, जो श्रीपूर्णानन्द-तीर्थके अमृतकणसे प्लावित वायुके स्पर्शसे धन्य हो चुकी हो, उसे ज्ञान या अज्ञानसे प्रणाम कीजिये। उस वस्तुके सम्पर्कसे महापुरुषोंके हृदयमें भी वैराग्यकी ऐसी उदात्त भावना उदित हुई है कि उन्होंने हरिहर पदवीको भी अयोग्य समझकर अपने हृदय-आकाशमें प्रशान्त, निर्माय, निर्मल, पूर्ण ब्रह्मको प्राप्त किया है॥ ७॥

रे रे ब्रह्माण्डकोट्यः फलत बहुविधं
रोमकूपेष्वभीक्ष्ण-
मीशा रे सावकाशं निजपदविहितां
सद्व्यवस्थां विधत्त।
रक्ता भक्ता विरक्ता विलसत सकले
सत्कले निष्कले वा,

श्रीपूर्णानन्दतीर्थं वयमिह कुशला
उत्कलं संविशामः ॥ ८ ॥

अरे कोटि-कोटि ब्रह्माण्डो! तुम हमारे एक-एक रोमकूपमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे बार-बार फूलो-फलो। रे ब्रह्माण्डके स्वामियों! तुम अवकाशके अनुसार अपने पदकी मर्यादाके अनुसार ब्रह्माण्डोंकी सद्व्याख्या करो। रागी, भक्त और विरक्तों! तुमलोग सकल, सत्कल या निष्कल ईश्वरमें विहार करो। हम चतुरलोग इसी धरती पर, इसी जीवनमें उत्कल श्रीपूर्णानन्दतीर्थमें भली-भाँति प्रवेश कर रहे हैं ॥ ८ ॥

माया छाया वराकी कथमिवलभतां
मय्यनन्ते प्रतिष्ठा-
मस्थाने चेश्वरत्वं द्रुहिणहरिहरा
हन्त वह्नेः स्फुलिङ्गाः।
अद्वैते द्वैतखेला गगननलिनवत्
स्वप्नवज्जीवमेला,
श्रीपूर्णानन्दवाणी श्रुतिशिखरसुधा-
स्वर्णदी नः पुनातु॥ ९ ॥

"तुच्छ माया छाया मात्र है। वह मुझ अनन्तमें स्थान कैसे पा सकती है? ईश्वरता भी किसकी? कैसे? राम-राम! ब्रह्मा-विष्णु-महेश तो मुझमें आगकी चिनारीके समान हैं। अद्वैतमें द्वैतका खेल आकाशमें कमलके खेल-सा है और जीवोंका मेल स्वप्न सा।" यह है श्रीपूर्णानन्दतीर्थकी वाणी। यह श्रुतिशिखर अर्थात् वेदके शिरोभाग वेदान्तकी सुधागंगा है। यह हमें पवित्र करे॥ ९ ॥

भक्तिःश्रद्धैकमूला विरहितविषया
बोधमूलं विरक्ति-
दिध्यासा लक्षितेऽर्थे श्रवणमननजा
सम्प्रसूते समाधिम्।

ज्ञानाभ्यासप्रधाना घनरतिरुदिता
हन्त्यविद्यामवद्यां,
श्रीपूर्णानन्दतीर्थे वचसि वयममी
निर्भरं मज्जिताः स्मः ॥ १० ॥

"भक्तिका एकमात्र कारण है श्रद्धा। ब्रह्मबोधका साधन है वैराग्य। सम्पूर्ण-विषयोंमें अरुचि वैराग्य है। श्रवण-मननजन्य निदिध्यासन लक्ष्यार्थमें समाधिको जन्म देता है। ज्ञानाभ्यासप्रधान घनरति उदित होकर भेदजननी अविद्याका नाश कर देती है।" यह हैं श्रीपूर्णानन्दतीर्थके वचन जो स्वयं तीर्थ हैं; अब हम निश्चिन्त होकर इसमें मग्न हो चुके हैं ॥१०॥

श्रीपूर्णानन्दकल्पद्रुमतलरजसा
पाविते भूप्रदेशे,
यस्मिन्कस्मिन्निषीदन् सपदि निजपदे
शान्तवृत्तिर्निसर्गात्।
दर्शं दर्शं स्वरूपं परिणतविधुरं
ब्रह्म निर्भेदमद्धा,
न श्रद्धां नानुवन्धं श्रुतिशिखरगिरा-
माग्रहं नानुमन्ये॥ ११ ॥

श्रीपूर्णानन्दतीर्थ हैं कल्पवृक्ष। उनके पादतलकी धूलिसे पावन जिस किसी भूमिप्रदेशमें बैठते ही बिना किसी साधनके तत्काल वृत्ति अपने स्वरूपमें शान्त हो जाती है। परिणामरहित निर्भेद ब्रह्म अपना ही स्वरूप है—इसका साक्षात्कार होने लगता है। 'अब मुझे श्रद्धा, अनुबन्धचतुष्टय अथवा वेदान्तश्रवणके बिना ब्रह्मज्ञान नहीं होता'—इस मतवादमें आग्रह नहीं रहा ॥११॥

यस्याज्ञा धर्मशास्त्रं सहजशुचिकथा
ब्रह्मविद्यानवद्या,
ध्यानं सर्वात्मभानं स्थिरचरहितकृत्-
छेमुषी शान्तिभूषा।

आश्चर्यं चारुचर्य्या जननयनमनो-
मोहिनी मुक्तवर्या,
तं पूर्णानन्दतीर्थं गुरुममृतमृतं
ब्रह्ममूर्तं प्रपद्ये ॥ १२ ॥

जिनकी आज्ञा धर्मशास्त्र है, सहज पावन वार्त्तालाप निर्दोष ब्रह्मविद्या है, सर्वात्मभाव ही ध्यान है, शान्तिरूप अलङ्कारसे अलङ्कृत बुद्धि चराचर हितकारिणी है, जिनकी आश्चर्यमयी चारुचर्या जननयनमनोमोहिनी एवं मुक्त पुरुषोंके लिए भी वरणीय है, उन अमृत, ऋत गुरुदेव श्रीपूर्णानन्दतीर्थकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ। वे ही मूर्त्त ब्रह्म हैं ॥ १२ ॥

आनन्दब्रह्मविद्यामधिजिगमिषव-
स्तैत्तिरीया गभीरं,
मीमांसन्ते स्म विश्वं तदुदयविलयं
निर्भयास्तत्स्वरूपम्।
कल्याणी काण्ववाणी विमृशति मधुरं
वीणयन्ती च तत्त्वं,
तत्पूर्णानन्दतीर्थे मधुनि वयममी
निर्द्वयं लीलयामः ॥ १३ ॥

आनन्दब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए तैत्तिरीय शाखाके अनुयायी गम्भीर मीमांसा करते हैं कि विश्वका उदय-विलय आनन्द-ब्रह्मसे ही होता है, आनन्द-ब्रह्ममें ही होता है। वे निर्भय होकर विश्वको ब्रह्म-स्वरूप कहते हैं। काण्व शाखाकी कल्याणी वाणी 'मधु-मधु' कहकर तत्त्वका मधुर रूपमें सङ्गीत गाती है। अतएव मधुमय पूर्णानन्दरूप तीर्थमें निर्द्वय होकर हम क्रीड़ा कर रहे हैं ॥ १३ ॥

धर्मः कर्मविशेष एष विहितः
शास्त्रैर्मनः शुद्धये,
शुद्ध्या सिद्धपदार्थबोधनविधा
निर्बाधमाधीयते।

तत्त्वं त्वं तददिति प्रमा श्रुतिरमा
भेदभ्रमापोहिनी,
पूर्णानन्दपदप्रसादपरमा
सद्यः क्षमा मुक्तये ॥ १४ ॥

कर्म-विशेषका ही नाम 'धर्म' है। यह मनःशुद्धिके लिए शास्त्रोंके द्वारा विहित होता है। मनःशुद्धि होनेपर सिद्ध-वस्तुके बोधकी प्रक्रिया निर्विघ्न हृदयंगम हो जाती है। 'वह तुम हो', 'तुम वह हो'—यह प्रमा श्रुतियोंकी सार-सर्वस्व लक्ष्मी है। यही भेद-भ्रमको दूर करती है। इसीसे पूर्णानन्द-पदका पूर्णतः अनुभव होता है। मुक्तिकी तत्काल प्राप्तिके लिए यही समर्थ प्रमाण है ॥ १४ ॥

क्षीराब्धिस्नापिताङ्घ्रिप्रथितगिरिशिरो-
नीलरत्नाङ्कजन्मा-
ऽऽर्त्तत्राणैकान्तशिक्षः क्षपितकलिमलो
लब्धसंन्यासदीक्षः।
ब्रह्मात्मैक्यानुभूतिप्रखररविकरोद्-
धूतमोहान्धकारो,
विश्वात्मा प्रत्यगात्मा विहरतु हृदये
पूर्ण आनन्दतीर्थः ॥ १५ ॥

गिरिशिरोमणि नीलाचल। स्वयं लक्ष्मीपिता क्षीरसागर जिनके चरणारविन्दका प्रक्षालन करते रहते हैं। श्रीपूर्णानन्दतीर्थने वहाँ जन्म लिया। उन्होंने सारी शिक्षा ऐसी प्राप्त की जिससे आर्त्तोंका संरक्षण हो। लोगोंके मनसे कलियुगकी मलिनता धो दी। संन्यास-दीक्षा ग्रहण की। ब्रह्मात्मैक्यानुभूतिकी प्रखर रवि-रश्मियोंसे मोहान्धकारका निवारण कर दिया। वे ही विश्वात्मा हैं। वे ही प्रत्यगात्मा हैं। वे ही अद्वितीय पूर्णानन्दतीर्थ हैं। हमारे हृदयमें चिरकाल तक विहार करें ॥ १५ ॥

आविर्भूतं पुरस्तान्महदहह महो
यद्रहो योगिगम्यं,
रम्यं स्वानन्दपूर्णं स्मितललितमुखं
स्निग्धमुग्धावलोकम्।
आश्लिष्यद्वक्षसाऽलं विमृशदतिरसान्-
मूर्ध्नि हस्ताम्बुजाभ्यां,
लीलाशीलान्तरङ्गं मम नयनयुगं
निर्युगं सञ्चकास्तु॥ १६॥

एकान्त साधना करके योगीजन जिस महान् दिव्य ज्योतिका दर्शन प्राप्त करते हैं, आश्चर्य है वही मेरे नेत्रोंके सामने प्रकट हो गयी है; कितना रमणीय, आत्मानन्दसे परिपूर्ण। मुखारविन्द स्मितसुन्दर। अवलोकन स्नेहसे भरपूर एवं मुग्ध है। यह दिव्य ज्योति मुझे अपने वक्षःस्थलसे आलिंगन करना चाहती है। बड़े प्रेमसे करकमलोंसे शिरःस्पर्श कर रही है। इसका हृदय लीलाके भावसे परिपूर्ण है। यह मेरे दोनों नेत्रोंके सामने कालकल्पनासे मुक्त होकर प्रकाशित होती रहे॥ १६॥

पूर्णानन्ददया दृशा रसदया
शश्वत्प्रसादोदया,
ब्रह्मज्ञानविनोदया जनमनो-
मोदाय निःखेदया।
विश्वप्रेमविकासहासमुदया
त्रैलोक्यसम्पद्दया,
पूर्णानन्ददया मदीयमनसे
काञ्चित्कणां यच्छतु॥ १७॥

श्रीपूर्णानन्दतीर्थकी दया अपनी पूर्णानन्ददायिनी दृष्टिसे मेरे मनको एक छोटी-सी कणिकाका दान कर दे। वह दृष्टि रसदायिनी है, निरन्तर प्रेम-प्रसादसे आर्द्र है। ब्रह्मज्ञान-विनोदिनी है, प्रेमी भक्तोंको आनन्द देनेके लिए

अश्रान्त जागरूक है। हास्य-प्रमोदके द्वारा विश्व-प्रेमको विकसित करती है। त्रैलोक्य-सम्पदाका दान करती रहती है; हाँ, ऐसी है यह उनकी दृष्टि ॥१७॥

श्रीकृष्णार्जुनसङ्कथामृतनिधे-
धीरं गभीरं तलं,
तत्त्वान्वेषणतत्परैरधिगतं
कैःकैर्न सद्धीवरैः।
किन्तु प्रत्नविचाररत्ननिकरा-
नानीय दाने प्रभुः,
पूर्णानन्दमृते न कश्चिदिति तं
सर्वात्मना संश्रये॥ १८॥

श्रीकृष्ण-अर्जुनका संवाद अमृतका समुद्र है। उसके धीर-गम्भीर तलकी थाह तत्त्वान्वेषण-तत्पर किन-किन सद्धीमान् धीवरोंने नहीं पायी अर्थात् बहुतोंने पायी; क्योंकि उनके हृदयमें तत्त्वानुसन्धानके लिए पूर्ण तत्परता थी, परन्तु प्राचीन विचार-रत्नोंकी राशि ढूँढ़कर लानेका और लोगोंको देनेका सामर्थ्य जैसा श्रीपूर्णानन्दजीतीर्थमें है वैसा उनके अतिरिक्त अन्य किसीमें नहीं है। अतएव सर्वात्मना मैं उनका आश्रय ग्रहण करता हूँ॥ १८॥

जीवन्मुक्तिर्विशिष्टा बतविगतवपु-
र्मुक्तिरिष्टेतिपृष्टः,
सुस्पष्टं योन्वगृह्णाद् उभयमपि मृषा
सादितासान्तताभ्याम्।
मोहापायोपलक्ष्यः स्वयमयमभयो
मुक्तिरात्मैव नान्या,
पूर्णानन्दाय तस्मै प्रणिहितमनसा
संदधेऽहं नमांसि॥ १९॥

यह पूछनेपर कि जीवन-मुक्ति श्रेष्ठ है अथवा विदेहमुक्ति? श्रीमहाराजने स्पष्ट अनुग्रह किया कि दोनों ही मिथ्या हैं, क्योंकि दोनों ही आदि-अन्तवाली

अनित्य हैं। अज्ञानके विनाशसे उपलक्षित आत्मा ही मुक्ति है और कुछ मुक्ति नहीं है। ऐसा लोकोत्तर उत्तर देनेवाले श्रीपूर्णानन्दतीर्थजी महाराज को एकाग्र मनसे मैं बार-बार नमस्कारकर ध्यान करता हूँ॥ १९॥

स्वर्णस्वर्णप्रभाभिः श्रुतिहृदयनभो-
व्यापिनीभिर्मनोज्ञा,
भावाभावप्रभावोज्झितहितमणिभि-
र्विस्फुरद्भिः प्रपूर्णा।
श्रीपूर्णानन्दतीर्थागमनिगम रसो-
ल्लास सम्पन्निधानी,
मञ्जूषा काऽपि वाणी मम मनसि मनाङ्
मन्दिरे चाकसीतु॥ २०॥

स्वर्णके समान चमकते हुए वर्णोंसे श्रुति हृदयरूप आकाशमें झिलमिल-झिलमिल अपनी सुन्दरताको फैला रही है। भावाभावके प्रभावसे मुक्त हितरूप मणियोंसे परिपूर्ण है। श्रीपूर्णानन्दतीर्थके आगम-निगम रूप रसोल्लास सम्पदाका निधान है। यह कल्याणदायिनी निर्वाणप्रकाशिका वाणी रूप मञ्जूषा मेरे मन-मन्दिरमें जगमग-जगमग प्रकाशती रहे॥ २०॥

वैकुण्ठः केन दृष्टः श्रवण पथगतः
स्वप्नवद् भाति चित्ते,
तद्वृत्तीनां निरोधः सहजशयनवत्
तत्र को वा प्रमोदः।
प्राक्प्रत्यग्भावमुक्तं तदिदमहमिति
ब्रह्म पूर्णं नचान्यत्,
पूर्णानन्दोपदेशो दिशि विदिशि
सदामङ्गलं देदिशीतु॥ २१॥

"वैकुण्ठ किसने देखा है? वह तो केवल सुना हुआ है और चित्तमें स्वप्नके समान भासता है। योगके द्वारा चित्तवृत्तियोंका निरोध सहज सुषुप्तिके

समान ही है। उसमें कौन-सा आनन्द धरा है ? आन्तर और बाह्य भावसे रहित एवं वह, यह तथा मैं-के रूपमें भासमान केवल पूर्ण ब्रह्म ही है, दूसरी कोई वस्तु नहीं है'' श्री पूर्णानन्दतीर्थजीका यह उपदेश प्रत्येक दिशा एवं विदिशामें सदा मङ्गलका विस्तार करे ॥ २१ ॥

अखण्डानन्दसम्बोधपूर्तये ब्रह्ममूर्त्तये।
सुधास्मितसमाश्लिष्टनेत्रान्तस्फूर्तये नमः ॥ २२ ॥

इति श्रीमत्स्वामि अखण्डानन्दसरस्वती-विरचित-
गुरुदेवश्रीपूर्णानन्दतीर्थस्तवः
विश्रामः

वे अखण्डानन्द-बोधकी सम्पूर्ति हैं। ब्रह्मकी मूर्ति हैं। सुधाभरी मुस्कानसे समाश्लिष्ट उनके नयनकोण छलकते रहते हैं। गुरुदेव श्रीपूर्णानन्दतीर्थको नमस्कार है ॥ २२ ॥

इति श्रीमत्स्वामि अखण्डानन्दसरस्वती-विरचित-
गुरुदेवश्रीपूर्णानन्दतीर्थस्तवः
विश्रामः



अनुक्रमणिका

ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः

श्री गीतातत्त्वालोक

अथ प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय।।१।।

धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्रित हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया।

प्रश्न—'किम् अकुर्वत' यह शब्द सन्देह सूचक है। जब वे युद्ध के लिये गये थे तो धृतराष्ट्र को ऐसा सन्देह क्यों हुआ?

उत्तर— महात्माओं के पास तथा तीर्थादि पवित्र स्थानों में जाकर बुद्धि शुद्ध हो जाती है तथा काम-क्रोधादि वृत्तियाँ भी दब जाती हैं। अतः धृतराष्ट्र को यह सन्देह हुआ कि ये लोग धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में एकत्रित हुए हैं; सम्भव है कि इनकी बुद्धि शुद्ध हो गयी हो और मेरे पुत्रों ने पाण्डवों को उनका राज्य देना स्वीकार कर लिया हो तो सम्भव है कि सन्धि करके दोनों पक्ष युद्ध से निवृत्त हो गये हों।

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्।।२।।

सञ्जय बोले— तब राजा दुर्योधन ने व्यूह के आकार में सुव्यवस्थित पाण्डव सेना को देखकर द्रोण के पास जाकर ये वचन कहे।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता।।३।।

हे आचार्य! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार स्थापित पाण्डवों की इस विशाल सेना को आप देखिये।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥४॥

इस सेना में भीम और अर्जुन के समान बड़े धनुर्धारी सात्यकि, विराट और महारथी द्रुपद-जैसे शूरवीर हैं।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥६॥

बलवान् धृष्टकेतु, चेकितान और काशिराज तथा नरश्रेष्ठ पुरुजित् कुन्तिभोज और शैब्य, पराक्रमशाली युधामन्यु, वीर्यवान् उत्तमौजा, सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु तथा द्रौपदी के पाँच पुत्र-ये सभी महारथी हैं।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते॥७॥

विप्रवर! हमारे पक्ष में जो विशिष्ट वीर हैं उन्हें भी आप जान लीजिये। मेरी सेना के जो अधिपति हैं उन्हें आपके परिज्ञान के लिये मैं बताता हूँ।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तिस्तथैव च॥८॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥९॥

आप और भीष्म तथा कर्ण और रणविजयी कृपाचार्य एवं अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा यथा और भी अनेकों वीर मेरे लिये प्राण निछावर करने के लिये तत्पर हैं। ये नाना प्रकार के शस्त्रों से सन्नद्ध हैं और सभी युद्ध करने में कुशल हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्।।१०।।
अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि।।११।।

भीष्मपितामह से रक्षित जो हमारी सेना है वह अपरिमित है और इन पाण्डवों की भीम से संरक्षित सेना परिमित (सीमित) है। [हमारी विजय बहुत कुछ भीष्म के अधीन है] इसलिये अपनी-अपनी नियुक्ति के अनुसार अपने-अपने मोर्चों पर रहकर आप सभी लोग भीष्मपितामह की ही रक्षा करें।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंख दध्मौ प्रतापवान्।।१२।।

प्रतापी कुरुवृद्ध पितामह ने दुर्योधन को प्रसन्न करते हुए उच्च स्वर में सिंहनाद करके शंख बजाया।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।।१३।।

इसके पश्चात् शंख, भेरी, मृदंग, नगाड़े, ढोल और रणसिंगे आदि सभी बाजे एक साथ बजाये जाने लगे। यह उनका बड़ा भारी शब्द हुआ।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः।।१४।।

तब सफेद घोड़ों से युक्त विशाल रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी अपने दिव्य शंख बजाये।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः।।१५।।
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ।।१६।।

भगवान् श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य, अर्जुन ने देवदत्त, भीमकर्मा भीमसेन ने पौण्ड्र नाम का विशाल शंख, कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर ने अनन्तविजय तथा नकुल-सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक नाम के शंख बजाये।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।।१७।।
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथ्वीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक्।।१८।।

महान् धनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अपराजित सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदी के सभी पुत्र और महाबाहु अभिमन्यु- इन सभी ने अलग-अलग अपने शंख बजाये।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्।।१९।।

उन शंखों के घोर शब्द ने आकाश और पृथ्वी को गुञ्जायमान करते हुए धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदय विदीर्ण कर दिये।

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।।२०।।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

राजन्! तब धृतराष्ट्र के पुत्रों को व्यवस्थित देखकर शस्त्र-प्रहार को समीप जान पाण्डुपुत्र अर्जुन ने धनुष उठाकर भगवान् कृष्ण से यह बात कही।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।।२१।।
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे।।२२।।

अर्जुन ने कहा— अच्युत! मेरा रथ दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा कीजिये। जिससे कि युद्ध की इच्छा से स्थित हुए इन लोगों को मैं देख लूँ कि इस युद्ध क्षेत्र में मुझे किसके साथ युद्ध करना है।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः।।२३।।

जो युद्ध की इच्छावाले यहाँ दुर्बद्धि दुर्योधन का प्रिय करने के लिये एकत्रित हुए हैं उन्हें मैं देखूँगा।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।।२४।।
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति।।२५।।

संजय बोला— जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण से ऐसा कहा तब दोनों सेनाओं के मध्य में भीष्म-द्रोण आदि समस्त राजाओं के सम्मुख उस उत्तम रथ को खड़ा करके श्रीकृष्ण ने कहा कि पार्थ! यहाँ एकत्रित हुए इन कौरवों को देखो।

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।।२६।।
श्वसुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

तब अर्जुन ने वहाँ अपने पिता के भाइयों, दादाओं, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, मित्रों, ससुरों और सुहृदों को दोनों ही सेनाओं में स्थित हुए देखा।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्।।२७।।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

युद्ध के लिये तत्पर उन सब बन्धुओं को देखकर अर्जुन का हृदय अत्यन्त करुणा से भर गया और वह बहुत विषादयुक्त होकर कहने लगा।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।।२८।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।२९।।

अर्जुन बोला— युद्ध करने की इच्छा से उपस्थित हुए इन स्वजनों को देखकर मेरा शरीर शिथिल हो रहा है, मुख सूखा जाता है तथा मेरे शरीर में कम्प और रोमाञ्च हो रहे हैं।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।।३०।।

हाथ से गाण्डीव छूटा जा रहा है, त्वचा में दाह होता है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है, मैं यहाँ ठहर नहीं सकता।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।।३१।।

हे केशव! मैं विपरीत (अनर्थसूचक) लक्षण भी देख रहा हूँ। युद्ध में इन स्वजनों को मारकर मुझे कोई भलाई भी नहीं दिखायी देती।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।।३२।।

श्रीकृष्ण! मैं विजय नहीं चाहता तथा मुझे राज्य और सुखों की भी इच्छा नहीं है। गोविन्द! हमें राज्य से, भोग से और जीवन से भी क्या प्रयोजन है।

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाःसुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।।३३।।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाःश्वसुराःपौत्राःश्यालाःसम्बन्धिनस्तथा।।३४।।

जिनके लिये हम राज्य भोग और सुखों की इच्छा रखते थे ये आचार्य, चाचा-ताऊ, पुत्र, पितामह, मामा, ससुर, पोते, साले

तथा अन्यान्य सम्बन्धी प्राण और धन की आशा त्याग कर युद्धस्थल में उपस्थित हैं।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते।।३५।।

मधुसूदन! ये मुझे मारें तो भी पृथ्वी के लिये तो क्या, त्रिलोकी के राज्य के लिये भी मैं इन्हें मारना नहीं चाहता।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः।।३६।।

जनार्दन! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी। इन आततायियों को मारकर हमें पाप ही तो लगेगा।

प्रश्न– अर्जुन का यह वाक्य कि 'इन आततायियों को मारकर हमें पाप ही तो लगेगा' असंगत जान पड़ता है; क्यों कि स्मृतिकारों ने स्पष्ट कहा है–

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्योदेवाविचारयन्।।

अर्थात् गुरु हो, बालक या वृद्ध हो अथवा बहुत पढ़ा-लिखा ब्राह्मण हो, यदि आततायी* सामने आवे तो उसे बिना विचारे मार डाले।

उत्तर– यद्यपि उक्त यथार्थ है तथापि अर्जुन का यह अभिप्राय है कि आततायी वध के योग्य होने पर भी कुल का नाश करने वाला बड़ा पापी होता है। और ऐसा नियम है कि अर्थशास्त्र की अपेक्षा धर्मशास्त्र बलवान् है, इसलिये कुलनाश के भयंकर पाप से बचने के कारण आततायियों को न मारने में कोई दोष नहीं है।

---

*आततायी के लक्षण शास्त्र में इस प्रकार बताये हैं–

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहा।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः।।

अग्नि लगाने वाला, विष देने वाला, शस्त्रद्वारा आक्रमण करने वाला, धन छीनने वाला तथा पृथ्वी और स्त्री को छीनने वाला– ये छः आततायी हैं।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव।।३७।।

अतः माधव! अपने बन्धु इन धृतराष्ट्र-पुत्रों को मारना हमें उचित नहीं है। अपने कुटुम्बियों को मारकर हम कैसे सुखी हो सकते हैं।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्।।३८।।

लोभ से विमूढचित्त हुए ये लोग यद्यपि कुल के नाश से होने वाले दोष को और मित्र-द्रोह से होने वाले पाप को नहीं देखते हैं।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दना।।३९।।

तथापि हे जनार्दन! कुलनाश से होने वाले दोष को देखने वाले हम लोगों को इस पाप से बचने का विचार क्यों नहीं करना चाहिये।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।।४०।।

कुल का नाश होने पर कुल के सनातन (परम्परागत) धर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्म का नाश होने पर सम्पूर्ण कुल को अधर्म दबा लेता है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः।।४१।।

हे श्रीकृष्ण! अधर्म से दब जाने पर कुल की स्त्रियाँ दूपित हो जाती हैं। और हे वृष्णिनन्दन! स्त्रियों के दूषित होने पर वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होती है।

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।।४२।।

उन कुल का नाश करने वालों और कुल के लिये वर्णसंकर सन्तान नरक का ही कारण बनती है, क्योंकि पिण्डोदक कर्म के लुप्त हो जाने से उनके पितर पतित हो जाते हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥४३॥

उन वर्णसंकरकारक कुलघातियों के इन दोषों से सनातन कुलधर्म और जातिधर्म उच्छिन्न हो जाते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥४४॥

हे जनार्दन! जिनके कुलधर्म उच्छिन्न हो जाते हैं उन मनुष्यों का अनिश्चित समय तक नरक में वास होता है— ऐसा हम सुनते आये हैं।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥४५॥

अहो! बड़े खेद की बात है कि हम राज्य और सुख के लोभ से अपने कुटुम्बियों को मारने के लिये तैयार हो गये हैं। यह हमने बड़ा भारी पाप करने का विचार कर लिया है।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥४६॥

यदि किसी प्रकार का प्रतिकार न करने वाले मुझको धृतराष्ट्र के शस्त्रधारी पुत्र संग्रामभूमि में मार भी डालें तो वह मेरे लिये अधिक कल्याणकारी होगा।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥४७॥

सञ्जय ने कहा—शोकाकुल चित्तवाला अर्जुन युद्धस्थल में ऐसा कह कर अपने बाण सहित धनुष को त्यागकर रथ के पिछले भाग में बैठ गया।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः॥१॥



ॐ

श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः

अथ द्वितीयोऽध्यायः

संगति— गीता में कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों ही विषय हैं। जिस अध्याय में जिस विषय की प्रधानता है उसी के साथ 'योग' शब्द जोड़कर उसको नाम दिया गया है। गीता है योगियों का ग्रन्थ, क्योंकि प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में 'योगशास्त्रे' पद आया है। पहले 'योगशास्त्र' कहकर उसके पीछे उस अध्याय के विशेष योग का निर्देश किया है। इसलिये यह ग्रन्थ योगशास्त्र और उपनिषदों का सार है। इस दूसरे अध्याय में सांख्य की प्रधानता है, इसलिए इसे सांख्ययोग कहा है।

प्रथम अध्याय तो गीता की भूमिका मात्र है। दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा होकर अर्जुन युद्ध में अपने विपक्ष में उपस्थित अपने ही गुरुजनों और स्वजनों के भविष्य में अपने ही हाथों होने वाले भीषण संहार को सोचकर शोक और मोह से अभिभूत हो जाता है। अतः युद्ध की इच्छा त्यागकर शोकाकुल हो रथ के पिछले भाग में बैठ जाता है। तब वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो भगवान् की शरण ग्रहण करता है और उनका शिष्यत्व स्वीकार करता है। तब भगवान् पहले उसे सांख्ययोग का उपदेश करते हैं।

प्रश्न— भगवान् ने गीता जैसे पारमार्थिक ग्रन्थ का अर्जुन जैसे संसारी पुरुष को क्यों उपदेश किया। शोक-मोह से ग्रसित होना तो संसारी मनुष्य का लक्षण है।

उत्तर— अर्जुन नीति, युद्धविद्या, कर्मकाण्ड और धर्मशास्त्र में निपुण होते हुए भी संसारी मनुष्य अवश्य था। इसीसे वह भगवान् के स्वरूप तथा उनकी महिमा और सर्वरूपता को न जानकर उन्हें केवल अपना मित्र समझता था। इतना होने पर भी वह अधिकारी था, क्योंकि शोक का कारण अज्ञान है, और अज्ञान की निवृत्ति

तत्त्वज्ञान से होती है। इस तत्त्वज्ञान या ब्रह्मविद्या के अधिकारी दो ही होते हैं—शिष्य और ज्येष्ठ पुत्र। इसके सिवा अत्यन्त आर्त्त होने के कारण भी वह इस गूढ़ रहस्य का अधिकारी था, जैसाकि श्रीतुलसीदासजी ने कहा है—

गूढ़ हुँ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं।।

संगति—अब संजय इस उपदेश की अवतारणा करते हुए धृतराष्ट्र से कहते हैं—

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।।१।।

भावार्थ— इस प्रकार दीनता से परिपूर्ण तथा आँसुओं से भरे हुए व्याकुल नेत्रोंवाले विषादग्रस्त अर्जुन से भगवान् मधुसूदन ने कहा—

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।।२।।

भावार्थ— हे अर्जुन! इस विषम परिस्थिति में तुझे यह मोह (अज्ञान) कहाँ से प्राप्त हो गया। यह मोह तो भद्र पुरुषों के योग्य नहीं है, न यह स्वर्ग देने वाला है और अपकीर्ति कराने वाला भी है।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।।३।।

भावार्थ— पृथापुत्र अर्जुन! तू कायरता को प्राप्त न हो। तेरे लिये यह उचित नहीं है। हे शत्रुसूदन! हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता को त्यागकर युद्ध के लिये खड़ा हो जा।

संगति—आगे के तीन श्लोकों में अर्जुन अपनी मनोदशा बतलाता है—

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥४॥

भावार्थ— अर्जुन ने कहा— मधुसूदन! इस संग्राम भूमि में मैं भीष्म और द्रोण के साथ बाणों से किस प्रकार युद्ध करूँगा, क्योंकि शत्रुदमन! वे तो पूजा के योग्य हैं।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्॥५॥

भावार्थ— अपने महानुभाव गुरुजनों का वध न करके इस लोक में भिक्षान्न से निर्वाह करना अच्छा है। इन अर्थकामी गुरुजनों का संहार करके तो मैं इस लोक में रुधिर से सने हुए भोगों को ही भोगूँगा।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम–
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥६॥

भावार्थ— हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये कौन–सी बात बड़ी है— हम उन्हें जीतें या वे हमें जीतें। जिन्हें मारकर हम जीना भी नहीं चाहते वे धृतराष्ट्र के पुत्र ही हमारे सामने खड़े हैं।

संगति— अगले श्लोक में अर्जुन भगवान् का शिष्य होना स्वीकार करता है और उनकी शरण ग्रहण करता है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥७॥

भावार्थ— कायरतारूपी दोष से मेरा [अधर्म-विरोधी] स्वभाव नष्ट हो गया है। अतः धर्म के विषय में विमूढ़चित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो मेरे लिये निश्चित कल्याणकारक हो वही मुझे बताइये। मैं आपका शिष्य हूँ, मुझ शरणागत को आप उपदेश दीजिये।

प्रश्न— अर्जुन तो भगवान् को अपना मित्र मानता था, फिर शिष्य बनना क्यों स्वीकार किया?

उत्तर— धन का अधिकारी ज्येष्ठ पुत्र होता है और ज्ञान का अधिकारी शिष्य होता है। अतः यह सोचकर कि मित्र भाव से सम्भव है, भगवान् ज्ञान का उपदेश न करें, अर्जुन ने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। ज्ञान का उपदेश गुरुदेव वैराग्यवान् शिष्य को ही करते हैं, इसलिए अपना वैराग्य प्रकट करते हुए वह कहता है—

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥८॥

भावार्थ—क्योंकि इस सारी पृथ्वी का शत्रुहीन और धन-धान्यपूर्ण राज्य और देवताओं का आधिपत्य पाकर भी मुझे वह उपाय दिखायी नहीं देता है जो कि मेरे इन्द्रियों को सुखाने वाले इस शोक को दूर कर सके।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥९॥

भावार्थ— सञ्जय बोला— निद्रा को जीतने वाला शत्रुदमन अर्जुन भगवान् हृषीकेश से ऐसा कहकर और फिर स्पष्टतया 'मैं नहीं लडूँगा' ये वचन बोलकर चुप हो गया।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥१०॥

भावार्थ— भरतवंशी धृतराष्ट्र! तब अन्तर्यामी भगवान् ने दोनों सेनाओं के बीच में विषाद करते हुए उस अर्जुन से मानो हँसते हुए ये वचन कहे।

प्रश्न— अर्जुन तो शोकाकुल था, ऐसे समय भगवान् को हँसी क्यों आयी?

उत्तर— सातवें श्लोक में अर्जुन ने कहा है कि मैं आपका शिष्य हूँ और फिर नवें श्लोक में कहता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा। शिष्य को किसी प्रकार का हठ नहीं करना चाहिए। गुरु की आज्ञा का पालन करना ही उसका कर्त्तव्य है। किन्तु अर्जुन शिष्यत्व स्वीकार करके भी हठ कर रहा है। इसी से उन्हें हँसी आ गयी। हँसी का दूसरा कारण भगवान् अगले श्लोक में बता रहे हैं कि तू बातें तो पण्डितों की-सी करता है और जिनके लिए शोक नहीं करना चाहिए उनके लिए शोक करता है। शोक तो बिना मोह के होता नहीं और मोह का मूल राग है। जिन्हें जीवितों से राग नहीं होता है उन्हें उनके मरने पर शोक भी नहीं होता और वे ही तत्त्वज्ञान के अधिकारी होते हैं।

अब भगवान् अपना उपदेश आरम्भ करते हैं—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिता:॥११॥

भावार्थ— तू जिनका शोक नहीं करना चाहिए उनके लिए शोक करता है और पण्डित के से वचन बोलता है। किन्तु पण्डितजन मृत या जीवित किसी के लिए शोक नहीं करते।

व्याख्या— यहाँ वाच्यार्थ (शरीर-दृष्टि) से भी शोक करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि शरीर तो नाशवान् है ही, नष्ट होगा ही। और लक्ष्यार्थ (आत्म-दृष्टि) से भी शोक करना नहीं बनता, क्योंकि आत्मा का कभी न नाश नहीं होता। इसलिए मरे हुए के लिए अज्ञानी लोग शोक करते हैं और जीवितों के लिए शास्त्रज्ञ या भौतिकवादी विद्वान् ऐसा सोचकर शोकाकुल होते हैं कि मेरा लड़का मूर्ख रह गया, योग्य नहीं बना कुपात्र है। परन्तु जो मरे और जीवित दोनों के लिए

शोक नहीं करते वे ही वास्तव में पण्डित या बोधवान् हैं। इसलिए समझदारों को किसी भी अवस्था में शोक नहीं करना चाहिए। भला स्वप्न-सृष्टि के न रहने पर क्या शोक किया जाय। और फिर ये तो आततायी हैं।

प्रश्न— क्या स्वजनों और गुरुजनों का संहार भी अशोच्य है?

उत्तर— व्यतिरेक-दृष्टि से संसार की कोई सत्ता नहीं है, इसलिए भीष्मादि की भी वास्तव में सत्ता नहीं है। तथा अन्वय-दृष्टि से सब सच्चिदानन्द ही है, नित्य ही है। अनित्य तो वह होता है जो पैदा होता है। परमार्थदृष्टि से भीष्मादि कभी उत्पन्न ही नहीं हुए, इसलिये नित्य सच्चिदानन्दस्वरूप ही हैं। अत: इनके लिये शोक करना किसी प्रकार नहीं बनता।

अब यही बात अगले श्लोक में बताते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।।१२।।

भावार्थ— मैं कभी नहीं था— ऐसा नहीं है [अर्थात् मैं सदा से हूँ] तथा तू और ये सब राजा लोग भी पहले न हों— ऐसा नहीं है। [अर्थात् हम सर्वदा रहेंगे, हम सभी अनादि-अनन्त सच्चिदानन्दस्वरूप हैं।]

व्याख्या— परमार्थदृष्टि से ऐसा समझना चाहिये कि यह सृष्टि स्वप्नवत् है। इसका अपना अस्तित्व नहीं है। स्वप्न-द्रष्टा की सत्ता से ही स्वप्न सत्यवत् भासता है। जिस प्रकार स्वप्न का आविर्भाव-तिरोभाव होता है उसी प्रकार व्यवहार-दृष्टि से सृष्टि का भी आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। परिवर्तन अनात्मा में ही होता है, आत्मा में नहीं।*

---

*इस समय 'स्वप्न' शब्द को लेकर आपके साथ जो चर्चा हुई उसका सार प्रश्नोत्तर रूप से यहाँ दिया जाता है—

प्रश्न— संसार को स्वप्न क्यों कहा जाता है?

उत्तर— योगवासिष्ठ में श्रीवसिष्ठजी कहते हैं— शेष पृष्ठ १६ पर.......

प्रश्न— 'हम सब रहेंगे' ऐसा कहकर भगवान् ने बहुवचन का प्रयोग किया है। इससे तो द्वैत सिद्ध होता है।

उत्तर— यहाँ देहदृष्टि से बहुवचन का प्रयोग किया गया है। जैसे तरंग-दृष्टि से नानात्व रहता है और जलदृष्टि से एकत्व।

दीर्घस्वप्नमिमं विद्धि दीर्घं वा चित्तविभ्रमम्।
दीर्घं वापि मनोराज्यं संसारं रघुनन्दन॥

'रामजी! इस संसार को तुम दीर्घ स्वप्न, दीर्घ चित्तविभ्रम अथवा दीर्घ मनोराज्य समझो।' वास्तव में जो कुछ दिखायी-सुनायी देता है वह प्रतीतिमात्र ही है। उसकी अपनी सत्ता नहीं है। इस दृष्टि से स्वप्न सात प्रकार का माना गया है—

दृष्टं श्रुतमनुमितं प्रार्थितं कल्पितं तथा।
भावितं दोषजं चैव स्वप्नं सप्तविधं स्मृतम्॥

अर्थात् देखा हुआ, सुना हुआ, अनुमान किया हुआ, चाहा हुआ, कल्पना किया हुआ, भावना किया हुआ और वात-पित्तादि के दोष से प्रतीत होने वाला—यह सात प्रकार का स्वप्न होता है।

इस प्रकार सम्पूर्ण दृश्यवर्ग स्वप्न ही है। परन्तु प्रतीति के समय हम इसे सत्य या जाग्रत् समझते हैं और प्रतीति न होने पर इसकी स्मृति रहती है तो इसे स्वप्न मान लेते हैं। स्वप्न में जाग्रत् नहीं रहता और जाग्रत में स्वप्न नहीं रहता। अतः वस्तुतः दोनों कल्पित ही हैं। किसे स्वप्न कहें, किसे जाग्रत्। जो इन दोनों का साक्षी है वह स्वप्नद्रष्टा है। वह चेतन और नित्य है। वह कभी किसी का दृश्य नहीं होता।

प्रश्न— स्वप्नद्रष्टा और स्वप्नपुरुष में क्या अन्तर है?

उत्तर— जो स्वप्न को देखता है वह स्वप्न-पुरुष है। फिर जगने पर जिसे स्वप्न का स्मरण होता है वह जाग्रत्-पुरुष है। किन्तु जो सम्पूर्ण स्वप्न और जाग्रत् को प्रकाशित करता है तथा जिसमें ये दोनों अवस्थाएँ अध्यस्त हैं वह द्रष्टा है। स्वप्न का प्रकाशक होने से उसे स्वप्नद्रष्टा कहते हैं और जाग्रत् का प्रकाशक होने से जाग्रत्-द्रष्टा। वास्तव में द्रष्टा एक ही है। अवस्था-भेद भी कल्पित ही है। प्रतीति के समय दोनों अवस्थाएँ सत्य जान पड़ती हैं और प्रतीति न रहने पर जब स्मृति होती है तो उसी को स्वप्न कहते हैं। स्वप्न को बनाने-बिगाड़ने वाला भी स्वप्न ही है। वास्तव में स्वप्न न बनता है न बिगड़ता है, केवल उसकी प्रतीति होती है।

अगले श्लोक में इसी बात की पुष्टि करते हुए देह और देही का विवेक करते हैं–

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।१३।।

भावार्थ– जैसे जीवात्मा के इस शरीर में कुमार, युवा और वृद्धावस्था होती हैं वैसे ही उसे देहान्तर की प्राप्ति होती है। [अर्थात् जन्म-मरण भी एक चौथी अवस्था ही है।] इससे धीर (विवेक) पुरुष मोह में नहीं पड़ते।

व्याख्या– जिस प्रकार मरुभूमि का बोध होने पर भी वहाँ जल की प्रतीति तो बनी रहती है, परन्तु उनमें जल-बुद्धि नहीं होती उसी प्रकार व्यवहार में संसार सत्य दिखायी देने पर भी, ज्ञान होने जाने पर उनमें सत्यत्व-बुद्धि नहीं होती। परमार्थतः तो सब सच्चिदानन्द ही हैं, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार घट-शराव आदि मिट्टी से भिन्न कुछ नहीं होते। अतः चारों अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, किन्तु आत्मा नहीं बदलता। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा अविनाशी है।

प्रश्न– यहाँ 'घोर' शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर– इन्द्रिय-निग्रहवान्, निष्काम कर्मयोगी, भगवद्नुरागी, विवेकी, ब्रह्मवेत्ता और आत्मानुरागी– ये सब धीर ही हैं। परन्तु यहाँ 'धीर' शब्द से नित्यानित्य-विवेक समझना चाहिये। यह सांख्य (कापिल-सांख्य) का प्रसङ्ग है और सांख्य में विवेकी से ही पूर्णता मानी हैं। अथवा इसे बोधवान् भी कह सकते हैं, क्योंकि बोधवान् की दृष्टि में तो वर्तमान शरीर भी नहीं है, यह केवल अज्ञान से ही भासता है और ज्ञान होने पर अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, अतः उसके लिये देहान्तरादि की प्राप्ति सर्वथा है ही नहीं।

अब अगले श्लोक में यह कह रहे हैं कि दुःख-निवृत्ति के लिए अभ्यास अवश्य करना चाहिये–

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदु:खदा:।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥१४॥

भावार्थ— हे कुन्तिपुत्र! इन्द्रियों से अनुभव होने वाले शब्दादि विषय शीत-उष्ण आदि के समान सुख-दु:ख देने वाले हैं। वे आने-जाने वाले और अनित्य हैं। इसलिये भारत! तुम उन्हें सहन करो।

व्याख्या— भगवान् ने यहाँ अर्जुन को 'कौन्तेय' कहकर सम्बोधित किया हैं। इसमें रहस्य यह है कि कुन्ति भक्त है और तू उनका पुत्र है, अत: तू भी भक्त होना चाहिये। इसलिये तू इस रहस्य को समझ सकेगा। इस प्रकार वे अर्जुन को आश्वासन देते हैं कि भक्त होने के कारण तू श्रद्धासम्पन्न है, तेरा अन्त:करण शुद्ध है, अत: तू इस रहस्य को समझ सकेगा। तू कृतोपास्ति है, इससे यह भी सूचित होता है कि बिना उपासना किये ज्ञान नहीं होता।

अब कहते हैं कि जिस प्रकार कानों से प्रिय शब्द सुनने से सुख-शांति मिलते हैं और अप्रिय शब्द सुनने से दु:ख एवं अशांति होती हैं उसी प्रकार स्पर्शादि भी अनुकूल होने पर सुखद और प्रतिकूल होने पर दु:खद माने जाते हैं। वास्तव में विषय सुख या दु:ख रूप नहीं हैं, इन्द्रियों के अनुकूल होने पर वे सुखद माने जाते हैं और प्रतिकूल होने पर दु:खद। जैसे कोई व्यक्ति अंग्रेजी भाषा में गाली दे तो अंग्रेजी न जानने वाले को उससे कोई क्षोभ नहीं होगा, किन्तु जो अंग्रेजी जानता है उसे प्रतिकूल प्रतीत होने के कारण वह दु:खद जान पड़ेगी। इसी प्रकार प्रत्येक विषय को समझना चाहिये।

प्रश्न— इस श्लोक में 'शीतोष्ण' कहने से ही काम चल सकता था, फिर 'सुख-दु:खदा:' और क्यों कहा?

उत्तर— शीत-उष्ण का सम्बन्ध देश या काल से है और सुख-दु:ख अनुकूलता-प्रतिकूलता के कारण होते हैं। जो शीत या उष्ण एक देश या एक काल में अनुकूल जान पड़ते हैं वे ही दूसरे देश या काल में प्रतिकूल हो जाते हैं। अत: इन्हें स्वयं सुख-दु:खरूप नहीं कह सकते।

प्रश्न— शब्दादि पाँच विषय और सुख-दुःख—ये सात पदार्थ अज्ञान के कार्य हैं। ज्ञान होने पर अज्ञान का नाश हो जाता है, अतः इसका भी नाश हो जाना चाहिये।

उत्तर— ज्ञान के द्वारा किसी भी वस्तु का नाश नहीं होता, अपितु बाध (मिथ्यातत्व-निश्चय) होता है। क्योंकि जिस वस्तु का नाश होता है उनका प्रध्वंसाभाव रहता है, परन्तु बाध होने पर उसका अत्यन्तभाव (त्रैकालिक असद्भाव) हो जाता है। उसकी तो तीनों कालों में सत्ता नहीं रहती। जब सत्ता ही नहीं तो नाश किसका होगा। अतः इन शब्दादि विषयों की केवल प्रतीति रहती है। नाश तो उसी का होता है जिसकी पहले सत्ता हो। परमार्थतः किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं है, क्योंकि आकाश में भासने वाली ये सब वस्तुएँ आकाशरूप ही हैं। जैसे आकाश की नीलिमा की अपनी कोई सत्ता नहीं होती, केवल प्रतीति ही होती है। अतः तत्त्वज्ञान से शब्दादि विषयों का बाध ही होता है, नाश नहीं होता। इसीलिए भगवान कहते हैं कि हे भारत! तू उन्हें सहन कर अर्थात् इन सबको तटस्थ होकर देखता रह, इनमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप न कर। इसी का नाम तितक्षा है। जब तक शरीर रहेगा बोधवान् को भी शब्दादि विषयों की प्रतीति भी होगी ही, क्योंकि 'प्रारब्ध- नाशात्प्रतिभासनाशः' इस नियम के अनुसार प्रारब्ध न रहने पर ही प्रतीति की निवृत्ति होगी। शरीर और इन्द्रियों के रहने पर ही प्रतीति की निवृत्ति होगी। शरीर और इन्द्रियों के रहने पर तो शरीर के सुख-दुःख और इन्द्रियों के विषय भी रहेंगे ही। किन्तु इनसे वह विचलित नहीं होता। उसमें कर्त्तव्य नहीं होता, इसलिए उसे पाप या पुण्य भी नहीं होते। यदि ऐसा न हो तो ज्ञान का महत्त्व ही क्या हुआ। अतः सिद्ध हुआ कि बोधवान् से कर्म तो होते हैं, किन्तु उनसे वह लिप्त नहीं होता, इसलिये वह चिन्ता-विलाप से रहित होता है।

प्रश्न— क्या केवल ज्ञान से सुख-दुःख निवृत्त नहीं होते?

उत्तर— ज्ञान से तो केवल अज्ञान की निवृत्ति होती है, सुख-दु:ख की नहीं। दु:ख तो आसक्ति टूटने पर दूर होता है और आसक्ति, आसक्ति से ही दूर होती है। जिस आत्मवस्तु का ज्ञान हुआ है उसमें आसक्ति हुए बिना संसार की आसक्ति नहीं छूटती। इसलिए आत्म-ज्ञान हो जाने पर भी आत्मरति प्राप्त करनी चाहिये।

प्रश्न— प्रेम और मोह में क्या अन्तर है?

उत्तर— संसार (स्त्री-पुत्रादि) में आसक्ति होना मोह है तथा गुरु, भगवान् या भगवद्-भक्तों में आसक्ति होना प्रेम है।

प्रश्न—यदि ज्ञान होने पर शब्दादि विषय और सुख-दु:ख निवृत्त नहीं होते तो जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति का सुख कैसे प्राप्त होगा।

उत्तर— अरे! जीवन्मुक्ति-विदेहमुक्ति भी मूर्खता ही हैं, क्योंकि ये भी जीव-भाव को स्वीकार करने पर ही होती हैं। इसलिये व्यावहारिक हैं। जीवन्मुक्त भी जीव है और विदेहमुक्त भी जीव ही है। ये शरीर या व्यक्तित्व की दृष्टि से ही तो कहे जाते हैं। ये अनेक द्रष्टा मानने पर ही हो सकते हैं, और अनेक द्रष्टा मानना बन्धन ही है। अष्टावक्रजी ने भी कहा है—

एको द्रष्टासि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।
अयमेव हि ते बन्धो द्रष्टारं पश्यसीतरम्।।

इसलिये एक सर्वसाक्षी अखण्ड चेतन में इनका होना सम्भव नहीं हैं।

संगति— इस श्लोक में साधन बताया गया, अब अगले श्लोक में इसका फल बतलाते हैं। यहाँ सहनशील की सराहना की गयी है। उपर्युक्त ११ वें से १५ वें श्लोक तक अनेकजीववाद की दृष्टि से कहा गया है तथा १६ वाँ श्लोक एकजीववाद का है—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदु:खसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।१५।।

भावार्थ– हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! सुख–दुःख को समान समझने वाले जिस पुरुष को ये शब्दादि विषय व्याकुल नहीं करते, वह मोक्ष प्राप्ति के लिये योग्य होता है।

उत्तर– जैसे नदी में पड़ी हुई शिला के ऊपर होकर नौका, फेन–बुद्‌बुद और तरंगादि निकल जाते हैं और वह ज्यों की त्यों रहती है, इसी प्रकार सुख–दुःख को समान समझने वाले धीर पुरुष को ये शब्दादि विषय व्यथित नहीं कर पाते। इनसे उसके चित्त में अनुकूलता से सुख या प्रतिकूलता से दुःख रूप क्षोभ नहीं होता। ऐसा आत्मनिष्ठ तथा द्वन्द्वसहिष्णु महान् पुरुष अमृतत्व या मुक्ति के लिये योग्य होता है। इसका प्रमाण अध्याय ५ श्लोक १९ में भी मिलता है कि 'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः, अर्थात् जिसके मन की समता में स्थिति है उसने इस जीवन में ही संसार को जीत लिया।

'धीर' शब्द से यहाँ बुद्धि का प्रेरक समझना चाहिए। बुद्धि के प्रेरक दो ही होते हैं– ईश्वर और तत्त्ववेत्ता। साधारण धीर तो इन्द्रियनिग्रहवान् को भी कह सकते हैं। किन्तु वे सुख–दुःख में समान नहीं रह सकते। इन्द्रियनिग्रहवान् को संयम बिगड़ने पर दुःख होता है। भक्त भी और सब दुःख तो सहन कर लेता है, परन्तु भगवान् के वियोग का दुःख सहन करना कठिन होता है।

इस श्लोक से यह सिद्ध होता है कि ज्ञानी को शीतोष्णादि की प्रतीति तो होती है, परन्तु वह उन्हें सत्ताशून्य देखता है। अर्थात् बोध होने पर ये अध्यस्त या स्वस्वरूप होकर रहते हैं। जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है वह उसी का स्वरूप होती है। यह संसार परमात्मा से उत्पन्न हुआ है, परमात्मा ही संसाररूप से प्रतीत हो रहा है, अतः यह परमात्मस्वरूप ही है। इसी की पुष्टि अगले श्लोक में करते हैं। यहाँ सांख्य दर्शन की समाप्ति है। अगला श्लोक 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि सिद्ध करने के लिये कहते हैं। पन्द्रहवें श्लोक तक सत्–असत् का विवेक करने पर यह शंका होती है कि सत् से अतिरिक्त जो कुछ प्रतीत होता है वह क्या है? इस पर कहते हैं–

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥१६॥

भावार्थ— असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है और सत् का कभी अभाव नहीं होता। इस प्रकार इन दोनों का ही भेद तत्त्वदर्शियों ने देखा है।

व्याख्या— भक्त और वेदान्ती दोनों यही मानते हैं संसार माया है। 'माया' उसे कहते हैं जो हो नहीं, किन्तु दिखायी दे; जैसे इन्द्रजाल। संसार प्रतीत तो होता है, परन्तु प्रत्यक्ष, अनुमान, अपमान, शब्द किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता।

प्रश्न— जो वस्तु सामने दिखायी दे रही है उसे सिद्ध करने के लिये क्या किसी प्रमाण की आवश्यकता है?

उत्तर— देखने वाले नेत्र भी तो संसार ही हैं। इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण से संसार सिद्ध नहीं हो सकता। अनुमान प्रमाण तब माना जाता है जब वस्तु सामने न हो। संसार तो सामने है, इसलिये अनुमान की इसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उपमा अन्य सदृश वस्तु की दी जाती है, जैसे मुख की उपमा चन्द्रमा से। परन्तु इस संसार के समान कोई दूसरा संसार है नहीं, इसलिये उपमान द्वारा इसकी सिद्धि नहीं हो सकती। शब्द प्रमाण भी तभी माना जाता है जब वस्तु सामने न हो, इसलिये उससे भी संसार की सिद्धि नहीं हो सकती। ऐसा भी नियम नहीं है कि जो वस्तु सामने दिखायी दे वह हो ही। मरुभूमि का जल सामने दिखायी देता है, परन्तु होता नहीं। अतः यह निश्चय हुआ कि संसार मिथ्या है और मैं (द्रष्टा) सत्य हूँ, क्योंकि मैं तीनों अवस्था और तीनों कालों का साक्षी हूँ।

प्रश्न— असत् का अत्यान्ताभाव है और सत् का कभी अभाव नहीं होता— ये दोनों ज्ञान बुद्धि को एक साथ कैसे हो सकते हैं?

उत्तर— जैसे नेत्रों से मरुभूमि के जल की तरंगों को देखते हुए भी बुद्धि से हम जल का अत्यन्ताभाव देखते हैं, इसी प्रकार देहादि

प्रपंच है नहीं, ऐसा अनुभव होते हुए भी उसके साथ आत्मा का अनुभव होता रहता है।

प्रश्न—भगवान् ने इस श्लोक के द्वारा गीता के आरम्भ में ही सिद्धान्त क्यों कह दिया?

उत्तर— आचार्यों की सर्वदा यही शैली रही है कि पहले सिद्धान्त कहकर फिर साधन बतलाते हैं, क्योंकि सिद्धान्त जाने बिना साधन में प्रवृत्ति नहीं होती। यदि किसी से कोई कार्य कराना हो और उसे पहले ही उसका लाभ बता दिया जाय तो उसका उत्साह बढ़ जाता है। इस दृष्टि से भी गुरुजन पहले सिद्धान्त बता देते हैं; जिससे शिष्य को पता लग जाय कि उसे कहाँ पहुँचना है। ऐसा होने पर वह विघ्नरूप से साधन के बीच में आने वाले चमत्कारों को ही लक्ष्य नहीं मानेगा। इसी से भगवान् ने इस श्लोक द्वारा सिद्धान्त का उल्लेख कर दिया है।

वेदान्त शास्त्र में निष्काम कर्म से अन्तःकरण की शुद्धि और उपासना से एकाग्रता मानी गयी है तथा शुद्ध और एकाग्र मन में ही ज्ञान का उदय होता है। अतः इसलिये भी सबसे पहले ज्ञान का सिद्धान्त कह दिया है कि यदि शिष्य का अन्तःकरण शुद्ध हो तो उत्तम अधिकारी होने पर इतने से ही उसे ज्ञान हो जायगा। और यदि उसमें कुछ मलिनता हो तो साधन द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होने पर उसे इस लक्ष्य की प्राप्ति होगी।

इस श्लोक में 'तु' शब्द से यह दिखलाया है कि असत् से सत् की विशेषता है। यहाँ अनित्य को 'असत्' इस रूप में कहा है जैसे घर अनित्य होने के कारण असत् और मृत्तिका सत् है। असत् अर्थात् जिसका अत्यन्ताभाव है, जो तीनों कालों में कभी नहीं हुआ। भगवान् ने भिन्न-भिन्न श्लोकों में आत्मा का प्रतिपादन तीन प्रकार से किया है—

(१) इस श्लोक में व्यतिरेक-दृष्टि से बतलाया है कि केवल एक परमात्मा ही है, और कुछ कभी हुआ ही नहीं।

(२) अध्याय ९ के श्लोक १९ में अन्वय-दृष्टि से कहा है कि सत्-असत् मैं ही हूँ—'सदसच्चाहमर्जुन।'

(३) अध्याय १३ के श्लोक १२ में साक्षी रूप से आत्मा का निरूपण किया है कि वह सबका साक्षी है, सत् और असत् दोनों से विलक्षण है— 'न सत्तन्नासदुच्यते।'

संगति— अब यह बतलाकर कि सत् सदा रहता है, उसका कभी अभाव नहीं होता, अगले ५ श्लोकों में उसके स्वरूप का वर्णन करते हैं—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥१७॥

भावार्थ—जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है उसे तू अविनाशी जान। उस अविनाशी का नाश करने में कोई समर्थ नहीं है।

व्याख्या—

प्रश्न—वह अविनाशी संसार में किस प्रकार व्याप्त है?

उत्तर— व्याप्त दो प्रकार का होता है— संयोग-व्याप्त और स्वरूप-व्याप्त। आत्मा स्वरूपतः व्याप्त है। वह इस प्रकार व्याप्त नहीं है जैसे दूध में मीठा। दूध में मीठा संयोग-व्याप्त होता है। दूध और मीठा दो पदार्थ हैं। आत्मा तो संसार में इस प्रकार व्याप्त है जैसे चीनी के खिलौनों में चीनी अथवा घट में मृत्तिका। यहाँ वास्तव में 'घट' नाम का कोई पदार्थ है ही नहीं, केवल मृत्तिका ही मृत्तिका है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत्-प्रपञ्चरूप से आत्मा ही विस्तृत हुआ है, वही इस रूप में भास रहा है इसी से कहा है कि आत्मा का नाश करने में कोई समर्थ नहीं है।

प्रश्न— आत्मा का नाश करने में कोई क्यों समर्थ नहीं है?

उत्तर— आत्मा से भिन्न जब कोई दूसरी सत्ता है ही नहीं तो उसका नाश कौन करेगा। प्रलयकाल में यद्यपि ईश्वर सबका नाश कर देता है, तथापि आत्मा का नाश वह भी नहीं कर सकता, क्योंकि आत्मा तो उसका भी स्वरूप ही है। इसके सिवा अक्रिय और निरवयव होने के कारण भी उसका नाश नहीं हो सकता। इसीलिये यहाँ 'कश्चित्'

(कोई) शब्द का प्रयोग हुआ है। अर्थात् कश्चित् (ईश्रोऽपि) ईश्वर भी उसका नाश नहीं कर सकता।

यहाँ 'येन सर्वमिदं ततम्' अर्थात् 'जिससे यह सब व्याप्त है'—ऐसा कहने से आत्मा और प्रपञ्च दोनों की सत्ता जान पड़ती है। परन्तु यह व्याप्य-व्यापकता केवल जिज्ञासु को समझाने के लिये है। यदि कहें कि आत्मा जगत् में इस प्रकार व्याप्त है जैसे घट में मृत्तिका, वस्त्र में सूत अथवा बर्फ में जल, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ये सब सावयव पदार्थ हैं और आत्मा निरवयव है। जिसकी दृष्टि में प्रपञ्च का अत्यन्ताभाव है उसके लिये व्याप्य-व्यापकता भी नहीं है। उसकी दृष्टि में तो एकमात्र आत्मा ही है।

संगति— आत्मा को इसलिए भी अविनाशी कहा है, क्योंकि वह नित्य है, शरीरी है, अप्रमेय (प्रमाणों का अविषय) है और निष्क्रिय है। यह बात अगले श्लोक में कहते हैं—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥१८॥

भावार्थ— इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप देही आत्मा के ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं, इसलिये हे भरत-वंशी अर्जुन! तू युद्ध कर।

व्याख्या—प्रश्न— यदि संसार तीनों कालों में नहीं हुआ तो भगवान् युद्ध करने के लिये क्यों कहते हैं? इससे तो संसार की सत्यता सिद्ध होती है, क्योंकि युद्ध तो तभी हो सकता है जब संसार में सत्यत्व-बुद्धि हो।

उत्तर— यदि कोई पुरुष किसी से कोई वस्तु माँगे और उसके पास वह हो नहीं तो उसे विश्वास दिलाने के लिये वह कह देता है कि मेरे पास तो वह वस्तु है नहीं, तुम्हें दिखायी दे तो ले जाओ। इसी प्रकार भगवान् कहते हैं। कि ये देहादि पदार्थ तीनों कालों में नहीं हैं—ऐसा अनुभव करो यदि दिखायी देते हैं तो युद्ध करो।

प्रश्न— जब आत्मा को 'नित्य' कह दिया तो 'अविनाशी' कहने की क्या आवश्यकता रह गयी?

उत्तर— नित्य तो माया भी है, परन्तु वह अविनाशी नहीं है, बोध होने पर उसका नाश हो जाता है। किन्तु आत्मा नित्य भी है और अविनाशी भी है।

प्रश्न— आत्मा को 'अप्रमेय' क्यों कहा? उसकी सिद्धि में तो शास्त्र प्रमाण है—'शास्त्रयोनित्वात्'। (ब्र० सू०१/१/३)

उत्तर— शास्त्र तो केवल अध्यास की निवृत्ति करता है। वह केवल यह बतलाता है कि तू शरीर नहीं है। वह आत्मा को दिखा नहीं सकता। इस श्लोक में 'शरीरणः' और उसके सब विशेषण षष्ठी-एकवचनान्त हैं। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा एक है तथा 'देहाः' बहुवचन है, क्योंकि शरीर अनेक हैं। वे सब शरीर एक ही आत्मा के हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व आत्मा का शरीर है और आत्मा– उसका द्रष्टा है। ज्ञान–दृष्टि से तीनों शरीर अन्तवाले अर्थात् सत्ताशून्य हैं। जब तक मरुभूमि का बोध नहीं होता जल बना ही रहता है। अतः जब तक अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती तब तक जन्म–मरण या आविर्भाव-तिरोभाव बने ही रहते हैं। 'अन्तवन्तः' का भाव यही है कि ये हुए ही नहीं हैं, इनका अत्यन्ताभाव है; जिस प्रकार मरुभूमि का बोध होने पर उसमें प्रतीत होने वाला जल नहीं रहता, स्वप्न से जगने पर स्वप्न के पदार्थ दुःखदायी प्रतीत होने पर भी सत्ताशून्य जान पड़ते हैं।

अतः भगवान् कहते हैं कि यदि तुझे ऐसा अनुभव है तो युद्ध कर, क्योंकि युद्ध करना कर्त्तव्य है, धर्म है। यहाँ भगवान् का तात्पर्य युद्ध कराने में नहीं है, किन्तु यह बताने में है कि जिसका जो शास्त्रोक्त कर्त्तव्य हो उसका वह बोध होने पर भी पालन करता रहे, क्योंकि फिर तो इस मनोराज्य की सृष्टि का रहना न रहना समान ही है।

इस श्लोक में अर्जुन के लिये जो 'भारत' सम्बोधन दिया है उसका अर्थ है—भा—ज्ञान+रत= निमग्न अर्थात् जो ज्ञान-प्राप्ति में संलग्न है। अब अगले श्लोक में इसी की पुष्टि करते हैं—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।१९।।

भावार्थ— जो इस आत्मा को मारने वाला जानता है और जो इसे मारा जाने वाला जानता है, वे दोनों नहीं जानते, क्योंकि यह न मारता है और न मारा जाता है।

व्याख्या—

प्रश्न— आत्मा न मारता है न मारा जाता है—ऐसा क्यों है?

उत्तर— क्योंकि वह अकर्त्ता अभोक्ता और अविकारी है।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो-
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।२०।।

भावार्थ— यह आत्मा न कभी जन्मता है न मरता है, यह एक बार होकर फिर न रहने वाला भी नहीं है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और सबका आदि-कारण है। शरीर का नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता।

व्याख्या— यह श्लोक जीवपरक नहीं, आत्मपरक है, क्योंकि जीव अजन्मा नहीं हो सकता। यहाँ आत्मा को अस्ति, जायते, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते और विनश्यति इन छः विकारों से रहित बताया है। आत्मा निरवयव है, इसलिये अजन्मा है। 'अज' कहकर इसके जन्म का निषेध किया है, 'नित्य' कहकर अनित्यता का और 'शाश्वत' कहकर क्षय का निषेध किया है। 'पुराण' कहकर इसकी वृद्धि का निषेध किया है, क्योंकि जो उत्पन्न होता है वही बढ़ता है और वही नष्ट भी होता है। जो सबका आदि-कारण है वह उत्पन्न नहीं होता और न बढ़ता ही है।

संगति— अगले श्लोक में आत्मा को अकर्त्ता-अभोक्ता बतलाते हैं—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।२१।।

भावार्थ— हे पृथापुत्र अर्जुन! जो इस आत्मा को अकर्ता-अकारयिता बतलाया है। यहाँ लट्लकार में 'वेद' पद का प्रयोग हुआ है। जो प्रत्यक्ष अर्थ में होता है। भगवान् ने जान लिया कि अर्जुन को अभी परोक्ष ज्ञान हुआ है, इसलिये यहाँ 'वेद' शब्द का प्रयोग करके कहते हैं कि तू प्रत्यक्ष देख,आत्मा अविनाशी है। यहाँ 'कं घातयति किन्त कम्' से केवल मारने और मरवाने का ही निषेध नहीं किया, प्रत्युत यह भाव है कि वह किसी भी क्रिया को करने या कराने वाला नहीं है। 'करना' जीव का धर्म है और 'कराना' ईश्वर का स्वभाव है। ईश्वर में ऐश्वर्य है, इसलिये वह कराने वाला है और जीव में जीवत्व है, इसलिये वह करता है। बोधवान् में जीवत्व और ईश्वरत्व दोनों ही नहीं हैं,इसलिये ज्ञानी को यह अनुभव होता है कि मैं सब कुछ करता हुआ भी अकर्ता हूँ, अज्ञानी इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। अतः जो आत्मा को जानना चाहता है और जिसने उसे जान लिया है वे दोनों ही संन्यास के अधिकारी हैं।

संगति— इस श्लोक में आत्मा को अविनाशी अजन्मा और अव्यय कहा है। अब प्रश्न होता है कि जन्म-मरण किसके होते हैं और वे हैं क्या? इस पर कहते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।२२।।

भावार्थ— जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को उतारकर अन्य नये वस्त्र ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार यह जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर अन्य नवीन शरीरों को प्राप्त होजाता है।

व्याख्या— यहाँ यह भाव नहीं है कि जीवात्मा को शरीर त्याग करते ही दूसरा शरीर मिल जाता है। इससे यही आशय समझना चाहिए कि उसे शास्त्रोक्त विधान के अनुसार नये शरीर की प्राप्ति होती है। हाँ, वैकुण्ठ या स्वर्गादि लोकों को तो वह तुरन्त चला जाता है। इसीलिये संन्यासी और सिद्ध-भक्तों का अंत्येष्टि संस्कार नहीं किया जाता। उन्हें देहत्याग करने पर ही दिव्य देह प्राप्त हो जाता है। वे इस लोक के कर्म-चक्र में नहीं पड़ते।

इस श्लोक में जीवात्मा की निर्विकारता भी बतलायी है। विकार वस्त्रों में ही होता है, उन्हें पहनने वाले में नहीं।

प्रश्न— यहाँ कहा है कि जीव पुराने शरीर को त्यागकर नवीन शरीर को धारण कर लेता है, तो जो बच्चे पैदा होते ही मर जाते हैं उनमें इस श्लोक की संगति कैसे लगेगी, क्योंकि पुराना शरीर तो वृद्ध पुरुषों का होता है।

उत्तर— शरीर उत्पन्न होने के एक क्षण पश्चात् भी एक क्षण पुराना हो जाता है, अतः उसे पुराना ही समझना चाहिये।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।२३।।

भावार्थ— इस जीवात्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकता, जल गीला नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकता, (क्योंकि यह निरवयव है)।

व्याख्या— शस्त्र पृथ्वीतत्व का उपलक्षण है। अर्थात् पृथ्वीतत्त्व आत्मा का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। इसी प्रकार अग्नितत्त्व, जलतत्त्व और वायुतत्त्व भी आत्मा पर अपना कोई प्रभाव नहीं डाल सकते। ये चारों तत्त्व सावयव हैं, अतः सावयव वस्तुओं पर ही इनका प्रभाव पड़ सकता है, निरवयव आत्मा पर नहीं। आकाश सावयव नहीं है, इसलिये उससे किसी को कोई बाधा नहीं पहुँचती। अतः उससे किसी को कोई भय भी नहीं है।

प्रश्न— क्या वायु निरवयव नहीं है?

उत्तर— उसमें चलन-वलन की क्रिया है, अतः वह सावयव है।

प्रश्न— यदि आकाश और आत्मा दोनों निरवयव हैं तो उसमें सादृश्य दोष आता है।

उत्तर— नहीं, क्योंकि आत्मा निर्गुण है और आकाश शब्द गुणवाला है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।२४।।

भावार्थ— यह आत्मा अच्छेद्य है, अदाह्य है, अक्लेद्य (गीला न होने वाला) है और अशोष्य है। तथा यह नित्य, सर्वगत,स्थिर रहनेवाला, और अचल सनातन है।

व्याख्या— इस श्लोक में 'अच्छेद्य' से 'सर्वगत' तक छः विशेषण जीव के हैं तथा 'स्थाणु' और 'अचल' आत्मा के। आत्मा का पञ्चभूत कुछ नहीं बिगाड़ सकते, क्योंकि व्यतिरेक से तो उनकी सत्ता ही नहीं है और अन्वयदृष्टि से वे आत्मा ही हैं।

प्रश्न— यदि २३वें श्लोक में 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' आदि कह चुके हैं तो यहाँ 'अच्छेद्य' आदि कहने की क्या आवश्यकता थी। यह तो अनावश्यक पुनरुक्ति ही है।

उत्तर— अध्यात्म विषय-वस्तु बहुत सूक्ष्म है, इसलिये उसमें एक बात को पुनः पुनः कहनादोष नहीं है; क्योंकि यह विषय कठिनता से समझ में आता है।

प्रश्न— 'नित्य' कहकर फिर सनातन क्यों कहा?

उत्तर— नित्य तो प्रकृति भी है, परन्तु महाप्रलय में उसका नाश हो जाता है, किन्तु आत्मा तब भी रहता है। इसलिये उसे 'सनातन' कहा है।

प्रश्न— यदि जीव नित्य और सर्वगत है तथा ऐसा ही आत्मा भी है तो इन दोनों में अन्तर क्या है?

उत्तर— जीव व्यक्त (मन-बुद्धि का विषय है) और आत्मा अव्यक्त है।

प्रश्न— अव्यक्त तो ईश्वर और प्राकृति भी हैं।

उत्तर— ईश्वर और प्रकृति चिन्त्य हैं और आत्मा अचिन्त्य है।

प्रश्न— क्या जीव चिन्त्य नहीं है?

उत्तर— नहीं, क्योंकि वह ईश्वर और प्रकृति का चिन्तन करता है।

प्रश्न— 'स्थाणु' और 'अचल' इन दोनों विशेषणों का प्रयोग क्यों किया गया है?

उत्तर— अचल तो वृक्ष भी है, परन्तु अपने शाखा-पत्रादि के द्वारा वह हिलने भी लगता है, किन्तु स्थाणु (वृक्ष का ठूँठ) सर्वथा स्थिर रहता। अत: आत्मा को यहाँ स्थाणु के समान स्थिर रहने वाला कहा है।

संगति— इस श्लोक में आत्मा को स्थूल से परे बताया है, अगले श्लोक में उसे सूक्ष्म से भी परे बताते हैं—

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।।२५।।

भावार्थ— यह आत्मा अव्यक्त (इन्द्रियों का अविषय), अचिन्त्य (मन काअविषय) और विकाररहित (अपरिवर्तनशील) कहा जाता है। अतः इसे ऐसा जानकर तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।

व्याख्या— **प्रश्न**— आप कहते हैं आत्मा अव्यक्त है, अव्यक्त तो माया भी है।

उत्तर— माया अव्यक्त तो है, परन्तु अचिन्त्य नहीं है।

प्रश्न— अचिन्त्य निराकार ईश्वर भी है?

उत्तर— ईश्वर तो भक्तों के लिये प्रकट हो जाता है, इसलिए चिन्त्य है। तथा अपने से भिन्न होने के कारण भी वह चिन्त्य है। आत्मा तो अभेदस्वरूप है, अत: वह अचिन्त्य है। आत्मा सम्पूर्ण इन्द्रिय, मन और बुद्धि का अविषय है, इसलिये वह अव्यक्त एवं अचिन्त्य है।

प्रश्न— आप कहते हैं कि आत्मा मन एवं बुद्धि का विषय नहीं है तो इस श्लोक में 'विदित्वा' (जानकर) ऐसा क्यों कहा है?

उत्तर— वास्तव में तो आत्मा मन-बुद्धि का विषय नहीं है, परन्तु व्यवहार में ऐसा भी कहा जाता है वह बुद्धि द्वारा जाना जाता है। व्यवहार में आत्मा का तो ज्ञान भी होता है और चिन्तन भी।

प्रश्न— क्या अचिन्त्य का भी ज्ञान होता है?

How Atma / Self is known ?

उत्तर— जैसा व्यावहारिक वस्तुओं का ज्ञान होता है वैसा नहीं होता। वह विषयरूप से नहीं जाना जाता। आत्माकार वृत्ति होने में केवल वृत्तिव्याप्ति होती है, फल-व्याप्ति नहीं होती। अर्थात् अनात्मा का निषेध ही आत्मा का ज्ञान है और अनात्मा का चिन्तन न होना ही आत्मचिन्तन है।

प्रश्न— आत्मा को अधिकारी क्यों कहा है?

उत्तर— वस्तु के अन्यथा परिणाम को विकार कहते हैं, जैसे दूध का दही हो जाना। आत्मा अपरिवर्तनशील, क्योंकि वह निरवयव है। उसमें कोई क्रिया नहीं होती, इसलिये विकार भी नहीं होता।

संगति— यहाँ तक परमार्थ दृष्टि से शोक न करने की बात कही गयी। अब विशुद्ध व्यावहारिकी दृष्टि से भी शोक नहीं करना चाहिये— यह बात अगले श्लोक से कहते हैं—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥२६॥

भावार्थ— यदि तुम इस आत्मा को नित्य जन्मने और मरने वाला समझते हो तो भी हे महाबाहो! तुम्हें इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिये।

व्याख्या— यहाँ युद्ध के लिये आज्ञा देने का प्रसंग है। भगवान् अर्जुन का शोक दूर करके उसे युद्ध में लगाना चाहते हैं, क्योंकि यह उसका कर्त्तव्य है। इसलिये वे 'महाबाहो' कहकर सम्बोधन करते हैं। इससे वे अर्जुन को उत्साहित करते हुए कहते हैं कि तुम महाबाहु हो, इसलिए युद्ध करो, तुम्हारी विजय होगी।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥२७॥

भावार्थ— जन्म लेने वाले की मृत्यु निश्चित है और मरने वाले का जन्म निश्चित है, अत: इस विषय में, जिसकी निवृत्ति का कोई उपाय नहीं है, तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।

व्याख्या—प्रश्न— यदि जन्म और मृत्यु निश्चित हैं, तो क्या इनसे मुक्ति का प्रयत्न नहीं करना चाहिए?

उत्तर— भगवान् ने अर्जुन को पहले तो सांख्य का उपदेश किया और फिर यह समझकर कि इसकी बुद्धि लक्ष्य को ग्रहण करने में असमर्थ है,वे सृष्टि का प्रवाही स्वरूप दिखलाने लगे। यहाँ जो 'ध्रुव' शब्द दिया है वह सिद्धान्त नहीं है, यह केवल सृष्टि का प्रवाह सूचित करता है। अभिप्राय यह है कि यदि तुम्हारी समझ में सांख्य-सिद्धान्त आ गया है तब तो जन्म-मरण दोनों नहीं हैं,और यदि यह बात समझ में नहीं आयी तब भी शोक नहीं करना चाहिये, क्योंकि इस जन्म-मरण से कोई किसी प्रकार बच नहीं सकता। इसी की पुष्टि अगले श्लोक में करते हैं—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।२८।।

भावार्थ— भरतवंशी अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जन्म से पहले अव्यक्त (बिना शरीर वाले) थे और अन्त में (मरने के पश्चात् भी बिना शरीर के ही रहेंगे,केवल बीच में व्यक्त (शरीर वाले) दिखाई देते हैं। अत: इस विषय में क्या चिन्ता है?

व्याख्या— इसी आशय का यह श्लोक भी प्रसिद्ध है।

अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गत:।
नासौ तव न तस्य त्वं वृथा का परिदेवना।।

अर्थात् जो शरीर पहले नहीं था और फिर भी नहीं रहेगा वह न तो तुम्हारा है और न तुम उसके हो। उसके लिए शोक कैसा।

प्रश्न— ऐसा ज्ञान तो सबको हो सकता है।

उत्तर— नहीं, क्योंकि शरीर और कर्ता-भोक्तापन की वासना निवृत्त नहीं होती। अर्थात् कर्म और भोग की इच्छा सबको बनी रहती

है। इसे कोई मेटना नहीं चाहता। अतः देह का बाध होने पर ही कर्ता-भोक्तापन से छुटकारा मिलता है।

यहाँ 'अव्यक्त' शब्द ब्रह्म का वाचक समझना चाहिए। इस श्लोक में अव्यक्त से उत्पत्ति मानी है। कोई माया से उत्पत्ति मानते हैं, क्योंकि वह भी अव्यक्त ही है। ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म के अज्ञान से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं। परन्तु यह है अध्यारोप ही, वास्तव में तो उत्पत्ति हुई ही नहीं। यहाँ जो उत्पत्ति कही गई है वह ऐसी है जैसे रज्जु से सर्प, स्थाणु, से पुरुष अथवा स्वप्न-द्रष्टा से स्वप्न की सृष्टि उत्पन्न होती है। यह व्यक्त की प्रतीति स्वप्न, गन्धर्व-नगर या मनोराज्य के समान मिथ्या ही है।

संगति— अब अगले श्लोक में आत्मतत्त्व के ज्ञाता, श्रोता और वक्ता की दुर्लभता बतलाते हैं—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥२९॥

भावार्थ— अर्जुन! यह आत्मतत्त्व अत्यन्त गहनऔर सूक्ष्म है। अतः कोई महान् पुरुष ही आश्चर्य के समान इसे देखता है, कोई आश्चर्य के समान इसे कहता है और कोई आश्चर्य के समान इसे सुनता है तथा सुनकर भी इसे कोई जान नहीं पाता।

व्याख्या— इस श्लोक में श्रोता और वक्ता दोनों ही दुर्लभ बताये गये हैं। यह आत्म-विषय अत्यन्त दुर्विज्ञेय है। इसलिये इसे कहने-सुनने और समझने वाले को आश्चर्यरूप ही कहा है। यह ज्ञान का प्रकरण है। यहाँ साकार भगवान् के दर्शनों को आश्चर्यरूप नहीं कहा। वे तो मन तथा इन्द्रियों द्वारा देखे जा सकते हैं। जो वस्तु इदंरूप से देखी कही या सुनी जा सकती है वह आश्चर्यवत् नहीं होती। आत्मा इदंरूप से देखा-सुना नहीं जाता, इसलिए वह आश्चर्यवत् है। वह शुद्ध-बुद्धिरूप ज्ञान-नेत्रों से ही देखा जा सकता है। अथवा इसे

जानना इसलिये भी आश्चर्यरूप है क्योंकि यहाँ नित्य-प्राप्त की ही प्राप्ति होती है। जिस प्रकार दशम पुरुष को अपना ज्ञान तो पहले ही होता है, केवल भ्रान्ति से भूल हो रही थी। जब कोई आप्त पुरुष कहता है कि दशवाँ तू है तो वह आश्चर्य में रह जाता है। इसी प्रकार आत्मा तो अपना स्वरूप होने के कारण नित्य प्राप्त है, केवल उस ओर दृष्टि नहीं है, इसलिये जबश्री गुरुदेव से 'तत्वमसि' आदि महावाक्य श्रवण करता है तोआश्चर्य-चकित हो जाता है। अथवा यह इसलिये भी आश्चर्यरूप है कि जिस प्रपञ्च को हम अनन्तकाल से सत्य समझ रहे हैं, आत्मज्ञान होने पर तत्क्षण उसका अत्यन्ताभाव हो जाता है तथा जिन विषयों के हम दास होते हैं उनसे निर्भय हो जाते हैं और जिन भोगों के लिये लालायित रहते थे वे सत्ताशून्य जान पड़ते हैं। आत्मा अखण्ड अद्वय और प्रत्यक् है— यह बात सामान्य पुरुषों की समझ से परे है; अत: ऐसा बोध होना आश्चर्य ही है।

प्रथम तो भोग्य वस्तुओं से वैराग्य होना ही कठिन है, फिर धर्माध्यास छूटकर संन्यास लेना कठिन, फिर सद्गुरु का मिलना कठिन, फिर तीव्र बुद्धि होना कठिन, फिर कर्तापन का अभिमान छूटना कठिन और फिर ब्रह्माकार वृत्ति होना कठिन। ऐसा होने पर भी किसी समाधिनिष्ठ पुरुष की ही ऐसी निष्ठा होती है कि इतने बड़े संसार और पाप-पुण्य का मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं है, यह रस्सी में सर्प के समान मुझमें मिथ्या ही भास रहा है। ऐसा अनुभव करके वह आश्चर्यचकित रह जाता है।

प्रश्न— यहाँ 'कश्चित्' शब्द आया है, तो क्या इसे कोई नहीं जानता?

उत्तर— हाँ, कोई नहीं जानता, क्योंकि जो वस्तु अपने से भिन्न होती है वही जानी जाती है, और जो भिन्न होती है वह जड़ होती है। आत्मा अपने से भिन्न नहीं, इसलिये वह ज्ञेय भी नहीं हो सकता। अत: सिद्धान्त तो यही है कि आत्मा का ज्ञान किसी को नहीं होता। आज तक न किसी को हुआ, न होगा। हाँ,संशय की निवृत्ति होती है, वस्तु तो स्वयं है ही। गीता के अन्त में अर्जुन ने भी कहा है

कि मेरा मोह नष्ट हो गया और स्मृति प्राप्त हो गयी। यह नहीं कहा कि मुझे ज्ञान हो गया।

संगति— अब अगले श्लोक से उपदेश का उपसंहार करते हैं-

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।।३०।।

भावार्थ— हे भारत! यह देही (आत्मा) सबके शरीर में सर्वदा अबध्य है। अत: इन सभी भूत-प्राणियों के लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।

व्याख्या— समस्त जीवों के तथा तीनों देहों के साक्षी को यहाँ 'देही' कहा है। यह सम्पूर्ण प्रपञ्च देह ही है। ये जिसमें भासते हैं वही देही है लौकिक और अलौकिक सम्पूर्ण वस्तुओं का साक्षी तो जीवात्मा है और जीवों का साक्षी शुद्ध आत्मा है। जहाँ भेद है वहाँ जीवात्मा साक्षी है और जहाँ अभेद है वहाँ शुद्ध आत्मा साक्षी है। अर्थात् ये सब तो नाशवान् हैं, आत्मा नित्य है और इन सबका द्रष्टा है तथा निरवयव और नित्य होने के कारण अबध्य है। इसलिये भीष्मादि के लिये शोक करना व्यर्थ है।

यहाँ 'भारत' इसलिए कहा है कि अब तो तुम्हें भी ज्ञान हो गया होगा, इसलिए तुम्हें पाप नहीं लग सकता। और यह ज्ञान नहीं हुआ तो भी भरतवंशी होने के कारण युद्ध करना तुम्हारा धर्म है। यही बात अगले श्लोक में कहेंगे।

संगति— अब श्लोक ३१ से ३७ तक कहेंगे कि युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है। फिर ३१ वें श्लोक की ही पुष्टि करते हुए ३८ वें श्लोक में सांख्य की समाप्ति करेंगे और उसके पश्चात् ४९ वें श्लोक तक निष्काम कर्मयोग का प्रतिपादन करेंगे।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।।३१।।

भावार्थ— अपने धर्म को देखते हुए भी तुम्हें भय करना उचित नहीं है, क्योंकि धर्म-युद्ध से बढ़कर क्षत्रिय के लिए कोई अन्य कल्याणकारी कर्त्तव्य नहीं है।

व्याख्या— प्रजा की रक्षा करना और धर्मयुद्ध करना—यही क्षत्रियों का धर्म है तथा धर्म का त्याग ही पाप है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि यदि तुम्हें बोध नहीं हुआ तो तुम अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल आचरण करो।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥३२॥

भावार्थ— पृथापुत्र अर्जुन! बिना यत्न किये अपने आप प्राप्त हुआ स्वर्ग का खुला द्वार रूप ऐसा युद्ध बड़े भाग्यवान् क्षत्रियों को ही मिलता है।

संगति— अर्जुन को युद्ध से वैराग्य तो था ही, जैसा कि उसने कहा कि मैं विजय, राज्य तथा ब्रह्मलोक और स्वर्ग के अधिपत्य की भी इच्छा नहीं करता। इसलिए भगवान् को सन्देह है कि सम्भव है अर्जुन युद्ध करना स्वीकार न करे; इसी से अगले श्लोक में वे उसे डांटते हैं—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥३३॥

भावार्थ— और यदि तुम इस धर्म युद्ध को नहीं करोगे तो अपना धर्म और यश खोकर पाप के भागी होगे।

व्याख्या— अर्जुन ने श्री महादेव जी को प्रसन्न करने के लिए तप किया था। उस समय परिस्थितिवश उनसे युद्ध करने में भी संकोच नहीं किया। तथा अनेकों राक्षसों और दानवों को भी युद्ध में परास्त करके विजय प्राप्त की। इससे जो निर्मल यश प्राप्त हुआ वह अब युद्ध से पीछे हटने से दूषित हो जाता, इसलिए भगवान् कहते हैं—

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥३४॥

भावार्थ— सब मनुष्य तुम्हारी चिरकाल तक रहने वाली अपकीर्ति की भी चर्चा करेंगे। और सम्माननीय पुरुष की अपकीर्ति तो उसके लिये मरण से भी बढ़कर होती है।

व्याख्या— तुम्हारा सम्मान तो मनुष्य क्या, देवता भी करते हैं, अतः तुम उस अपकीर्ति को सहन नहीं कर सकोगे। वह तुम्हारे लिए मरण से भी अधिक दुःखदायिनी होगी।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यति लाघवम्।।३५।।

भावार्थ— ये महारथी तुम्हें भय के कारण युद्ध से विरत हुआ मानेंगे। और जिनके तुम बहुत माननीय हो उन्हीं की दृष्टि में हल्के हो जाओगे।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।।३६।।

भावार्थ— तुम्हारे शत्रु तुम्हारी सामर्थ्य की निन्दा करते हुए अनेकों न कहने योग्य दुर्वचन कहेंगे। इससे बढ़कर दुःख की और क्या बात होगी।

संगति— अगले श्लोकों में भगवान् कहते हैं कि तुम युद्ध में चाहे विजयी होओ अथवा पराजित, दोनों ही स्थितियाँ तुम्हारे लिये श्रेयस्कर हैं।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।३७।।

भावार्थ— तुम यदि युद्ध में मारे जाओगे तो स्वर्ग प्राप्त करोगे अथवा जीतकर पृथ्वी का राज्य करोगे। इसलिए हे कुन्तीपुत्र! तुम युद्ध का निश्चय करके खड़े हो जाओ।

व्याख्या— यहाँ भगवान् ने अर्जुन को 'कौन्तेय' इसलिये कहा है कि कुन्ती विपत्तियों से विचलित नहीं होती। उसे विपत्तियाँ प्रिय हैं, क्योंकि उनमें भगवान् का स्मरण अधिक होता है, इसी से उसने

भगवान् से विपत्तियाँ माँगी। अतः वे अर्जुन को सावधान करते हैं कि तुम कुन्ती के पुत्र हो, विचलित मत होओ, युद्ध के लिये खड़े हो जाओ। अर्जुन ने गृहस्थाश्रम में रहते हुए ही जिज्ञासु होकर प्रश्न किया है, इसलिए उसे वर्णश्रमानुकूल धर्म के आचरण की आज्ञा देते हैं। यदि वह संन्यासी या ब्राह्मण होता तो उसे युद्ध करने की आज्ञा कभी न देते।

संगति—अर्जुन को विश्वास था कि भीष्म-द्रोणादि का वध करने से मुझे पाप लगेगा। इसी का निवारण अगले श्लोक में करते हैं।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।३८।।

भावार्थ— सुख-दुःख, हानि-लाभ और जय-पराजय को समान समझकर तुम युद्ध के लिये तैयार हो जाओ। ऐसा करने से तुम पाप के भागी नहीं होंगे।

व्याख्या—प्रश्न— समबुद्धि कब होती है?

उत्तर— समबुद्धि तभी होगी जब ठीक-ठीक विवेक या बोध होगा। तब सुख-दुःख, लाभ-हानि या जय-पराजय में समानता हो जाने के कारण पाप नहीं होता। वास्तविक समदृष्टि बोधवान् को ही होती है।

प्रश्न— समदृष्टि और ब्रह्मदृष्टि में क्या अन्तर है?

उत्तर— सामान्यतया तो एक ही बात है, केवल इतना अन्तर कह सकते हैं कि समदृष्टि में क्रिया रहती है, क्योंकि ऐसी दृष्टि रखकर व्यवहार किया जाता है और ब्रह्मदृष्टि में क्रिया नहीं है।

संगति— अगले श्लोक में सांख्ययोग की समाप्ति करके कर्मयोग कहना आरम्भ करते हैं। यहाँ से ४९ वें श्लोक तक कर्मयोग का प्रसङ्ग है—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।



भावार्थ— हे पृथापुत्र! यह बुद्धि तुमसे सांख्ययोग के अनुसार कही गई। अब इसी बुद्धि को कर्मयोग के विषय में भी सुनो, जिस बुद्धि से युक्त होकर तुम कर्मबन्धन से छूट जाओगे।

व्याख्या— इस श्लोक का शब्दश: अभिप्राय तो यही है कि निष्काम कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों से संसार-बन्धन छूट जायगा। परन्तु यह स्तुति-वाक्य समझना चाहिये, क्योंकि केवल कर्म से मोक्ष होना सम्भव नहीं है। ऐसा माना जाय तो 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इत्यादि श्रुतिवाक्य व्यर्थ हो जायेंगे। हाँ, निष्काम कर्म ज्ञान का साधन अवश्य है, इसलिये उससे अन्त:करण की शुद्धि होकर क्रम-मुक्ति हो सकती है। निष्काम कर्म और उपासना से ही पापों का क्षय होकर अन्त:करण की शुद्धि होगी और फिर वैराग्य एवं जिज्ञासा द्वारा ज्ञान होने पर मुक्ति होगी। यही शास्त्र का सिद्धान्त है। अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से ही होगी और ज्ञान शुद्ध अन्त:करण में ही होगा तथा अन्त:करण की शुद्धि निष्काम उपासना से ही होगी। अत: सिद्ध हुआ कि निष्काम कर्म से अन्त:करण शुद्ध होता है और मुक्ति केवल ज्ञान से होती है।

प्रश्न— कर्म के द्वारा कर्म-बन्धन कैसे छूटेगा? क्या कभी कीचड़ से कीचड़ धुल सकता है?

उत्तर— यहाँ जो तृतीयान्त 'बुद्ध्या' शब्द है उसका अर्थ निष्काम कर्म है। निष्काम कर्म से ही कर्मबन्धन की निवृत्ति होती है, सकाम से नहीं। सकाम कर्म कीचड़ है और निष्काम कर्म निर्मल जल है।

प्रश्न— वह बुद्धि क्या है जिससे कर्मबन्धन छूटेगा?

उत्तर— मैं न कर्ता हूँ, न कारयिता हूँ और न भोक्ता हूँ; सब कुछ भगवान् ही कर रहे हैं, वे ही करा रहे हैं और वे ही भोग रहे हैं। मैं तो केवल उनके हाथ का यन्त्र हूँ, उनकी लीला का साक्षी हूँ।

प्रश्न— यदि भगवान् ही करने-कराने वाले और भोक्ता हैं, आत्मा साक्षीमात्र है तो फिर इतने से ही मुक्ति क्यों नहीं होगी?

उत्तर— भक्त की केवल ऐसी भावना होती है, उसे स्वरूप का ज्ञान नहीं होता और न ऐसा अनुभव ही होता है।

इस श्लोक में सांख्य और बुद्धि का सहयोग बताया है, अर्थात् यह बात कही गयी है कि बुद्धि का सांख्य से योग (सम्बन्ध) है। फिर उसी सांख्यबुद्धि को कर्मयोग की दृष्टि से सुनने के लिये कह रहे हैं। भक्तियोग को भी कर्मयोग के अन्तर्गत ही समझना चाहिये। यह मानसिक कर्म है। अतः ईश्वर की आराधना कर्मयोग* ही है। जो कर्म भगवदर्पणबुद्धि से किये जाते हैं वे निष्काम ही होते हैं।

संगति— अगले श्लोक में निष्काम कर्म का महत्व बतलाते हैं।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥४०॥

भावार्थ— इस निष्काम कर्मयोग में क्रम का नाश नहीं होता और (पूरा या विधिपूर्वक न करने पर) प्रत्यवाय भी नहीं होता। अतः इस धर्म का थोड़ा सा आचरण भी (जन्म-मृत्यु रूप) महान् भय से रक्षा कर लेता है।

व्याख्या— इस संसार में निष्काम कर्म नष्ट नहीं होता, अर्थात् उसमें मन्त्रोच्चारणादि की अशुद्धि हो जाने पर भी कोई हानि नहीं होती। किन्तु सकाम कर्म में विधि का उल्लंघन होने पर वह नष्ट हो जाता है।

संगति— अब अगले श्लोक में निष्काम और सकाम कर्म करने वालों की बुद्धियों में अन्तर बताते हैं तथा श्लोक ३९ में कही हुई योग-बुद्धि का निरूपण करते हैं—

*भगवान् के दो स्वरूप हैं—सविशेष और निर्विशेष। सविशेष ध्यानप्राप्य है और निर्विशेष ज्ञानप्राप्य। सविशेष से भेद रहता है और निर्विशेष से नित्य अभेद है। साकार-निराकार अर्थात् कार्य-ब्रह्म और कारण-ब्रह्म दोनों सविशेष या सगुण ही हैं, शुद्ध-ब्रह्म निर्विशेष या निर्गुण है। उसकी उपलब्धि विचार द्वारा ज्ञान होने पर होती है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।४१।।

भावार्थ— हे कुरुनन्दन! इस निष्काम कर्मयोग में एक ही निश्चयात्मिका बुद्धि होती है और अनिश्चयात्मा (सकाम) पुरुषों की बुद्धियाँ अनेक शाखाओं वाली अनन्त प्रकार की होती हैं।

व्याख्या— दृढ़ निश्चय करके किसी काम में लगने वाले पुरुष की बुद्धि व्यवसायात्मिका होती है। परमार्थ की ओर अग्रसर होने वाला पुरुष कामनारहित और शुद्धचित्त होने पर ही आत्म-वस्तु का निश्चय कर पाता है। ऐसा निश्चय करने वाली बुद्धि ही व्यवसायात्मिका कहलाती है। चञ्चल बुद्धि वाले पुरुष गुरु और शास्त्र में विश्वास नहीं करते। उनकी विवेक-शून्य, अनेक भोगों की इच्छा करने वाली और अनेकों भेदों वाली बुद्धि ही अव्यवसायात्मिका होती है। ऐसे मनुष्य की क्या दशा होती है, यह बात अगले तीन श्लोकों में बताते हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।४२।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।४३।।

भावार्थ— पार्थ! जिन्हें कामना ही अभीष्ट है और जो स्वर्ग को ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ मानते हैं वे वेद की फलश्रुति में आसक्त अविवेकी पुरुष भोग और ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये जन्म और कर्मफल प्रदान करने वाली ऐसी क्रियाकलाप-बहुल आपातरमणीय बातें कहा करते हैं और ऐसा कहते हैं कि इससे बढ़कर और कुछ नहीं है।

व्याख्या— हे पार्थ! कामना ही है आत्मा (इष्ट) जिनकी, वेद में प्रतिपादित सकाम कर्म ही ठीक हैं— ऐसा जिनका निश्चय हो गया है, अर्थात् जो कट्टर मीमांसक हैं, ईश्वर को भी नहीं मानते, स्वर्ग ही जिनका परम पुरुषार्थ है और जो कहते हैं कि स्वर्ग सुख से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है वे विवेकहीन हैं। वे वेद के तात्पर्य को नहीं समझते, विवेकवती बुद्धि के प्रभाव को नहीं जानते, इसलिये कहते हैं कि कर्म

करो, स्वर्ग मिलेगा। वे भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए अनेक क्रिया-कलाप वाले कर्मों का प्रतिपादन करते हैं। उनकी वह वाणी सेमल के फूल के समान देखने में ही मनोहर होती है। उसके परिणाम में जो स्वर्गादि मिलते हैं वे जन्म-मरण ही को देने वाले होते हैं। इससे वे पुनः अधोगति को प्राप्त होते हैं। इसी की पुष्टि अगले श्लोक में करते हैं–

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधौ न विधीयते।।४४।।

भावार्थ– उस वेदवाणी के द्वारा जिनका चित्त अशुद्ध हो गया है अर्थात् जिनका विवेक नष्ट हो गया है, तथा जिनकी भोग और ऐश्वर्य में आसक्ति है उनके अन्तःकरण में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं ठहरती।

संगति– अगले श्लोक में भगवान् अर्जुन को सकाम कर्म से उपराम होकर आत्मपरायण होने की आज्ञा देते हैं–

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।४५।।

भावार्थ– अर्जुन! वेद तीनों गुणों के कार्यरूप संसार को विषय करने वाले हैं; अतः तुम असंसारी, द्वन्द्वहीन, सर्वदा सत्त्व में स्थित, योग-क्षेम न चाहने वाले और आत्मपरायण होओ।

व्याख्या– श्रुति कहती है 'यः वेदानपि संन्यसति स तरति स तरति लोकांस्तारयति" अर्थात् जो वेदों (वेदों के कर्मकाण्ड) को भी त्याग देता है वह स्वयं तो तरता ही है, सम्पूर्ण लोकों को भी तार देता है। तीनों गुणों के कार्यरूप संसार का प्रतिपादन करने वाले वैदिक कर्मकाण्ड के चक्कर में मत फँसो। कर्मकाण्ड तो संसार को ही बढ़ाता है। अतः भगवान् मुमुक्षु को लक्ष्य करके कहते हैं कि हे अर्जुन! तुम तीनों गुणों से रहित हो जाओ, निर्द्वन्द्व हो जाओ अर्थात् नाम-रूप में आसक्त मत होओ अथवा राग-द्वेषादि द्वन्द्वों में मत पड़ो। नित्य सत्त्व में स्थित रहो। आनन्द रूप कोश ही नित्य सत्त्व है अतः चलते-

फिरते प्रत्येक समय सत्त्वगुण में स्थित रहो। योग अर्थात् शरीर के भोग्य पदार्थों की चिन्ता मत करो तथा क्षेम अर्थात् शरीर को सर्पादि के उपद्रव से सुरक्षित रखने की भी चेष्टा मत करो, क्योंकि शरीर के योग-क्षेम प्रारब्धाधीन हैं और आत्मदृष्टि से तो इनका अभाव ही है।

अथवा अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति का नाम योग और प्राप्त की रक्षा का नाम क्षेम है। अप्राप्त तो केवल भगवान् की भक्ति ही है, अन्य पदार्थ तो प्रारब्धानुसार प्राप्त हो ही जाते हैं। भक्ति तो केवल भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होती है और उनकी कृपा से ही सुरक्षित रहती है। अतः 'निर्योगक्षेम' का अर्थ है कि तू यह चिन्ता भी छोड़ कि भगवान् कृपा करें। तू आत्मवान् हो अर्थात् अनात्मा में अहंबुद्धि न रख। जिसको सम्पूर्ण प्रपञ्च केवल प्रतीतिमात्र अनुभव होता है, केवल स्वरूपसत्ता ही भान होती है वही आत्मवान् है। जिसे आत्मरति होती है उसकी आत्मा में वैसी ही अहंबुद्धि हो जाती है जैसी कि बोध होने से पहले शरीर में थी। प्रत्येक कर्म करते हुए भी उसे आत्मबुद्धि बनी रहती है। वह अपने को शरीर नहीं मानता। इस प्रकार भगवान् अर्जुन को आत्मनिष्ठ होने का आदेश देते हैं।

प्रश्न— श्री विद्यारण्य स्वामी ने तो कहा है कि भोजनादि के समय अपने स्वरूप की विस्मृति हो जाय तो कोई हानि नहीं। परन्तु आप कहते हैं कि उसे हर समय स्वरूप की स्मृति रहती है।

उत्तर— ऐसे ही अनेकों प्रमाण हैं। अध्याय ४ श्लोक ३५ में भगवान् ही कहते हैं— 'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।' अतः उसे स्वरूप की विस्मृति नहीं होती। निस्त्रैगुण्य होने पर ही निर्द्वन्द्व हो सकता है। जब वेदोक्त सकाम कर्म का त्याग करेगा तभी निर्द्वन्द्व होगा, निर्द्वन्द्व होने पर ही नित्य सत्त्वस्थ होगा, नित्यसत्त्वस्थ होने से निर्योगक्षेम होगा और निर्योगक्षेम होने पर ही आत्मवान् होगा। अथवा यहाँ निस्त्रैगुण्य ही सिद्धान्त है, शेष सब साधन हैं।

प्रश्न— नित्यसत्त्वस्थ और आत्मवान् में क्या अन्तर है?

उत्तर— जो त्रिगुणातीत होते हुए भी तीनों गुणों में रहता है, परन्तु गुण उस पर अपना प्रभाव नहीं डालते वही नित्यसत्त्वस्थ है; जैसाकि कहा है—"निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।" और तीनों गुणों से रहित तब होगा जब आत्मा में स्थिति होगी। वही आत्मवान् है। अर्थात् 'नित्यसत्त्वस्थ' बोधवान् के अन्तः-करण की वृत्ति को लक्ष्य करके कहा गया है और 'आत्मवान्' स्वरूप-स्थिति की दृष्टि से। ऐसा होने पर फिर उसे कोई कर्त्तव्य नहीं रह जाता।

प्रश्न— क्या बोधवान् को कोई कर्त्तव्य नहीं रह जाता?

उत्तर— राजा अजातशत्रु ने ऋषियों के मुख से सुना कि संसार के सारे कर्मों का फल रैक्व को प्राप्त होता है, क्योंकि रैक्व बोधवान् है और सारा संसार बोधवान् का शरीर है। अतः सब कुछ वही तो करता है। ऐसा कौन कर्म है जो वह नहीं करता, अतः उसे क्या कर्त्तव्य शेष रहेगा।

संगति— अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि आत्मवान् होने पर तुझे वेदों की भी आवश्यकता नहीं रहेगी—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।४६।।

भावार्थ— मनुष्य को सब ओर से परिपूर्ण जलाशय प्राप्त होने पर छोटे जलाशयों का जितना प्रयोजन रह जाता है, ब्रह्म को सम्यक् प्रकार से जानने वाले ज्ञानी ब्राह्मण को भी सम्पूर्ण वेदों की उतनी ही आवश्यकता रहती है।

व्याख्या— यहाँ कर्म-कलाप को तो नदी-सरोवरादि क्षुद्र जलाशयों के समान कहा है और ज्ञान समुद्र के समान है। जैसे थोड़े जल की आवश्यकता की पूर्ति भी समुद्र से ही हो जाती है उसी प्रकार तत्वसाक्षात्कार हो जाने पर कर्मकाण्ड तथा उपासना आदि सभी साधनों के फल प्राप्त हो जाते हैं। ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होने पर अन्य सभी आनन्द उसीके अन्तर्गत हो जाते हैं। उनके लिए किन्हीं वेदोक्त यज्ञादि की आवश्यकता नहीं रहती।

संगति— यहाँ तक सांख्यनिष्ठा और कर्मनिष्ठा का वर्णन करते हुए सकाम कर्म को तुच्छ बतलाया है। परन्तु यह कर्म की निन्दा जिज्ञासु की दृष्टि से है, संसारी विषयी पुरुषों की दृष्टि से नहीं। अब अगले श्लोक में निष्काम कर्म करने की विधि बतलाते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।४७।।

भावार्थ— तेरा कर्म करने मात्र में ही अधिकार है, कर्मफल में कभी नहीं। अतः कर्म करते समय तू कर्मफल को हेतु न बना। और न तेरी कर्म न करने में ही आसक्ति हो।

व्याख्या— यहाँ तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, यह बात उस जिज्ञासु के लिये कही गयी है जो तीव्र वैराग्यवान् नहीं है। उसका केवल नित्य-नैमित्तिक अथवा निष्काम कर्मों में ही अधिकार होता है, ज्ञाननिष्ठारूप संन्यास में नहीं। तीव्र जिज्ञासु को ही संन्यास करके श्रवणादि करने का अधिकार प्राप्त होता है। अतः तू केवल कर्मों के फल की इच्छा का ही त्याग कर।

प्रश्न— फल की इच्छा न रहने पर तो कर्म हो ही नहीं सकता, उससे लाभ भी क्या है?

उत्तर— इच्छा ही जन्म का कारण है। इसलिए मुमुक्षु को कर्मफल की इच्छा नहीं रखनी चाहिये। कर्म न करने पर अकर्मण्य हो जाने से भी अधःपतन ही होगा, क्योंकि निष्काम कर्म सत्त्वगुण, सकाम कर्म रजोगुण और अकर्मण्यता तमोगुण है।

संगति— अगले श्लोक में निष्काम कर्म का स्वरूप बतलाते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।४८।।

भावार्थ— हे धनञ्जय! आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि-असिद्धि में समान रहकर योग में स्थित हुआ कर्म कर। इस समत्व को ही योग कहते हैं।

व्याख्या—प्रश्न— सिद्धि-असिद्धि में सम रहना रूप समत्व योग क्या है तथा योगस्थ किसे कहते हैं?

उत्तर— इष्ट-अनिष्ट फल होने पर हर्ष-शोक से रहित रहना तथा ऐसा संकल्प न होना कि अमुक पुण्य कर्म करते-करते बहुत समय हो गया, अभी तक न तो भगवान् मिले और न कोई अन्य फल ही मिला। यही सिद्धि-असिद्धि में समान रहना है। यहाँ तक कि भगवत्कृपा का भी स्मरण न हो, बस भजन में तत्पर रहे। यही समत्वयोग अथवा निष्काम कर्मयोग है। इस प्रकार कोई इच्छा न रखकर केवल भगवद्भजन में ही तत्पर रहने वाला साधक योगस्थ कहा जाता है।

संगति— अगले श्लोक में सकाम कर्म को निकृष्ट दिखलाकर निष्काम कर्म की श्रेष्ठता बतायी जाती है। अथवा सकाम निष्काम दोनों प्रकार के कर्मों की अपेक्षा ज्ञानयोग की श्रेष्ठता बतलाते हैं—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।।४९।।

भावार्थ— बुद्धियोग (ज्ञानयोग) की अपेक्षा कर्म अत्यन्त निकृष्ट है; इसलिये हे अर्जुन! बुद्धियोग की शरण ले, क्योंकि कर्मफल की वासनावाले मनुष्य तो अत्यन्त दीन हैं।

व्याख्या— यहाँ सकाम कर्मी को इसलिए दीन कहा है क्योंकि उसमें परिश्रम तो बहुत है, किन्तु साङ्गोपाङ्ग न होने पर फल की प्राप्ति नहीं होती, पूर्ण न हो तो प्रत्यवाय होता है और यदि फल भी मिल जाय तो भी जन्म-मरण नहीं छूटता। अथवा इसलिए निकृष्ट कहा है क्योंकि वह देह-बुद्धि को बढ़ाने वाला है। निष्काम कर्म का महत्व तो इसलिये है क्योंकि उससे अन्तःकरण की शुद्धि होती है तथा तीव्र वैराग्य और जिज्ञासा होने पर सद्गुरु के उपदेश द्वारा ज्ञान प्राप्त हो ही जाता है। तथा ऐसा होने पर जन्म-मरण से छुटकारा भी हो जाताहै।

संगति— भगवान् ने ४८ वें श्लोक तक सकाम कर्म को निकृष्ट बतलाते हुए निष्काम कर्म की प्रशंसा की और ४९ वें श्लोक में सकाम-निष्काम दोनों प्रकार के कर्मों का निषेध करते हुए ज्ञानयोग की शरण लेने का आदेश दिया। अब ५० वें श्लोक में यह बतलाकर कि शुभ अशुभ जो भी कर्म किया जाता है उसका फल अवश्य भोगना पड़ता है उन्हें त्यागने का ही विधान करते हैं तथा बुद्धियोग की प्रशंसा करते हैं।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥५०॥

भावार्थ— सांख्यबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य-पाप दोनों प्रकार के कर्मों को त्याग देता है, अतः ज्ञानयोग में ही तत्पर रहो, ज्ञानयोग ही कर्मों में कुशलता है। [अर्थात् यही कर्मबन्धन से छूटने का साधन है।]

व्याख्या— निष्काम कर्म स्वतन्त्र रूप से मुक्त नहीं कर सकता, क्योंकि उसमें ऐसी वृत्ति तो रहती ही है कि मैं निष्काम भाव से कर्म कर रहा हूँ, अतः कर्तापन रहने के कारण जन्म लेना ही पड़ता है। परन्तु बोध होने पर ऐसी वृत्ति नहीं रहती। इसीसे भगवान् कहते हैं 'योगः कर्मसु कौशलम्' अर्थात् ज्ञानयोग कर्मों में कुशलता है। अतः इस प्रकार कर्म करे जैसा कि अध्याय ५ श्लोक १०, अध्याय ५ श्लोक १२ तथा अध्याय ३ श्लोक २९ में करने को कहा है। अर्थात् जिस प्रकार जीवन्मुक्त कर्म करते हैं वही श्रेष्ठ है।

प्रश्न— अशुभ कर्मों के फल की निवृत्ति तो शुभ कर्म करने से हो सकती है, परन्तु शुभ कर्मों के फल से कैसे छुटकारा मिलेगा?

उत्तर— शुभ कर्मों के फल की निवृत्ति आत्मज्ञान से होती है। वास्तव में कर्मों की आत्यन्तिकी निवृत्ति तो आत्मज्ञान होने पर ही होती है। कर्मी और उपासक तो केवल दुःख से ही छूट पाते हैं। सुख-दुःख दोनों से तो केवल आत्मज्ञानी ही छूटता है। इसलिये भगवान् अर्जुन से ज्ञानयोग में तत्पर होने को कह रहे हैं।

संगति— अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि ज्ञानप्राप्ति का फल क्या है—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥५१॥

भावार्थ— सांख्य-बुद्धियुक्त तत्त्ववेता शुभाशुभ कर्मों से होने वाले (जन्म-मरणरूप) फल को त्यागकर आगामी शरीर के बन्धन से छूटकर सब प्रकार के उपद्रव से रहित मोक्ष पद को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या— इस शरीर से उनका तादात्म्य-सम्बन्ध छूट जाता है, इसलिये वे इससे मुक्त हो जाते हैं और यह तादात्म्य न रहने के कारण ही उन्हें कर्मफल नहीं होता तथा संचित कर्म दग्ध हो जाने के कारण आगामी जन्म के लिये नवीन प्रारब्ध भी नहीं बनता। इस प्रकार बोध हो जाने के कारण जब शुभाशुभ कर्मों का फल नहीं रहता तो उन्हें अनामय (निरुपद्रव) पद की प्राप्ति हो जाती है। अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव ये तीनों प्रकार के ताप या उपद्रव ही 'आमय' हैं, इन तीनों तापों से रहित मोक्ष ही अनामय पद है।

संगति— अब अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि बोध की पूर्णता कब समझनी चाहिए तथा किस स्थिति में कोई कर्तव्य आगे शेष नहीं रहता।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥५२॥

भावार्थ— जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूपी दलदल से भले प्रकार पार हो जायगी तब तुम कुछ जो सुन चुके हो और जो कुछ सुनोगे उससे उपराम हो जाओगे।

व्याख्या— परमात्मा तो सर्वत्र है, अथवा सब परमात्मा का ही स्वरूप है, किन्तु मोहरूप कीचड़ से ढका होने के कारण ऐसा दीखता नहीं। मोह अज्ञान से ही होता है और यह आत्मा-अनात्मा के विवेक को ढक देता है। अतः जब सब ओर से वैराग्य हो जाय तब समझे कि मोह की निवृत्ति हुई। जब तक संसार असत् मायिक और तुच्छ

प्रतीत न हो अथवा सत्-असत् का विवेक न हो तब तक मोह ही समझना चाहिए। यह मोह ही कीचड़ है। सबसे वैराग्य हो जाता है, फिर भी भोगों का आकर्षण बना रहता है। शास्त्रों में सुना है कि प्रारब्ध तो भोगना ही पड़ता है। अतः वैराग्य होने पर भी जब बिना यत्न किये कोई पदार्थ प्राप्त हो जाता है तो उसे प्रारब्ध-भोग कहकर भोग लेते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि भोग्य पदार्थ का सामने आ जाना तो प्रारब्ध है, परन्तु उसे भोगना तो हमारा प्रारब्ध नहीं है। उसे न भोगना तो हमारे हाथ की बात है। यदि इतना जानने पर भी हम भोगते हैं तो यह अविचार या आसक्ति ही है। बोधवान् को तो प्रारब्ध से भी वैराग्य हो जाता है, वह तो उसे भी नहीं भोगता। इसी से कहा है– 'तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च'। ऐसा अनुभव हो तभी अपने को पूर्ण वैराग्यवान् समझना चाहिये। वास्तव में प्रारब्ध कोई वस्तु नहीं है। अज्ञानियों को समझाने के लिये श्रुति प्रारब्ध बतलाती है। बोध होने पर तो प्रारब्ध भी बोधरूप ही है। बोधवान् तो प्रारब्ध भी नहीं भोगता। अतः वास्तविक वैराग्य तो बोधवान् को ही होता है। जब व्यवहार और व्यवहारी वस्तु की सत्ता न रहे, सबमें मिथ्यात्व-बुद्धि हो जाय तब जानो कि वैराग्य हुआ। अर्थात् आत्मानुरागी ही पूर्ण वैराग्यवान् हो सकता है।

प्रश्न– आपने कहा कि पूर्ण वैराग्य तो बोधवान् को ही होता है, तो क्या जिसमें उदासीनता, मस्ती और वैराग्य देखने में आवे उसी को बोधवान् समझना चाहिये?

उत्तर– उदासीनता मस्ती और वैराग्य का बोध से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे तो चित्त के धर्म हैं। बोध से तो राग-वैराग्य दोनों ठण्डे पड़ जाते हैं, क्योंकि तत्वज्ञान होने पर किसी भी वस्तु या अवस्था की पृथक् सत्ता नहीं रहती। ऐसी अवस्था में वह राग या वैराग्य किससे करेगा? राग वृत्ति भक्त में रहती है, द्वेषवृति संसारी या पामर में रहती है और वैराग्यवृत्ति जिज्ञासु में रहती है। राग, द्वेष और वैराग्य से जो विलक्षणवृत्ति है वह समवृत्ति बोधवान् में रहती है। रागवृत्ति वैराग्य

से, द्वेषवृत्ति उपेक्षा से और वैराग्यवृत्ति समवृत्ति से निवृत्त होती है। तत्त्ववेत्ता में समवृत्ति रहते हुए भी नहीं रहती। बोधवान् का किसी में राग नहीं होता, इसलिए उसे वैराग्य भी नहीं होता; उसमें प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए उदासीनता भी नहीं होती। वह अपने को स्वयं ही जानता है। मस्ती रहना शुद्ध बोध नहीं। मस्ती तो चिदाभास में रहती है, उसे साभास बोध कहते हैं। मस्ती का कारण प्रसन्नता है और प्रसन्नता सत्त्वगुण में होती है, तथा बोधवान् गुणातीत होता है। उसमें मस्ती, उदासीनता और वैराग्यादि गुण गुणरूप से नहीं, स्वस्वरूप होकर रहते हैं। उसमें इच्छा नहीं इसलिये निरिच्छा भी नहीं, ग्रहण नहीं इसलिये त्याग भी नहीं, अज्ञान नहीं इसलिए ज्ञान भी नहीं तथा क्रिया नहीं इसलिये निष्क्रियता भी नहीं। वह सगुण नहीं इसलिये निर्गुण भी नहीं, उसमें दुःख नहीं इसलिये सुख भी नहीं, उसे द्वन्द्व नहीं इसलिये वह निर्द्वन्द्व भी नहीं। ये सब चित्त के धर्म हैं। वह तो त्यागस्वरूप—ज्ञानस्वरूप है। मस्ती या आनन्द तो निषेध करके होते हैं। ये निर्विकार चित्त में रहते हैं, स्वरूप में नहीं। जिसे ज्ञान में आनन्द आता है वह जिज्ञासु है, बोधवान् नहीं। उसने जीवत्व को पूर्णतया मिटाया नहीं है। जिसमें जीव-ब्रह्म आदि किसी प्रकार का अहंभाव नहीं है जो व्यवहार में सब काम ठीक-ठीक करता है, परन्तु परमार्थतः सबका अत्यन्ताभाव देखता है तथा जिसकी दृश्य में मिथ्यात्व-बुद्धि भी निवृत्त हो गयी है उसे बोधवान् समझना चाहिए। जिसके 'कुछ हुआ है' और 'कुछ नहीं हुआ' ये दोनों भाव निवृत्त हो गये हैं वही बोधवान् है। कुछ हुआ है, इससे व्यवहार सत्ता में राग रहता है और 'कुछ नहीं हुआ' इससे उसमें द्वेष रहता है। परन्तु बोधवान् में ये दोनों नहीं रहते। 'कुछ नहीं हुआ' यह केवल जिज्ञासु को समझाने के लिये कहा जाता है, क्योंकि 'प्रपञ्च हुआ है' यह भाव अनात्मबुद्धि से होता है और 'कुछ नहीं हुआ' यह आत्मबुद्धि से होता है। दोनों में अहंबुद्धि रहती है। अर्थात् ये दोनों वृत्ति के कार्य हैं और आत्मस्वरूप वृत्ति से परे है। इसलिए बोधवान् में ये दोनों ही भाव नहीं रहते।

प्रश्न— इस प्रकार की स्थिति हो जाने पर भी व्यवहार में वृत्ति आदि से तादात्म्य क्यों हो जाता है?

उत्तर— बोधवान् का वृत्ति आदि से तादात्म्य कभी नहीं होता। उसकी सम्पूर्ण चेष्टा नाटकवत् होती है। जैसे नाटक का निपुण पात्र राजा-मन्त्री आदि का अभिनय करते हुए भी स्वयं को राजा-मन्त्री आदि कभी नहीं मानता उसी प्रकार बोधवान् भी बुद्धि आदि का अत्यन्ताभाव देखता हुआ सर्वदा अपने को उससे असङ्ग अनुभव करता है। द्वैती-अद्वैती, रागी विरागी आदि मत-मतान्तरवादी उसकी दृष्टि में आकाश में प्रतीत होने वाले बादलों के समान हैं। जिसे ठीक-ठीक ऐसा अनुभव हो वही ज्ञानी तत्त्ववेत्ता अथवा पूर्ण है। वास्तव में पूर्ण वही है जो दुःख का पहाड़ टूट पड़ने पर भी अपनी निष्ठा से विचलित नहीं होता, अर्थात् किसी की भी सत्ता नहीं देखता।

प्रश्न— त्याग, वैराग्य और उपरति में क्या भेद है?

उत्तर— विषय को सामने न आने देना त्याग है, विषय सामने रहते हुए उसमें प्रेम न होना वैराग्य है तथा वस्तु सामने रहते हुए भी उसमें न तो भोगबुद्धि हो और न द्वेष हो, यह उपरति है।

प्रश्न— वैराग्य कितने प्रकार का होता है?

उत्तर— आज-कल तो ओस-वैराग्य होता है। प्रातःकाल उठकर देखते हैं तो घास पर मोती जैसे दिखायी देते हैं, किन्तु होते हैं वे पानी के कण, जो सूर्योदय होने पर सूर्य की गर्मी और हवा के कारण कुछ क्षणों में ही न जाने कहाँ चले जाते हैं। इसी प्रकार कुछ लोग वैराग्य की तरङ्ग आने पर घर छोड़ कर चले तो जाते हैं, परन्तु दो चार दिन में ही रात्रि में सर्दी से ठिठुर जाने या भिक्षा न मिलने पर उनका वैराग्य ठण्डा पड़ जाता है।

सामान्यतया गुण-भेद से वैराग्य तीन प्रकार का है—(१) जो वैराग्य संसार से ग्लानि और भगवान् से प्रेम होने पर होता है वह सात्त्विक है। (२) जो प्रसिद्धि या प्रतिष्ठा की दृष्टि से विरक्त होता है

वह राजस है और (३) जो सबको नीची दृष्टि से देखता है तथा अपने को बड़ा समझता है वह तामस वैराग्यवान् है।

योगदर्शन में पर अपर भेद से दो प्रकार का वैराग्य बतलाया है। इनमें अपर वैराग्य चार प्रकार का है– (१) यतमान (२) व्यतिरेकि (३) एकेन्द्रिय और (४) वशीकार। (१) जिस में विषयों को छोड़ने का प्रयत्न तो रहता है, किन्तु छोड़ नहीं पाता वह यतमान वैराग्य है। (२) शब्दादि विषयों में से कुछ का राग तो हट जाय किन्तु कुछ का न हटे तब व्यतिरेकि वैराग्य समझना चाहिये। (३) मन ही एक इन्द्रिय है। जब इन्द्रियों के विषयों का आकर्षण तो न रहे, किन्तु मन में उनका चिन्तन हो तब एकेन्द्रिय वैराग्य होता है। इस अवस्था में प्रतिज्ञा के बल से ही मन और इन्द्रियों का निग्रह होता है। (४) वशीकार वैराग्य होने पर मनऔर इन्द्रियाँ अपने अधीन हो जाती हैं तथा अनेक प्रकार के चमत्कार भी होने लगते हैं। यहाँ तक अपर वैराग्य हुआ। जब गुणों का कोई आकर्षण नहीं रहता, सर्वज्ञता और चमत्कारों से भी वैराग्य होकर स्वरूप में स्थिति रहती है तब पर-वैराग्य होता हैं। अथवा एकाग्रता से जो सुख होता है उनको भी त्याग देना, गुणातीत हो जाना ही पर-वैराग्य है।

इसके सिवा वैराग्य के दो भेद और भी हैं– देह से वैराग्य और गेह से वैराग्य। शरीर से वैराग्य होना प्रथम कोटि का वैराग्य है तथा अहन्ता-ममता से ऊपर उठ जाना दूसरे प्रकार का वैराग्य है। लोगों को घर से तो वैराग्य हो जाता है, परन्तु शरीर से वैराग्य होना कठिन है। तथा इससे भी कठिन है शरीर का अत्यन्ताभाव अनुभव करना। यह तो सद्गुरु की विशेष कृपा से किन्हीं-किन्हीं को ही होता है।

संगति– अब अगला श्लोक ज्ञाननिष्ठा का है–

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।५३।।

भावार्थ– जब श्रुतियों के द्वारा चलायमान तेरी बुद्धि विक्षेप रहित होकर आत्मा में अचल स्थिर हो जाएगी तब तू समत्वदृष्टि रूप योग को प्राप्त हो जायगा।

व्याख्या— यहाँ निषेध को ही सिद्धान्त बतलाया है। शास्त्रों में कहीं कर्मकाण्ड की प्रशंसा है, कहीं भक्ति की और कहीं ज्ञान की। कहीं सगुण और निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन है तो कहीं वैराग्य, धर्म या नीति की प्रशंसा है। इन सब सुने हुए विषयों से वैराग्य होने पर बुद्धि आत्मा में स्थित होती है और तब बोध होने पर यह संशय नहीं रहता कि यह ठीक है या वह ठीक। जैसे स्वप्न के पदार्थ सत्य और असत्य दो प्रकार के नहीं हो सकते इसी प्रकार से दृश्य पदार्थ व्यवहार-सत्ता में तो ठीक हैं,परन्तु परमार्थ सत्ता में एक आत्मतत्त्व के सिवा और कुछ कभी हुआ ही नहीं—यह अकाट्य सिद्धान्त है। जब ऐसा निश्चय हो जाय कि देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, विराट, हिरण्यगर्भ, ईश्वर और अव्यक्त इन आठों से मैं विलक्षण हूँ, इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, ये मुझमें अध्यस्त हैं, तब समझना चाहिये कि मुझे योग प्राप्त हुआ।

संगति— श्री भगवान् के मुखारविन्द से यह सुनकर कि इस प्रकार के लक्षणों वाला सिद्ध योगी होता है, उन लक्षणों को विशेष रूप से जानने के लिये अर्जुन प्रश्न करता है—

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।५४।।

भावार्थ— अर्जुन ने पूछा— हे केशव! समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ का क्या लक्षण है? स्थितबुद्धि पुरुष किस प्रकार बोलता है, किस प्रकार बैठता है और किस प्रकार चलता है?

व्याख्या— यहाँ अर्जुन ने चार प्रश्न किये हैं। पहला प्रश्न है कि समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ का क्या लक्षण है। यह प्रश्न समाधि अवस्था के विषय में है, शेष तीन प्रश्न व्युत्थित अवस्था के विषय में हैं। पहले प्रश्न का उत्तर भगवान् ५५ वें से ६८ वें श्लोक तक भिन्न-भिन्न कई श्लोकों में देंगे। दूसरा प्रश्न है, स्थितधी किस प्रकार बोलता है। इसका उत्तर ५६ वें श्लोक में देंगे। तीसरा प्रश्न है कि वह किस प्रकार

बैठता है। इसका उत्तर ६१,६९ और ७० वें श्लोक में दिया जायेगा। तथा चौथा प्रश्न है कि वह किस प्रकार चलता है। इसका उत्तर ७१ वें श्लोक में देंगे।

यहाँ 'समाधिस्थस्य' के साथ 'स्थितप्रज्ञस्य' इसलिये कहा है क्योंकि समाधि तो हठयोगादि से भी लग जाती है; बोध का समाधि से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। किन्तु यहाँ समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ के लक्षण पूछे गये हैं, समाधिस्थ हठयोगी के नहीं। स्थितप्रज्ञ अर्थात् दृढ़ ज्ञानी के क्या लक्षण हैं—इससे यह सिद्ध होता है कि कोई अस्थितप्रज्ञ (अदृढ़ ज्ञानी) भी होते हैं। जिन्हें सम्पूर्ण कार्य करते हुए भी स्वरूप की विस्मृति नहीं होती वे दृढ़ ज्ञानी हैं और जिन्हें विस्मृति हो जाती है वे अदृढ़ ज्ञानी हैं।

दृढ़ ज्ञानियों के भी दो भेद हैं—(१) समाहित दृढ़ज्ञानी, जिन्हें निर्विकल्प समाधि प्राप्त हो चुकी है और (२) असमाहित दृढ़ज्ञानी, जिन्हें केवल सविकल्प समाधि हुई। असमाहित दृढ़ज्ञानी को विक्षेप तो रहता है, परन्तु उनके बोध में कोई कमी नहीं रहती। बोध तो दोनों का समान ही होता है। अथवा जिसे निर्विकल्प समाधि के पश्चात् बोध हुआ है वह कृतोपास्ति समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ है और जिसे केवल निष्काम कर्म द्वारा जिज्ञासा होकर बोध हुआ है वह अकृतोपास्ति असमाहित स्थितप्रज्ञ है। अथवा जिसे सांख्ययोग द्वारा श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके विचार से ज्ञान हुआ है वह स्थितधी है और जिसे निष्काम कर्म और निष्काम उपासना द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होने पर भगवत्कृपा से महावाक्य द्वारा ज्ञान हुआ है वह स्थितप्रज्ञ है। वह इतना निष्काम होता है कि ईश्वर कृपा भी नहीं चाहता, फिर भी भगवान् उस पर कृपा करते हैं और उसे ज्ञान प्रदान करते हैं—'ददामि बुद्धियोगं तम्' (१०/१०)।

संगति— यहाँ से ७२ वें श्लोक तक जीवन्मुक्ति का प्रसङ्ग है। किन्तु एक बात ध्यान में रखनी चाहिये कि स्थितप्रज्ञ या गुणातीत के विषय में जो कुछ कहा गया है वह अभ्यास का विषय है बोध का नहीं।

श्री भगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।५५।।

भावार्थ— श्री भगवान् बोले— जब मन में आई हुई संपूर्ण कामनाओं को सर्वथा त्याग देता है और आत्मा से आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है तब उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

व्याख्या—प्रश्न— कामना से यहाँ क्या तात्पर्य है? कामना और वासना में क्या अन्तर है?

उत्तर— विषय-भोग की इच्छा होना ही कामना है। यह दो प्रकार की होती है—काम्यमान और भुज्यमान। किसी वस्तु को सुनकर उसके भोग की इच्छा होना काम्यमान है और वस्तु के सामने होने पर ही भोगने को इच्छा होना भुज्यमान है। यदि वह इच्छा होकर स्वयं ही शान्त हो जाय तो उसे 'कामना' कहेंगे और यदि वह हृदय में बस जाय, उसे पूरा करना ही पड़े तो उसे 'वासना' कहा जायगा। इन कामना और वासनाओं का क्षय अभ्यास से ही होता है।

प्रश्न— सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग करने पर भी कहीं तो राग रहता ही होगा?

उत्तर— ऐसा महापुरुष आत्मानन्द से तृप्त रहता है, क्योंकि इस लोक और परलोक के समस्त बाह्य सुखों को तो वह त्याग देता है। जितने भी मत-मतान्तर, उपासना या भेद-अभेद हैं उन सबका उल्लंघन करके वह आत्मा में सन्तुष्ट तथा आनन्द के समुद्र में डूबा रहता है। वह नित्य स्वरूपस्थ ही है, क्योंकि बोध होने पर अनात्मा भी आत्मस्वरूप हो जाता है। इसीलिये वह आत्मा से आत्मा में स्थित है। अर्थात् अपने-आप में—स्वमहिमा में स्थित है। यहाँ 'आत्मनि' से स्वस्वरूप और 'आत्मना' से अन्तःकरण समझना चाहिये। कामना केवल ज्ञान से दूर नहीं होती, ब्रह्माभ्यास से दूर होती है। इसलिये 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' ऐसा कहकर आत्मरति को ही कामना-निवृत्ति का साधन बताया गया है। अर्थात् जिसे आत्मरति है वही समाधिस्थ स्थिप्रज्ञ है।

प्रश्न—कामना का उदय होना वस्तु का स्वभाव है या व्यक्ति का?

उत्तर— यदि वस्तु का स्वभाव हो तो काम्य वस्तु सभी को प्रिय लगनी चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता। एक ही वस्तु में किसी को राग और किसी को वैराग्य देखने में आता है। यदि व्यक्ति का स्वभाव मानें तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि एक ही व्यक्ति की एक स्त्री में कामबुद्धि और दूसरी में घृणाबुद्धि देखी जाती है। इससे सिद्ध होता है कि कामना न विषय में है न व्यक्ति में, वह तो आसक्ति या अविचार में है। भोगजन्य संस्कारों से इसकी उत्पत्ति होती है। कामना को विचार द्वारा ही रोका जा सकता है। जैसे किसी को खिलौना लेने की इच्छा हो तो ऐसा विचार होने पर कि वह केवल मिट्टी ही तो है वह उसके आकर्षण से मुक्त हो सकता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण वस्तुओं का कारण आकाश ही है—ऐसा ज्ञान होने पर बोधवान् को किसी की भी इच्छा नहीं रहती। अथवा चराचर में स्वरूप-दृष्टि रहने के कारण भी उसमें कामना नहीं रहती।

संगति— उपर्युक्त श्लोक का सम्बन्ध निवृत्तिनिष्ठ तत्त्ववेत्ता से है। अगले श्लोक में प्रवृत्तिपरायण सिद्ध के लक्षण बतलाये जाते हैं। इसके द्वारा अर्जुन के दूसरे प्रश्न का कि वह किस प्रकार बोलता है, उत्तर दिया गया है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।।५६।।

भावार्थ—[आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक—तीनों प्रकार के] दुःख उपस्थित होने पर जो उद्विग्न नहीं होता और सुखों में भी जिसकी लोलुपता नहीं है तथा जिसके राग भय और क्रोध समाप्त हो गये हैं वह स्थितधी मुनि कहा जाता है।

व्याख्या— वह सुख-दुःख से चलायमान नहीं होता, शान्त ही रहता है— यही उसका बोलना है। अर्थात् ऐसी स्थिति में वह मौन रहता है। दुःखों में वह इसलिये उद्विग्न नहीं होता क्योंकि उसकी वृत्ति निरन्तर आत्माकार रहती है। तथा सुख में उसको इसलिये इच्छा नहीं होती क्योंकि सभी को वह नाशवान् देखता है; जैसा कि कहा है—

रम्ये धनेऽथ दारादौ हर्षस्यावसरो हि कः।
वृद्धायां मृगतृष्णायां किमानन्दो जलार्थिनाम्॥

अर्थात् रमणीक पदार्थों में, धन में और स्त्रियों में भला हर्षित होने का क्या कारण है? जिन्हें जल की आवश्यकता है उन्हें मृगतृष्णा की वृद्धि हो जाने से क्या सुख होगा। इसी विचार के कारण बोधवानों को सुख की इच्छा नहीं होती, किन्तु अविचारी की इच्छा सुख-सामग्री मिलने पर और भी बढ़ जाती है जैसे कि घृत डालने से अग्नि।

वह वीतराग है, क्योंकि आत्मानुरागी है, इसलिये संसार में उसका राग नहीं है। वह निर्भय है, क्योंकि आत्मा अविनाशी है तथा अन्य वस्तुओं का अत्यन्ताभाव है। उसे क्रोध नहीं होता, क्योंकि क्रोध इच्छा की पूर्ति न होने पर ही होता है और उसकी दृष्टि से स्वसत्ता से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं, फिर वह किसकी इच्छा करेगा। जिसकी दृश्य में सत्यत्व, सुखत्व तथा रमणीयत्व बुद्धि होती है उसीको सुख की इच्छा और रागादि होते हैं। जिसमें ये नहीं होते वही स्थितधीः है और स्थितधीः होने से वह मुनि है। वह निरन्तर सबका अत्यन्ताभाव देखता है, अथवा जो भी सुना या देखा जाता है उस सबको वह ब्रह्म ही देखता है। वह राग-द्वेष आदि चर्चा ही नहीं आने देता, इसलिये वह स्थितधीः और मुनि है।

इस श्लोक में असमाहित-चित्त तत्त्ववेत्ता के लक्षण बतलाये गये हैं। परन्तु चित्त समाहित न होने पर भी उसके ज्ञान में कमी नहीं होती। स्थितधी व्यवहार भी करता है और उसे सुख-दु:ख भी अनुभव होते हैं, परन्तु राग, भय या क्रोधादि उसमें नहीं होते। ७१वें श्लोक में समाहित-चित्त वाले बोधवान् के लक्षण बतलावेंगे। उसे तो इनकी प्रतीति भी नहीं होती। वह तो शरीर क्या, सम्पूर्ण संसार के नष्ट होने पर भी मस्त रहता है। वह रोगादि को भी अपना स्वरूप ही समझता है। इसी प्रकार सुखाकारा वृत्ति के विषय में भी समझना चाहिये। अतः

सुख-दुःख में उसकी समान वृत्ति रहती है। यदि किसी को सुख की इच्छा और दुःख में घबराहट होती है तो समझना चाहिये कि उसे ज्ञाननिष्ठा नहीं हुई।

संगति— अगला श्लोक प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों वालों के लिये है। इस में पूर्ण वैराग्यवान् और जीवन्मुक्तों के लक्षण बतलाये हैं—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥५७॥

भावार्थ— जो सर्वत्र स्नेहरहित रहकर शुभ या अशुभ की प्राप्ति होने पर न तो प्रसन्न होता है न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।

व्याख्या— जैसे मिट्टी के पात्र में अण्डी का तेल भर दें तो फिर उसकी कितनी ही सफाई करो उसमें लेशमात्र चिकनाई रह ही जाती है, उसी प्रकार प्रयत्न करने पर और सबसे भले ही राग हट जाय तथापि माता-पिता, गुरु, अपने शरीर और वर्णाश्रमादि में राग का संस्कार रह ही जाता है। किन्तु जिस का चित्त इस प्रकार के स्नेह के संस्कार से भी शून्य है तथा जिसे अपने अनुकूल या प्रतिकूल भोजन, वस्त्र एवं स्नानादि की प्राप्ति में न हर्ष होता है न खेद, उसकी बुद्धि स्थिर है तथा उसी को ज्ञाननिष्ठा होती है।

ज्ञाननिष्ठा के तीन साधन हैं— तीव्र वैराग्य, तीव्र जिज्ञासा और तीव्र तत्परता। परन्तु ये सब भी इन्द्रियनिग्रहपूर्वक होने चाहिये। अन्यथा समाधि में विघ्न हो जायगा। अतः सर्वदा इन्द्रियों को उनके विषयों से रोकता रहे और रागी पुरुषों का सङ्ग कभी न करे, क्योंकि राग भी इतना बुरा नहीं है जितना कि रागी पुरुषों का सङ्ग है, जैसे धूप की अपेक्षा धूप से तपी हुई बालू अधिक दुःख देती है। रागी पुरुषों में रहने से ज्ञान तथा ज्ञाननिष्ठा हो ही नहीं सकती। निरन्तर निषेधाकारवृत्ति करता रहे, क्योंकि विषय भोक्ता और भोग्य वस्तुओं का जब तक अत्यन्ताभाव नहीं होगा तब तक राग बना ही रहेगा।

शंका— बोधवान् में स्नेह तथा राग-द्वेष क्यों नहीं होते?

समाधान— विवेकवती प्रज्ञा उत्पन्न होने पर वह स्त्री-पुत्रादि से लेकर ईश्वर पर्यन्त सबको स्वप्नवत् देखता है तथा आत्मा में राग होने के कारण उसका अन्यत्र स्नेह नहीं होता। शुभ-अशुभ को भी उसकी दृष्टि में एक ही सत्ता होती है, इसलिये उसका कहीं राग-द्वेष नहीं होता। स्थितप्रज्ञ, भक्त और गुणातीत के लक्षण प्रायः एक ही हैं, थोड़ा ही अन्तर है। अन्तर केवल इतना है कि ज्ञानी में मैत्री और करुणा नहीं बतायी गयी।

संगति— अगले श्लोक में यह बताते हैं कि वह इन्द्रियों को किस प्रकार विषयों से रोके रहता है, क्योंकि इन्द्रिय संयम न हो तो वैराग्यादि अन्य साधन होने पर भी ज्ञाननिष्ठा नहीं होगी—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५८।।

भावार्थ— जैसे कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है उसी प्रकार जब बोधवान् अपनी इन्द्रियों को सब ओर से इन्द्रियों के विषयों से खींच लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

व्याख्या— यह श्लोक साधन-सम्बन्धी है। परन्तु यह जिज्ञासु का साधन नहीं, बोध हो जाने के पश्चात् निर्विकल्प समाधि प्राप्त करने का साधन है। जो बात साधक को कष्टसाध्य होती है वही सिद्ध को स्वाभाविक होती है।

प्रश्न—यहाँ इन्द्रियों को विषयों से खींचने का क्या तात्पर्य है?

उत्तर— अपने शरीर को भिन्न शरीरवत् देखना अथवा स्वस्वरूप देखना यही इन्द्रियों को विषयों से खींच लेना है, क्योंकि तब अपना पृथक् व्यक्तित्व न रहने के कारण इन्द्रिय और विषयों का भोक्ता-भोग्यभाव नहीं रहता।

संगति— यहाँ शंका होती है कि इन्द्रियों को तो तपस्वी भी रोक सकता है और उसके विषय भी निवृत्त हो सकते हैं, तब जीवन्मुक्त और तपस्वी के इन्द्रिय-संयम में क्या अन्तर है? इसका समाधान अगले श्लोक में करते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥५९॥

भावार्थ— रूप-रस आदि इन्द्रियों का आहार ग्रहण न करने से पुरुष के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनका रस (राग) निवृत्त नहीं होता, किन्तु बोधवान् का तो स्वरूप-साक्षात्कार होने से राग निवृत्त हो जाता है।

व्याख्या— विषय वही हैं जो बन्धन के कारण हों। और विषय तभी बाँधते हैं जब उनमें सत्यत्व सुखत्व और रमणीयत्व बुद्धि हो। विषयों में जिसकी सत्यत्व रमणीयत्वादि-बुद्धि नहीं है उसे विषय नहीं बाँध सकते, उसकी दृष्टि में तो विषयों की सत्ता ही नहीं है।

प्रश्न— इन्द्रियों को विषयों से हठपूर्वक रोकने से क्या विषय निवृत्त नहीं होंगे?

उत्तर— विषय तो निवृत्त हो जायेंगे, परन्तु उनका राग निवृत्त नहीं होगा, उनकी आसक्ति तो बनी ही रहेगी, क्योंकि उनकी सत्ता रहने तक उनमें राग भी बना ही रहता है। वह तो 'परं दृष्ट्वा' स्वरूप-साक्षात्कार होने पर ही निवृत्त होगा। यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि रोगी विवश होकर चालीस-पचास दिनतक निराहार रहता है तो स्वस्थ होने पर इतना खाता है कि पिछली सब कमी पूरी कर लेता है। जो लोग हठपूर्वक मौन रहते हैं वे मौन भंग होने पर पहले से भी अधिक बोलते हैं। नेत्रहीन पुरुष कुछ देख नहीं सकता, किन्तु उसकी देखने की वासना पहले से भीअधिक होती है। इसी प्रकार विवेकशून्य तपस्वी हठपूर्वक विषयों से चित्त को रोकते हैं, परन्तु फिर घोर विषयी हो जाते हैं। अतः विषयों का ठीक-ठीक संयम तो बोधवान् ही कर सकता है, क्योंकि वह उन्हें सत्ताशून्य अथवा अपना स्वरूप ही देखता है, जैसे मरुभूमि की वास्तविकता जान लेने पर उसमें प्रतीत होने वाले जल को पीने की इच्छा नहीं रहती तथा आप ही अपने को भोगने की रुचि नहीं होती।

अतः ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि सब मेरा ही स्वरूप है। इस अभ्यास का अधिकारी वही है जिसे ठीक-ठीक बोध हो गया है, अन्यथा इससे भोगों में फँसने की ही संभावना है। द्रष्टा-दृश्य का विवेक तो बहुतों को हो जाता है, परन्तु 'सब मैं ही हूँ' ऐसा अनुभव किसी विरले ज्ञाननिष्ठ पुरुष को ही होता है। अन्वय का बोध न होने के कारण ही राग-द्वेष बने रहते हैं। जो अपने को ज्ञानी मानकर फिर अभ्यास नहीं करते उनसे पूछा जाय कि उन्हें विषय खींचते हैं या नहीं तो उन्हें स्वीकार करना पड़ेगा कि अवश्य खींचते हैं। अतः 'परं दृष्ट्वा' का अर्थ केवल ज्ञान करें तो ठीक नहीं। विषयासक्ति की निवृत्ति के लिये तो ज्ञान के पश्चात् जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द की प्राप्ति के लिये ब्रह्माभ्यास करना परम आवश्यक है। स्त्री हाड़-माँस ओर मल-मूत्र का थैला है— यह जान लेने पर भी उसकी ओर चित्त खिंच ही जाता है। अतः अभ्यास की बहुत आवश्यकता है।

प्रश्न— यह जानने पर कि अमुक पदार्थ में विष पड़ा है उसे खाने का साहस नहीं होता, किन्तु स्त्री को मल-मूत्र का थैला जान लेने पर भी उसकी ओर मन खिंच जाता है, इसका क्या कारण है?

उत्तर— हमको अनेक जन्मों से काम-क्रोधादि का अभ्यास पड़ा हुआ है, इसलिये विषयों में राग होने के कारण वह धीरे-धीरे निवृत्त होगा। विष का तो हमें अभ्यास नहीं है, इसलिये उसका पता लगते ही उसमें प्रवृत्ति नहीं होती। यह राग बड़ा प्रबल शत्रु है। रुग्णावस्था होने पर जानते हुए भी कुपथ्य कर लेते हैं और अच्छे-अच्छे विद्वान् भी इस दोष से नहीं बच पाते। मेरा चालीस वर्ष का अनुभव है कि अभ्यास के बिना केवल ज्ञान से कोई चित्त को रोक नहीं सकता। शरीर की शान्ति आसन से, वाणी की मौन से, मन की ध्यान से और बुद्धि की शान्ति ज्ञान से होती है। ज्ञान होने पर मन का बोध होता है, नाश नहीं होता। इसलिये उपासक या बोधवान् सभी को मन की

शान्ति के लिये नित्य ध्यान करना होगा। शान्ति आत्मानुराग से होगी, केवल आत्मज्ञान से नहीं। यदि यह जानकर भी कोई अभ्यास नहीं करता तो उससे बड़ा पशु और कौन है।

अनात्मबुद्धिशैथिल्यं फलं ध्यानात् दिने दिने।
पश्यन्नपि न चेद्ध्यायेत् को परोऽस्मात् पशुर्वद।।

संगति—अगले श्लोक में बतलाते हैं कि विवेकी और हठपूर्वक इन्द्रियों को विषयों से रोकने वाले प्रायः इन्द्रियनिग्रह में असमर्थ हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।६०।।

भावार्थ—हे कुन्तीपुत्र! यत्न करने पर भी जिज्ञासु, विवेकी या विद्वान् के मन को ये मन्थन करने वाली इन्द्रियाँ बलात्कार से हरण कर लेती हैं।

व्याख्या— यहाँ मन का हरण यही है कि निदिध्यासन में लगे हुए पुरुष की भी देह-बुद्धि हो जाती है। इन इन्द्रियों में इतना बल है कि समाधि के अभ्यास में लगे विचारवान् के मन को भी बलात्कार से खींच लेती हैं, फिर अविवेकी का तो कहना ही क्या है? वह तो इन्द्रियों का दास ही होता है। इसलिये बोध होने पर जो इन्द्रिय संयम नहीं करते वे बड़ा अनर्थ करते हैं। परन्तु 'बोध' शब्द से यहाँ अदृढ़ बोध समझना चाहिये। दृढ़ बोधवान् पर तो शास्त्र का शासन ही नहीं हैं। शास्त्र तो जिज्ञासु के लिये है। दृढ़ बोधवान् से तो सम्पूर्ण शास्त्र प्रकट ही हुए हैं, उसकी दृष्टि में इन्द्रिय और उनके विषयों की अपने से भिन्न कोई सत्ता ही नहीं है। वह किसका किससे निग्रह करेगा?

संगति—अब अर्जुन के तीसरे प्रश्न 'किमासीत' का उत्तर अगले श्लोक से देते हैं—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६१।।

भावार्थ— उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को विषयों से रोककर जो बोधवान् निरन्तर इष्टकार वृत्ति या आत्माकार वृत्ति करता रहता है, इन्द्रियाँ उसके अधीन हो जाती हैं और उसकी विवेकवती बुद्धि स्थिर हो जाती है।

व्याख्या— ५८ वें श्लोक में कहा है कि जिसकी इन्द्रियाँ वश में होती हैं उसकी बुद्धि स्थिर होती है। ५९ वें श्लोक में कहा कि केवल इन्द्रियनिग्रह से इन्द्रियों के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनका राग निवृत्त नहीं होता। फिर ६०वें श्लोक में कहा है कि कितना ही हठ करो मन विषयों में खिंच ही जाता है। अब ६१ वें श्लोक में कहते हैं कि केवल इन्द्रिय निग्रह से बुद्धि स्थिर नहीं होती, उसके साथ आत्मपरायण भी होना चाहिये। उपर्युक्त ६० और ६१ वें श्लोकों में यह दिखाया है कि इन्द्रियनिग्रहवान् ही ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति कर सकता है।

प्रश्न— ज्ञान हो जाने पर यदि इन्द्रियाँ विषयों में जायें तो इससे आत्मा की क्या हानि है?

उत्तर—ज्ञान अन्तःकरण को होता है और मुक्ति भी अन्तःकरण की ही होती है तथा ध्यान भी अन्तःकरण ही करता है। यदि अन्तःकरण ध्यान नहीं करेगा तो विषयचिन्तन करेगा। इस प्रकार इन्द्रियाँ विषयों में जायेंगी तो संसार का चिन्तन होगा। चिन्तन से वस्तु प्रकट हो जाती है। जिस प्रकार भगवान् का चिन्तन करने से उनका साक्षात्कार हो जाता है उसी प्रकार संसार का चिन्तन करने से संसार में सत्यत्व-बुद्धि हो सकती है और फिर संसार में फँस जाना भी स्वाभाविक है। ऐसा होने पर कोई बलवती वासना जन्म-मरण के चक्कर में भी डाल देगी, क्योंकि वासना ही जन्म का कारण है। जिज्ञासु के लिये तो ज्ञान की इच्छा ही मुख्य है, परन्तु ज्ञान होने पर विषय-चिन्तन की निवृत्ति अर्थात् मनोनाश और वासनाक्षय ही मुख्य है।

जिस प्रकार स्वप्न से जग जाने पर भी उसकी स्मृति बनी रहती है वैसे ही ज्ञान होने पर प्रतीति की निवृत्ति नहीं होती। इसके लिये तो अभ्यास करना होगा। बिना मनोनाश और वासनाक्षय हुए जड़भरत आदि की तरह पुनः जन्म लेना होगा। बिना अभ्यास किये ब्रह्मानन्द की प्राप्ति नहीं होती। जैसे किसी का पिता उसे एक लाख रुपया गड़ा बताकर मर गया, किन्तु जब तक वह खोदकर उसे प्राप्त न करे उसकी दरिद्रता नहीं जा सकती। रुपये के केवल ज्ञान से काम नहीं चलेगा। उसी प्रकार केवल ज्ञान से आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं होती। किसी धनी आदमी को जान लेने से दरिद्रता दूर नहीं होती, उससे प्रेम हो जाय तभी दूर होती है।

संगति— अगले दो श्लाकों में अभ्यास न करने वालों की दशा का वर्णन करते हैं—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥६२॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥६३॥

भावार्थ— शब्दादि विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उनमें आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से कामना (भोगेच्छा) उत्पन्न होती है, कामना [के विघात] से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से मोह (विवेकशून्यता) होता है, मोह से स्मृति मारी जाती है, स्मृति नष्ट होने से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि नष्ट होने से सर्वनाश हो जाता है। अर्थात् जन्म-मरण के चक्कर में पड़ जाता है।

व्याख्या—प्रश्न— यहाँ भगवान् कहते हैं कि विषयचिन्तन करने से जन्म-मरण के चक्कर में पड़ जायगा और अध्याय ९ श्लोक ३१ में कहेंगे 'न मे भक्तः प्रणश्यति' (मेरे भक्त का नाश नहीं होता) इनकी संगति कैसे लगेगी?

उत्तर— यह तो ठीक ही है। विषय-चिन्तन करेगा तो जन्म-मरण के चक्कर में पड़ेगा और जो भगवच्चिन्तन या आत्मचिन्तन

करेगा उसका जन्म-मरण नहीं होगा। अब इस शंका का समाधान करते हैं कि यदि विषयचिन्तन नहीं करेगा तो व्यवहार कैसे चलेगा-

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।६४।।

भावार्थ— राग-द्वेष से रहित और अपने वश में की हुई इन्द्रियों से विषयों का सेवन करता हुआ संयतचित्त पुरुष शान्ति प्राप्त करता है।

व्याख्या— विषयों को राग-द्वेष रहित होकर भोगना ही इन्द्रियों की शुद्धि है। राग-द्वेष से चित्त दूषित और पराधीन हो जाता है। किन्तु राग-द्वेष से बच वही सकता है जिसको संसार मनोराज्य जान पड़ता है और उसी को शान्ति प्राप्त होती है।

संगति— अब चित्त की शान्ति से प्राप्त होने वाला फल बतलाते हैं—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।६५।।

भावार्थ— चित्त की शान्ति से इसके सब दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। तथा प्रसन्नचित्त वाले की बुद्धि शीघ्र ही निश्चल हो जाती है।

व्याख्या— यहाँ जिस बुद्धि का उल्लेख है वह विज्ञानमय कोष वाली बुद्धि नहीं है, अपितु सत् और असत् का विवेक करने वाली बुद्धि है, क्योंकि विज्ञानमय कोष वाली बुद्धि तो घट-पट आदि विषयों का ही निश्चय कराती है। यहाँ मुमुक्षु के लिये तीन कर्त्तव्य कहे गये हैं— (१) इन्द्रियों का उनके विषयों से वैराग्य, (२) राग-द्वेष का त्याग और (३) समाधि का अनुष्ठान। जब तक विषयों से सम्बन्ध नहीं छूटेगा तब तक चित्त प्रसन्न नहीं होगा और न शान्ति ही होगी। शान्ति के बिना ब्रह्माकार वृत्ति नहीं हो सकती और वृत्ति ब्रह्माकार हुए बिना जीवन्मुक्ति का विलक्षण आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। तथा जीवन्मुक्ति हुए बिना विदेहमुक्ति भी नहीं हो सकती। ये परम्परा से एक-दूसरे के कारण हैं। भगवान् का अभिप्राय यह है कि चाहे कितना भी पठन-

पाठन करो, जब तक ब्रह्माभ्यास नहीं करोगे तब तक तुम्हें ज्ञाननिष्ठा नहीं हो सकती। इसी की पुष्टि अगले श्लोक में करते हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥६६॥

भावार्थ— असंयमी पुरुष को न तो बुद्धि होती है न भावना होती है। और भावनाशून्य को शान्ति नहीं मिल सकती। फिर अशान्त को सुख भी कहाँ।

व्याख्या— जिन्होंने शान्ति, दान्ति, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान और समाधि आदि साधन प्राप्त नहीं किये वे अशान्त हैं। अथवा जो शान्त-दान्त तो हैं परन्तु ध्यान नहीं करते, अभ्यास में लगे हुए नहीं हैं, धारणा रहित हैं अर्थात् जो जानते तो सब हैं, परन्तु उसको आचरण में नहीं लाते, वेदान्त का श्रवण करते हैं और समझाने में भी कुशल हैं, परन्तु अभ्यास नहीं करते हैं। ऐसे अयुक्त-अनिश्चयात्मा पुरुषों में विवेकवती बुद्धि नहीं होती, प्रत्यक् दृष्टि नहीं होती और उन्हें आत्मसाक्षात्कार भी नहीं होता, क्योंकि वे सब शरीरों को अपना ही शरीर नहीं देखते तथा अपनी और अन्य सबकी बुद्धियों को एक सत्ता में नहीं देखते। ऐसे अयुक्त पुरुषों को स्वरूपनिष्ठा या आत्मरति प्राप्त नहीं होती। आत्मरति या आत्मभावना के बिना शान्ति नहीं होती और अशान्त या अनात्मा में आत्मबुद्धि रखने वाले द्वैतदर्शी को सुख प्राप्त नहीं हो सकता। अतः सुख प्राप्ति के लिए आत्म-निष्ठा के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार का चिन्तन न करे। यही अभ्यास गीता ६/२५ में 'न किञ्चदपि चिन्तयेत्' इन शब्दों में कहा है। भगवान् वशिष्ठजी भी कहते हैं—

ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
असङ्कल्पः परं श्रेयः स किमर्थं न भाव्यते॥
न किञ्चिच्चिन्तयेद्योगी सदा शून्यपरो भवेत्।
न किञ्चिच्चिन्तनादेव परमात्मा प्रकाशते॥

अर्थात् मैं हाथ उठाकर घोषणा कर रहा हूँ, किन्तु मेरी बात कोई नहीं सुनता। सङ्कल्प न करना ही परम कल्याणकारक है, उसी का अभ्यास क्यों नहीं किया जाता। योगी कभी कोई चिन्तन न करे, सदा शून्य से जो परे है उस पर दृष्टि रखे। कुछ भी चिन्तन न करने से ही परमात्मा का प्रकाश हो जाता है।

संगति— अगले श्लोक में यह बताते हैं कि समाधि की आवश्यकता क्यों है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥६७॥

भावार्थ— जल में जिस प्रकार वायु नाव को हर कर जहाँ चाहता है ले जाता है उसी प्रकार जब इन्द्रियों के चलायमान होने पर मन भी उसके साथ लग जाता है तो वह इनकी बुद्धि को हर लेता है अर्थात् विचलित कर देता है।

व्याख्या— अपनी निष्ठा को छोड़कर दूसरी ओर प्रवृत्त होना ही बुद्धि का हरण है अभ्यास न करने से स्वच्छन्द विचरने वाला मन विद्वान् की प्रज्ञा को भी लोकवासना, शास्त्र वासना, उपासना, कर्मकाण्ड या परोपकार आदि में लगा देता है। इसलिये सर्वदा आत्मचिन्तन और आत्मकथन में ही लगा रहे।

संगति— यहाँ तक स्थितिप्रज्ञ का प्रसङ्ग चल रहा था। अब अगले श्लोक में 'तस्मात्' शब्द से आरम्भ करके उसका उपसंहार करते हैं। यहाँ जीवन्मुक्ति का प्रसङ्ग है, अतः सिद्ध पुरुषों की स्थिति बतलायी गयी है—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६८॥

भावार्थ— इसलिये हे महाबाहो! जिसकी इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों से सब प्रकार रोकी हुई रहती हैं उसकी बुद्धि स्थिर होती है [तथा उसे ही ज्ञाननिष्ठा सिद्ध होती है]।

व्याख्या— बोध होने पर कामादि शत्रुओं को जीतने के लिये सदा तत्पर रहे। इसीलिये यहाँ अर्जुन को 'महाबाहो' कहकर सम्बोधन किया है क्योंकि यहाँ शत्रु विजय का प्रसङ्ग है और विषय-वासनाओं को जीतने में अर्जुन वीर था ही। एक बार अर्जुन देवलोक में गया था। वहाँ उर्वशी अप्सरा ने उनके पास जाकर सम्भोग की इच्छा व्यक्त की, किन्तु अर्जुन ने उनसे माता कहकर उसका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। इससे चिढ़कर उर्वशी ने अर्जुन को शाप भी दे दिया। यह प्रसङ्ग महाभारत में आया है।

इस श्लोक से यह निश्चित होता है कि स्थितप्रज्ञ होने के लिये इन्द्रियनिग्रह की बहुत आवश्यकता है। दृढ़ बोधवान् को तो कोई भी विषय नहीं खींच सकता, क्योंकि वह सबको सत्ता-शून्य देखता है। उसे विषयों में सत्यत्व और रमणीयत्व बुद्धि नहीं होती। उसका आत्मा में ही अनुराग होता है।

संगति— अब आगे संयमी के लक्षण बतलाते हैं और यह भी दिखलाते हैं कि ज्ञानी और अज्ञानी में क्या अन्तर है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥६९॥

भावार्थ— सम्पूर्ण प्राणियों की जो रात्रि है उसमें संयमी (अभ्यासी) जागता है और सब प्राणी जिसमें जागते हैं तत्त्वदर्शी मुनि की वह रात्रि है।

व्याख्या— यहाँ भगवान् अर्जुन के तीसरे प्रश्न का कि उस का बैठना कैसा होता है, उत्तर दे रहे हैं। वे कहते हैं कि वह अज्ञानरूपी रात्रि में सोया रहता है और स्वरूपनिष्ठा-रूपी दिन में जागता है। अथवा 'पहले पहर में सब कोई जागे, दूजे पहर में भोगी। तीजे पहर में रोगी जागे, चौथे पहर में योगी' इस उक्ति के अनुसार वह रात्रि के अन्तिम भाग में जागता है। यहां 'योगी' शब्द से भजनानन्दी या अभ्यासी समझना चाहिये। योगी के लिये भजन ही जागना है तथा विषयचिन्तन ही सोना है। अथवा जगदाकार वृत्ति सोना है और

इष्टाकार वृत्ति जागना है। संसारी पुरुषों को जैसे भगवान् और भगवच्चिन्तन रात्रि है, वैसे ही भजनानन्दी के लिये संसार और उसके धन्धे रात्रि है। अविवेकी पुरुषों के लिये परमात्मा का ज्ञान निशा है और संसार का प्रपञ्च दिन है। इस परमात्मज्ञान-रूपी निशा में अविवेकी सोते हैं। और विवेकी जागते हैं अथवा सम्पूर्ण संसार कर्मरूप या क्रियात्मक है और ज्ञानी कर्म को निशारूप देखता है, क्योंकि बोध होने पर कर्म होते नहीं, जैसा कि कहा है—'कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हें' परन्तु इसका भाव यह नहीं है कि ज्ञानी जड़ हो जाता है। वह तो कर्म करते हुए भी अपने को अकर्ता और भोगते हुए भी अपने को अभोक्ता अनुभव करता है। अथवा सम्पूर्ण कर्मों को भी अपना स्वरूप ही देखता है। इसलिये कर्मों की ओर से वह सोया रहता है। ज्ञानी को द्वैत-रूपी रात्रि की प्रतीति भी नहीं होती। इसलिये अद्वैतनिष्ठारूपी दिन में वह जागता रहता है। जैसे लड़की बाल्यावस्था में माता-पिता, भाई इत्यादि सभी को मानती है, परन्तु तरुणावस्था में विवाह हो जाने पर केवल पति को ही अपना सर्वस्व समझती है इसी प्रकार विद्वान् बोध होने पर द्वैतरूप सम्बन्धियों को भूलकर केवल आत्मानन्द में ही मग्न रहता है।

अब तक विभिन्न श्लोकों में स्थिप्रज्ञ और स्थितधी के लक्षण कहे। परन्तु इस श्लोक में दोनों के ही लक्षण बतलाये हैं। यहाँ 'संयमी' स्थितप्रज्ञ का वाचक है और 'मुनि' स्थितधी का। संयमी और मुनि वास्तव में तो एक ही कोटि में हैं, अन्तर केवल इतना है कि संयमी अभ्यासी (समाधिनिष्ठ) को कहते हैं और मुनि विचारवान् मननशील को। अभ्यास में कर्ता रहता है, इसलिये संयमी के साथ जागना कहा है और मुनि केवल द्रष्टामात्र होता है, इसलिये उसके साथ जागना न कहकर 'पश्यतः' देखने वाला कहा है। अर्थात् 'संयमी' शब्द से जीवन्मुक्त और 'मुनि' शब्द से तत्त्ववेत्ता समझना चाहिये।

इस श्लोक में विदेह-कैवल्य का स्वरूप बतलाया है। संयमी या जीवन्मुक्त विषयों की ओर से इतना सोया रहता है कि उसे

विषयचिन्तन का भान ही नहीं होता। उसकी कभी जगदाकार वृत्ति नहीं होती। अर्थात् विदेह-कैवल्य के लिये ऐसा अभ्यास करे कि विषयों की अप्रतीति हो जाय। यह निर्विकल्प अवस्था का वर्णन है। जब उत्थान होता है तब क्या स्थिति होती है—यह बात अगले श्लोक में बताते हैं और इसीमें ६९ वें श्लोक में बतायी गयी स्थिति का फल भी बतलाते हैं—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं—
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे—
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।७०।।

भावार्थ— जैसे नदियों द्वारा सब ओर से भरे जाने पर भी अपनी मर्यादा में रहने वाले समुद्र में नदियों का जल प्रवेश करता रहता है उसी प्रकार जिसमें सम्पूर्ण कामनाएं प्रवेश कर जाती हैं वही शान्ति प्राप्त करता है, कामनाएं करने वाला नहीं।

व्याख्या— अर्थात् जैसे नदियों के जल से समुद्र बढ़ता नहीं और बादलों के रूप में जल खींच लिये जाने पर घटता नहीं, उसी प्रकार बोधवान् की सब कामनाएं लीन हो जाती हैं, उन के द्वारा उसमें किसी प्रकार का ह्रास या विकास नहीं होता। वह सर्वदा एकरस रहता है।

प्रश्न—उसमें कामनाएँ क्यों नहीं उठतीं?

उत्तर— जिस प्रकार जल की न्यूनाधिकता होने पर समुद्र घटता-बढ़ता नहीं है, समान ही रहता है, उसी प्रकार समाधि में तो उसका चित्त शान्त रहता ही है, व्युत्थान होने पर भी शान्त ही रहता है। उसके सामने कैसे ही दिव्यातिदिव्य पदार्थ आ जायँ वह चलायमान नहीं होता, क्योंकि बोध होने से पूर्व वह जिन पदार्थों की इच्छा करता था वे अब सत्ताशून्य और असार जान पड़ते हैं, अतः वह उनकी कामना कैसे करे। अथवा अब उसे कोई भी वस्तु अप्राप्य नहीं है, क्योंकि सब उसी में अध्यस्त है, अतः भेद-दृष्टि न रहने के कारण उसमें किसी वस्तु की कामना या वासना नहीं रहती।

यहाँ समुद्र की उपमा इसलिये दी गयी है कि जो संसार से सोया हुआ है वह कामनारूप नदियों के प्रवेश करने पर भी शान्त ही रहता है। इस प्रकार श्लोक ६१ से ६९ तक चौवनवें श्लोक के तीसरे प्रश्न 'किमासीत' का उत्तर देते हुए यहाँ उस का उपसंहार करते हैं। उसकी शान्ति किसी प्रकार भी भंग नहीं होती। यही उसका बैठना या स्थिति है।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।।७१।।

भावार्थ—जो पुरुष इहलोक और परलोक की सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममता और अहंकार से शून्य होकर विचरता है वह शान्ति को प्राप्त होता है।

व्याख्या— यह श्लोक निवृत्तिनिष्ठ तत्त्ववेत्ता के लिये है। इसमें संन्यास का प्रतिपादन किया गया है। अध्याय ६/२४ में भी 'सर्वान्' शब्द आया है। परन्तु वहाँ योगी का सर्वत्याग बताया गया है। इस श्लोक में समाहित चित्तवाले तत्त्ववेत्ता के लक्षण है। स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का उपक्रम ५५ वें श्लोक से हुआ था। यहाँ उनका उपसंहार हो गया। यहाँ यह बतलाया है कि स्थितप्रज्ञ इस प्रकार विचरता है कि उसमें पुत्रैषणा वित्तैषणा या लोकषणा कोई भी कामना नहीं रहती। ये तीनों कामनाएँ संन्यासी की ही छूट सकती हैं। इसका विशेष विवरण अठारहवें अध्याय के उनचासवें, और पचासवें श्लोक में आया है, इस अध्याय के ५५ और ७२ वें श्लोकों से भी इस श्लोक की एकवाक्यता है। यही बात छठे अध्याय के अठारहवें श्लोक में भी आयी है। जहाँ-कहीं भी कामनाओं के त्याग की बात आई है वहाँ उनके साथ 'सर्व' शब्द अवश्य आता है। यह 'सर्व' शब्द निःशेष का वाचक है। अर्थात् उसकी कामनायें सर्वथा निर्मूल हो जाती है। यही शान्त पुरुष का मुख्य लक्षण है। यहाँ ७१ और ७२ दोनों श्लोकों में यह दिखलाया है कि जब तक विषयों का चिन्तन, दर्शन और भाषण नहीं छूटता तब तक किसी का कल्याण नहीं हो सकता। जो अपने को सांख्योक्त तुष्टियों

के कारण कृतकृत्य मानकर साधन छोड़ बैठते हैं और अपने को सिद्ध मानने लगते हैं, वे अवश्य पतित हो जाते हैं। इसलिए जब तक इन तीनों एषणाओं का सर्वथा त्याग न हो तब तक मोक्ष के लिए साधन करता रहे।

जो सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग देता है वह सर्वथा निःस्पृह और निर्भय होता है। संसार में बड़े से बड़ा उपद्रव हो, वर्षा-सूखा, गर्मी-सर्दी कैसा भी द्वन्द्व हो, वह किसी से विचलित नहीं होता। उसे कैसा भी प्रलोभन दिया जाय वह लुभायमान नहीं होता। वह निःस्पृह क्यों है, क्योंकि बोध होने पर उसको कुछ पाना शेष नहीं रहता। उसे 'पुमान्' क्यों कहा है? क्योंकि वास्तव में यति या तत्त्ववेत्ता ही सच्चा पुरुष होता है, उसीका प्रकृति से सम्बन्ध-विच्छेद होता है। और सब तो प्रकृति के दास ही होते हैं। उसको निर्मम क्यों कहा है? क्योंकि देह के धर्म, देह के कर्म, देह के आचार और देह के सम्बन्धी स्त्री-पुत्रादि में उसकी ममता नहीं रहती। तथा जाति और विद्या का भी अभिमान नहीं रहता, इसलिये वह निरहङ्कार होता है। इस प्रकार कामनाशून्य तथा निर्मम और निरहङ्कार होने के कारण वह शान्ति को प्राप्त होता है, क्योंकि वह सम्पूर्ण चराचर को ब्रह्ममय देखता है। सब उसी का है अथवा सर्वरूप में वही है। यह 'व्रजेत् किम्' का उत्तर हुआ।

संगति—अब अगले श्लोक में यह बताते हैं कि जिसे बोध प्राप्त हो जाता है उसे फिर अज्ञान नहीं होता और वह मुक्त हो जाता है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥७२॥

भावार्थ— पार्थ! यही ब्राह्मी स्थिति है। इसे प्राप्त कर लेने पर फिर मोह नहीं होता। अन्तकाल में भी इस स्थिति में स्थित होने पर ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।

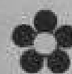
व्याख्या— सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर निरन्तर आत्माकार वृत्ति में स्थित रहना ही ब्राह्मी स्थिति है। यह अन्तकाल में एक क्षण

को भी प्राप्त हो जाय तो फिर अज्ञान या अज्ञान के कार्य जन्म-मरणादि नहीं होते। बोधवान् का किसी में राग नहीं होता, इसलिए उसकी देहादि में अहंबुद्धि और स्त्री-पुत्रादि में ममबुद्धि नहीं होती। वह ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् जीवत्व की उपाधि से मुक्त होकर ब्रह्मस्वरूप में स्थित हो जाता है। देहत्याग के समय भी ऐसी स्थिति हो जाय तो राजा खट्वांग के समान उसकी मुक्ति हो जाती है।

प्रश्न—ब्राह्मी स्थिति और बोध में क्या अन्तर है?

उत्तर— सम्पूर्ण दृश्य को सत्ताशून्य अनुभव करते हुए अपने को उससे अलग देखना 'ब्राह्मीस्थिति' है और 'सब मैं ही हूँ' यह बोध है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥२॥



ॐ

श्री परमात्मने नमः
श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः

अथ तृतीयोऽध्यायः

संगति— द्वितीय अध्याय में भगवान् ने स्थितप्रज्ञ के जितने भी लक्षण बतलायें हैं वे संन्यासी में ही घट सकते हैं। इसलिए उन्हें संन्यासी के लिये ही समझना चाहिये। जगद्‌गुरु श्री शङ्कराचार्यजी का सिद्धान्त है कि निष्काम कर्म और निष्काम उपासना से अन्तःकरण शुद्ध होता है, अन्तःकरण शुद्ध होने पर तीव्र जिज्ञासा होती है और तीव्र जिज्ञासा से तीव्र वैराग्य उत्पन्न होता है, तब संन्यास ग्रहण किया जाता है। संन्यास के पश्चात् श्रवण का अधिकारी होता है, क्योंकि 'संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्' ऐसी शास्त्र की विधि है। जब अधिकारी होकर वेदान्त श्रवण करता है तो गुरुदेव महावाक्य का उपदेश करते हैं। उससे ज्ञान होता है। ज्ञान होने पर ब्रह्मभ्यास के द्वारा जीवन्मुक्ति का विलक्षण आनन्द प्राप्त करता है। तब विदेह मुक्ति होती है। यही दूसरे अध्याय में बतलाया है और यही योगवासिष्ठ में कच को बृहस्पतिजी ने और रामगीता में लक्ष्मणजी को श्रीराम ने बताया था कि कैवल्य मुक्ति तो तत्त्व ज्ञान से ही होती है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वे' से विवेक का प्रतिपादन आरम्भ किया। 'नासतो विद्यते भावो' से सजातवाद का निरूपण किया। 'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽय' आदि से ज्ञानी गुरु की दुर्लभता बतायी। 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्यं' आदि से आत्मा को अविनाशी बतलाया। 'आश्चर्यवत्पश्यति' आदि से यह बतलाया कि भद्र पुरुष कभी कुमार्ग में नहीं जाता। 'भोगैश्वर्यप्रसक्तानां' आदि से यह संकेत किया कि विषयासक्त को ज्ञान नहीं होता। 'दूरेण ह्यवरं कर्म' आदि से कर्म को ज्ञान का साधन कहा। फिर निष्काम कर्म की श्रेष्ठता बतलायी और अन्त में स्थितप्रज्ञ का प्रकरण कहा। फिर निष्काम कर्म की श्रेष्ठता बतलायी और अन्त में स्थितप्रज्ञ का प्रकरण कहा। उसमें

अभ्यास की विशेषता बतलायी, जिससे ज्ञान के अभिमान में किसी प्रपञ्च में न फँस जाय। और कहा कि जब तक शरीर रहे विदेहकैवल्यपर्यन्त अभ्यास करता रहे। इस प्रकार इस अध्याय में निवृत्ति मार्ग की मुख्यता कहते हुए सांख्ययोग का वर्णन किया। अर्थात् यह स्पष्ट किया कि गीता निवृत्तिपरक है। ज्ञान अन्तःकरण की शुद्धि के बिना हो नहीं सकता, इसलिये अब तीसरे अध्याय में अन्तःकरण-शुद्धि के लिए कर्म का प्रतिपादन करेंगे। द्वितीय अध्याय में पहले सांख्ययोग और फिर निष्काम कर्म का प्रतिपादन किया तथा दोनों निष्ठाओं में ज्ञाननिष्ठा को श्रेष्ठ बतलाया। इसलिये अर्जुन को शङ्का हुई कि जब आप ज्ञानयोग को श्रेष्ठ बतलाते हैं तो कर्मयोग में क्यों प्रवृत्त करते हैं, क्योंकि कर्म में तो कष्ट ही होता है–

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥१॥

भावार्थ– अर्जुन बोला– जनार्दन! यदि आपके विचार से कर्मयोग की अपेक्षा बुद्धियोग (ज्ञानयोग) श्रेष्ठ है तो हे केशव! मुझे घोर (युद्धरूप हिंसात्मक) कर्म में क्यों लगाते हैं?

व्याख्या—इसके उत्तर में भगवान् ने कई स्थानों में ऐसा भी कहा है कि निष्काम कर्म करते हुए भी मनुष्य को परमश्रेय (मोक्ष) की प्राप्ति हो जाती है। परन्तु भिन्न-भिन्न निष्ठावाले अपने-अपने अनुयायियों की निष्ठा दृढ़ करने के लिये उनका अपने-अपने सिद्धान्तनुसार अर्थ करते हैं। ज्ञाननिष्ठा वाले उनका ज्ञानपरक अर्थ लगाते हैं। और कर्मनिष्ठा वाले कर्म परक। भगवान् ने स्वयं न किसी को छोटा कहा है न बड़ा। परन्तु प्रसंगानुसार कहीं ज्ञाननिष्ठा को श्रेष्ठ बतलाया है, जैसे अध्याय २ श्लोक ४७ में। इसप्रकार मिले हुए से वचन सुनकर अर्जुन किंकर्त्तव्यविमूढ हो गया और भगवान् से बोला–

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥२॥

भावार्थ— आप मिले हुए से वचन बोलकर मेरी बुद्धि को मोहित-सी कर रहे हैं अत: निश्चय करके कोई एक बात कहिये जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो सकूँ।

व्याख्या— उपर्युक्त वाक्य कहकर परम श्रेय की प्राप्ति के लिये अर्जुन चार पक्ष प्रस्तुत करता है—

(१) आत्यन्तिक श्रेय केवल ज्ञान से हो सकता है।
(२) आत्यन्तिक श्रेय केवल कर्मयोग से हो सकता है।
(३) आत्यन्तिक श्रेय कर्मज्ञान-समुच्चय से हो सकता है।
(४) आत्यन्तिक श्रेय कर्म औ. ज्ञान के क्रमसमुच्चय से होता है। अर्थात् कर्म द्वारा अन्त:करण की शुद्धि और फिर जिज्ञासापूर्वक ज्ञान होने पर मोक्ष होता है।

श्री भगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥३॥

भावार्थ— श्रीभगवान् बोले—हे अनघ! इस श्लोक में मेरे द्वारा पहले (सृष्टि के आरम्भ में वेदरूप से) दो निष्ठाएँ कही गयी हैं—सांख्य वालों के लिये ज्ञानयोग की निष्ठा और योगियों के लिये कर्मयोग की निष्ठा।

व्याख्या— भगवान् ने अर्जुन को यहाँ 'अनघ' कहकर सम्बोधन किया है। इससे पहले यह सम्बोधन कहीं नहीं आया अब दूसरे अध्याय में ज्ञान का प्रकरण सुनकर अर्जुन निष्पाप हो गया है, इसलिये यह सम्बोधन सार्थक है। देहत्रय से असंग होने का उपदेश सुन लेने से अब अर्जुन को पूर्ण विवेक हो गया है। यही 'अनघ' होने की पहिचान भी है। जब जिज्ञासा जाग्रत् होने पर खूब तर्क उठने लगे और गुरुवाक्यों को ग्रहण करने की योग्यता भी आ जाय तब समझना चाहिये कि अन्त:करण शुद्ध हो गया। भगवान् यहाँ गृहस्थों के लिये कर्मयोग और संन्यासियों के लिये ज्ञानयोग बतला रहे हैं।

किसी-किसी ने दो निष्ठाएँ ज्ञाननिष्ठा और भक्तिनिष्ठा मानी है, क्योंकि उन्होंने भक्ति को स्वतन्त्र माना है। परन्तु मेरे विचार से तो यहाँ भगवान् का अभिप्राय कर्मयोग और ज्ञानयोग से ही है भक्तिनिष्ठा कर्मयोग के अन्तर्गत ही समझनी चाहिये।

यहाँ ज्ञान के साथ जो 'योग' शब्द आया है। इसका अर्थ ज्ञान के साथ जुड़ना नहीं, मिथ्या ज्ञान का दूर होना है। अर्थात् जिज्ञासा की निवृत्ति ही ज्ञानयोग है।

प्रश्न— यदि श्री शंकराचार्यजी के सिद्धान्तानुसार एक ही निष्ठा है तो भगवान् ने इस श्लोक में दो निष्ठाएँ क्यों कही है?

उत्तर— निष्काम कर्म से अन्तःकरण की शुद्धि होकर मल का नाश होता है और उपासना से विक्षेप की निवृत्ति होती है। ऐसा होने पर ही नैष्कर्म्य की प्राप्ति होती है। इसलिये कर्म और उपासना तो ज्ञान के साधन हैं, निष्ठा केवल एक ही है जो ऊपर कह आये हैं कि बिना संन्यास किये नैष्कर्म्य की प्राप्ति नहीं होती। यही बात अगले श्लोक कहते हैं—

न कर्मणामारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥४॥

भावार्थ— कर्म न करने से ही कोई नैष्कर्म्य (कर्म-बन्धन से मुक्ति) प्राप्त नहीं कर लेता और न संन्यास लेने से ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

व्याख्या— वास्तव में निष्ठा तो एक ही है। किन्तु ज्ञान का साधन होने के कारण भगवान् ने कर्मयोग का भी विशेष रूप से वर्णन किया है, जिस प्रकार अध्याय १३ के ७ वें श्लोक से अमानित्वादि कहकर वर्णन तो ज्ञान के साधनों का किया है, परन्तु 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्' ऐसा कहकर उन्हें ही ज्ञान बतलाया है। यहाँ कर्म करना छोड़ देने से अर्थात् संन्यास ग्रहण करने से ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती— ऐसा कहकर भी भगवान् ने संन्यास आश्रम की निन्दा नहीं की है। इससे केवल यही अभिप्राय है, कि जो केवल संन्यास आश्रम स्वीकार कर

लेने से ही अपने को कृतकृत्य मानते हैं और कहते हैं कि 'दण्डग्रहणमात्रेण नरो नारायणो भवेत्' वह केवल तुष्टि ही है, इससे मोक्ष नहीं होता। कोई संन्यास से, कोई थोड़ा चित्त एकाग्र हो जाने से, और कोई वैराग्य से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। इससे न तो क्रिया की निवृत्ति होती है, न कर्म-बन्धन से छूटकारा मिलता है, क्योंकि प्रकृति के गुण स्वयं कर्म कराते रहते हैं। संन्यास का अर्थ तो राग-द्वेष का त्याग है, उससे भी श्रेष्ठ नाम-रूप का त्याग है और उससे भी बढकर चित्त का त्याग है। ऐसा त्याग तत्त्ववेत्ता ही कर सकता है। अविवेकी से वास्तविक कर्मत्याग हो ही नहीं सकता। यहाँ से आगे ३० वें श्लोक तक कर्मयोग का वर्णन है–

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥५॥

भावार्थ— कोई भी किसी काल में एक क्षण के लिये भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। प्रकृतिजनित गुण सभी को विवश करके कर्म करा लेते हैं।

व्याख्या— जाग्रत् और स्वप्न में जीव कर्ता रहता है तथा सुषुप्ति और मूर्च्छा में प्रकृति ही करने वाली होती है। उन अवस्थाओं में प्रकृति के अधीन ही काम होता है। प्राण और रक्तादि की क्रिया तो सभी अवस्थाओं में होती रहती है। परन्तु निर्विकल्प समाधि में क्रिया नहीं होती। इसलिये यहाँ 'कश्चित्' शब्द समाधिस्थ से भिन्न पुरुष के लिये प्रयोग क्रिया गया है। परन्तु विचारने पर तो निर्विकल्प समाधि में भी क्रिया होती है।

क्रिया दो प्रकार की होती है— विक्षिप्त और शान्त। शान्त अवस्था में क्रिया बीजरूप से रहती है। यदि बीजरूप से भी न रहे तो समाधि से उत्थान होने पर क्रिया नहीं होनी चाहिये। इससे ज्ञात होता है कि समाधि में भी क्रिया रहती तो है, किन्तु मालूम नहीं होती। विक्षिप्त अवस्था में बीजरूप से शान्ति भी रहती है, क्योंकि क्षण-क्षण में स्वरूपस्थिति होती रहती है। केवल श्रौत स्मार्त्त कर्म न करने से ही

ज्ञाननिष्ठा (जीवन्मुक्ति के विलक्षण सुख) की प्राप्ति नहीं होती, इसलिये 'कश्चित्' शब्द का अर्थ 'समाधिस्थ से अतिरिक्त' न करके 'बोधवान् से अतिरिक्त' समझना चाहिये, क्योंकि क्रिया प्रकृति में होती है और बोधवान् प्रकृति से परे है। बोधवान् कार्य क सहित प्रकृति का अत्यन्ताभाव देखता है। आगे अ० ४ श्लोक ३७ में कहेंगे— ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' अर्थात् ज्ञानाग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्मीभूत कर देती है। अतः तत्त्ववेत्ता से कर्म नहीं होते। उसकी दृष्टि में चित्त और संसार ही नहीं तो कर्म किस प्रकार करेगा। इसी दृष्टि को लेकर गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—'कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हें।' अतः कर्मत्याग तो तत्त्ववेत्ता ही करता है।

संगति— अब अगले श्लोक में मलिन अन्तःकरण वालों के लक्षण कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥६॥

भावार्थ— जो कर्मेन्द्रियों को विषयों से रोककर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है वह विमूढात्मा (विवेकशून्य पामर) मिथ्याचारी (पाखण्डी) कहा जाता है।

व्याख्या— दम्भ का कारण वासना है, क्योंकि वासना की पूर्ति के लिये ही दम्भ किया जाता है। 'इन्द्रियों को रोकने' का तात्पर्य है इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाना क्योंकि इन्द्रियाँ तो रोकी नहीं जा सकतीं। बहुत लोगों का ऐसा विचार है कि क्रिया का सर्वथा बन्द हो जाना, अर्थात् किसी वस्तु का भान न होना ही ज्ञान है; परन्तु जगत् की विस्मृति होने से ही कल्याण नहीं होता। विस्मृति तो सुषुप्ति और मूर्च्छा में भी हो जाती है। परन्तु क्रिया उन अवस्थाओं में भी होती रहती है, क्योंकि प्राण और रक्तादि की गति तब भी नहीं रुकती। ज्ञान होने से क्रिया कर्म बन्द नहीं होते, जैसे सुवर्ण का ज्ञान होने पर आभूषणों में कोई अन्तर नहीं आता। इसी प्रकार बोध होने पर शरीर की क्रियाओं में कोई परिवर्तन नहीं होता। क्रिया तो ज्ञानी और अज्ञानी

की एक-सी ही होती है। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि अज्ञानी में जो भाव होता है वही क्रिया होती है। इसके सिवा अज्ञानी की क्रिया आसक्ति-पूर्वक होती है और ज्ञानी की आसक्ति-शून्य। इसी दृष्टि से कहा जाता है कि विवेकी करते हुए भी अकार्ता है। अतः वह सर्वदा मुक्त है, क्योंकि उसकी किसी में आसक्ति नहीं होती। ऐसे ही विवेकी महापुरुष जनकादि थे। कहा भी है—

विवेकी सर्वदा मुक्तः कुर्वतो नास्ति कर्तृता।
अलेपवादमाश्रित्य श्रीकृष्णजनकौ यथा॥

सब ज्ञानियों का शारीरिक व्यवहार भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। वह उनके पूर्व प्रारब्ध या संस्कारों के अधीन है, किन्तु उनका ज्ञान एक ही होता है। श्रीकृष्ण भोगी, शुकदेव त्यागी जनक और राम राजा तथा वसिष्टजी कर्मकाण्डी थे। किन्तु ज्ञान तो पाँचों का समान था—

कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी राजानौ जनकराघवौ।
वसिष्ठः कर्मकर्ता च पञ्चैते ज्ञानिनः समाः॥

अतः ज्ञान स्वसंवेद्य है। उसे अज्ञानी नहीं जान सकते। जो कहते हैं कि बोधकाल में ऐसी क्रिया या अनुभव होता है वे बड़ी भूल में हैं, क्योंकि बोध देश-कालातीत है। इसलिये जो कुछ कहा जाता है वह जिज्ञासु को समझाने के लिये है।

संगति— अब अगले श्लोक में शुद्ध अन्तःकरण वालों के लक्षण बतलाते हैं तथा सोलहवें श्लोक तक कर्म की ही स्तुति करते हैं—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥७॥

भावार्थ— अर्जुन! जो [श्रौत-स्मार्त्त कर्मों का अधिकारी] इन्द्रियों का मन से संयम करके अनासक्त भाव से कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है वह [उन मिथ्याचारियों की अपेक्षा] श्रेष्ठ है।

व्याख्या— इस श्लोक में जो 'विशिष्यते' पद आया है उसका भाव यह है कि मिथ्याचारी (दम्भी संन्यासी) की अपेक्षा इन्द्रियों को नियम में रखने वाला कर्मयोगी श्रेष्ठ है, परन्तु वास्तविक संन्यासी या तत्त्वज्ञानी से नहीं। इन्द्रियाँ सर्वथा रुक नहीं सकतीं, इसलिये 'नियम्य' पद का प्रयोग किया है। इन्द्रिय-संयम विषयों के प्रति राग-द्वेष न होने पर ही होता है, इसलिये संयमी को ही श्रेष्ठ कहा है। यहाँ 'तु' अव्यय उस कर्मयोगी की ओर इंगित करता है जो पिछले श्लोक में बताये विमूढात्मा से भिन्न है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥८॥

भावार्थ—तू नियत (शास्त्रविहित) कर्म कर, क्योंकि अकर्मण्यता से कर्म करना श्रेष्ठ है। अकर्मण्यता से तो तेरी शरीर यात्रा का भी निर्वाह नहीं होगा।

व्याख्या— गीता के अनुसार निष्काम भाव से कर्म करना ही श्रेष्ठ है, केवल काम्य कर्मों का ही त्याग करना चाहिये। शस्त्रोक्त कर्म तो करने ही चाहिये, क्योंकि कर्मों को सर्वथा तो कोई छोड़ ही नहीं सकता, केवल फल को ही छोड़ा जा सकता है। हाँ, संन्यासी स्वरूप से भी कर्मों का त्यागकर सकता है। भाव यह है कि कर्म करना रजोगुण है और अकर्मण्यता तमोगुण। तमोगुण की अपेक्षा रजोगुण श्रेष्ठ है, इसलिये निष्काम भाव से कर्म करना ही श्रेष्ठ है।

संगति— अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि कर्म किस प्रकार करना चाहिये—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥९॥

भावार्थ— यज्ञ के लिये अर्थात् ईश्वर-प्राप्ति के लिये किये जाने वाले कर्मों से अतिरिक्त अन्य काम्य और निषिद्ध कर्म ही इस लोक में बन्धन के कारण है; इसलिये हे कुन्तिनन्दन! तुम आसक्तिरहित होकर भगवत्प्राप्ति के लिए कर्म करो।

संगति—इसी की पुष्टि अगले श्लोक में करते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥१०॥

भावार्थ— सृष्टि के आरम्भ में यज्ञ के सहित प्रजा की रचना करके ब्रह्माजी बोले, 'इस यज्ञ के द्वारा तुम बुद्धि को प्राप्त होओ, यह तुम्हारी इच्छित कामनाओं की पूर्ति करने वाला हो।'

व्याख्या—प्रश्न— श्रोत-स्मार्त्त कर्म तो केवल भारतवर्ष में ही होते हैं। ऐसी स्थिति में यह नियम सार्वभौम तो हो नहीं सकता।

उत्तर— यहाँ केवल श्रोत-स्मार्त्त कर्मों को ही यज्ञ नहीं कहा। 'यज्ञ' शब्द से यहाँ चौदह प्रकार के यज्ञ समझने चाहिये, जिनका वर्णन अ०४ के २८ वें श्लोक से आरम्भ होगा। परन्तु वह सब यज्ञ भी विहित और अविहित रूप से दो प्रकार के हैं। इनमें अविहित यज्ञ तो हमारे द्वारा स्वभाव से ही होते रहते हैं, जैसे आटे में जल छोड़ना, अग्नि में द्रव्य डालना, मुख में ग्रास डालना, इत्यादि। इस प्रकार के यज्ञ तो सभी प्राणी कर रहे हैं। विहित यज्ञ वे हैं जिनमें मन्त्रोच्चारणपूर्वक आहुति दी जाती हैं। वह सूर्यमण्डल में जाती है और वहीं से वर्षा द्वारा वनस्पति और अन्न में आती हैं फिर अन्न से प्राणियों के वीर्य में आती है और उससे जीवों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह सृष्टिचक्र चलता है। इसलिये यज्ञ से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। योग, ज्ञान और जप आदि भी यज्ञ ही हैं, परन्तु यह सृष्टिचक्र से निकालने वाले हैं।

संगति— यज्ञों के द्वारा देवताओं को आहुतियाँ क्यों दी जाएँ और उनके लिये कर्म क्यों किया जाय— यह बात आगे बतलाते हैं—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमावाप्स्यथ॥११॥

भावार्थ— तुम इन श्रौत-स्मार्त्तादि यज्ञों से देवताओं को सन्तुष्ट करो और वे देवता तुम्हें सन्तुष्ट करें। इस प्रकार एक दूसरे को सन्तुष्ट करते हुए तुम सर्वोत्तम श्रेय प्राप्त करोगे।

व्याख्या— यहाँ भगवान् इसलिये कर्म करने की प्रेरणा कर रहे हैं क्योंकि जीवों का कल्याण केवल ज्ञान से ही होता है और ज्ञान, कर्म एवं उपासना द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होने पर ही होता है।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥१२॥

भावार्थ— यज्ञ के द्वारा सन्तुष्ट हुए देवता तुम्हें [स्त्री, पुत्र धन आदि] इच्छित भोग देंगे। उन देवताओं के द्वारा दिये हुए भोगों को जो उन्हें बिना दिये हुए ही भोगता है वह तो चोर ही है।

व्याख्या— वह अपने को इष्ट भोग देने वाले देवताओं के स्वत्व का हरण करता है, इसलिए वह चोर है। अतः देवता और ब्राह्मणों के धन को चुराने वालों को जो पाप लगता है उसी के वे भी भागी होते हैं।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥१३॥

भावार्थ— यज्ञ से बचे हुए अन्न को भोजन करने वाले सत्पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। किन्तु जो (उदरपरायण) पुरुष केवल अपने लिये अन्न पकाते हैं वे तो पापी हैं और पाप ही खाते हैं।

व्याख्या— जो अपने स्वजनों और सेवकादि को भी खिलाकर पीछे भोजन करते हैं वे यज्ञशेष ही भोजन करते हैं। इसलिये पञ्च हत्या आदि पापों से भी मुक्त हो जाते हैं। शास्त्रों में कहा है—

कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी।
पञ्चसूना गृहस्थस्य पञ्चयज्ञात्प्रणश्यति॥

अर्थात् ऊखल, चक्की, चूल्हे, जल रखने के स्थान और झाड़ू— इन पाँच के द्वारा गृहस्थ से हत्या होती है, जो पञ्चयज्ञों से निवृत्त होती है। अतः इन्हें दूर करने के लिये पञ्चयज्ञ करने चाहिये।

संगति— इस श्लोक से यह निश्चय होता है कि यज्ञशेष अन्न ग्रहण करने से बुद्धि शुद्ध होती है। इससे केवल यही फल मिलेगा या कुछ और भी, इसका समाधान तथा यज्ञ की आवश्यकता अगले श्लोक से बताते हैं—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।१४।।

भावार्थ— यज्ञ से ही सब प्राणी होते हैं, क्योंकि मेघ से अन्न होता है [और अन्न के द्वारा वीर्य से सब प्राणी होते हैं]। मेघ यज्ञ से होते हैं और यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है।

व्याख्या— श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा सम्पन्न किये हुए विहित यज्ञों के धुएँ से मेघ, मेघ से वर्षा, वर्षा से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से प्राणियों की उत्पत्ति होती है। इसीलिये मेघ का नाम 'धूमयोनि' है। अर्थात् संस्कारित धुएँ से मेघ होते हैं। इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति में यज्ञ से सहायता मिलती है। यहाँ 'भूतानि' शब्द का अर्थ जीव न करके शरीर समझना चाहिये, क्योंकि जीव तो पैदा होने वाली वस्तु नहीं है। अगले श्लोक में कर्मों की उत्पत्ति वेद से बतायी है—

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।१५।।

भावार्थ— कर्म को तुम ब्रह्म (वेद रूप ब्रह्म) से उत्पन्न हुआ जानो। वेद अक्षर (परमात्मा) से उत्पन्न हुआ है। अतः वह सर्वगत ब्रह्म ही सर्वदा यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

व्याख्या— वेद साक्षात् परमात्मा नामक अक्षर पुरुष के निःश्वासों से उत्पन्न हुए हैं। इसलिये 'सर्वार्थ-प्रकाशकत्वात् सर्वगतम्' (सब अर्थों के प्रकाशक होने के कारण सर्वगत) इस व्युत्पत्ति के अनुसार सर्वगत हैं। अथवा यज्ञ-विधि में वेद की प्रधानता होने के कारण वेद सर्वगत होते हुए भी यज्ञ में प्रतिष्ठित (स्थित) हैं। अतः यज्ञ भी ब्रह्म-रूप हैं।

संगति—कर्मयोग का प्रतिपादन चतुर्थ श्लोक से आरम्भ हुआ था। वह अगले श्लोक में समाप्त होता है। तथापि प्रसंगवश कहीं-कहीं कर्म का उल्लेख आगे भी मिलेगा।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।१६।।

भावार्थ— इस प्रकार ईश्वर द्वारा प्रवर्तित चक्र के अनुकूल जो नहीं बर्तता और इन्द्रियों को भोगों में लगाये रखता है वह पुरुष पाप आयु वाला है और वृथा ही जीवित रहता है।

व्याख्या— अतः कर्म करने वाले ही श्रेष्ठ हैं, क्योंकि उनसे अन्तःकरण शुद्ध होकर अन्त में उनका कल्याण हो जाता है।

संगति— अब अगले श्लोक में ज्ञानी के लक्षण बतलाते हुए इस बात की पुष्टि करते हैं कि ज्ञानी को कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। ये १७ और १८ वें श्लोक ज्ञाननिष्ठा के हैं—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥१७॥

भावार्थ— जिसका आत्मा में ही प्रेम है, जो आत्मा में ही तृप्त है अर्थात् जिसे किसी बाह्य वस्तु की प्राप्ति का किञ्चित् भी प्रलोभन नहीं है, उसके लिये कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है।

व्याख्या— जिसकी जिसमें प्रीति होती है वही उसका आत्मा है, क्योंकि सब अपने प्यारे पर ही प्राण देते हैं। आत्मा कोई वस्तु थोड़ा ही है जिससे प्यार करोगे। शरीर से असंग होने पर जो आनन्द आता है वही आत्मरति है। अर्थात् संसार का अत्यन्ताभाव अनुभव करना ही आत्मरति है। अथवा आत्मचिन्तन करते-करते उसी में डूब जाना आत्मरति है। दूसरी कोई वस्तु पाने के लिये शेष न रहे—यही आत्मतृप्ति है और आत्मा के अतिरिक्त और किसी वस्तु की इच्छा न रहे—यही आत्म-सन्तोष है। आत्मरति, आत्मतृप्ति और आत्म-सन्तोष में केवल अवस्था का ही भेद है बात एक ही है। जिसमें उत्तरोत्तर अधिक गाढ़ अवस्था है वही अधिक श्रेष्ठ भी है। आत्मरति होने से फिर संसार में रति (राग) नहीं रहती। जिस विरक्त को आत्मरति हो गयी है उसे श्रवण, मनन, निदिध्यासन और जिस गृहस्थ को आत्मरति हो गयी है उसे श्रोत-स्मार्त्त कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती। उसे कोई वस्तु प्राप्त करनी शेष नहीं है। वह पूर्ण होने के कारण आत्मतृप्त है, इसलिये उसे कोई कर्त्तव्य नहीं है। वह मानव है,

क्योंकि सर्वत्र ब्रह्म देखने वाला है। उसे आत्माकार वृत्ति करने में कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। जैसे नेत्रों से रूप देखने में कोई कष्ट नहीं होता। उसे किसी प्रकार की इच्छा या तृष्णा नहीं इसलिये वह आत्मसन्तुष्ट है। जिस प्रकार कोई कामी पुरुष किसी परम सुन्दरी स्त्री को गोद में बिठाकर फिर कुछ नहीं चाहता वैसे ही जिसकी निरन्तर आत्माकार वृत्ति रहती है उसको और क्या चाहिये? उसकी वृत्ति भोगों की और कैसे जायेगी। उसे स्वार्थ या परमार्थ किसी विषय में कोई अपेक्षा नहीं रहती। अत: वास्तविक अपरोक्ष ज्ञानी के लिये कुछ भी कर्त्तव्य बताया है वह परोक्ष या अदृढ़ अपरोक्ष ज्ञानी के लिये है।

यदि बोधवान् को लोक-संग्रह के लिये कर्म कर्त्तव्य कहे जाएँ तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि लोक-संग्रह का अधिकार ऋषियों को है, संन्यासियों को नहीं। ऋषि तो प्राय: सभी गृहस्थ थे। संन्यासियों को लोक-संग्रह करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वे तो हर समय ब्रह्माकार वृत्ति में लीन रहते हैं। जिसे मरुभूमि का ज्ञान हो जाता है वह कभी मृगतृष्णा के जल के लिये नहीं दौड़ता। उसने तो कर्म और भोगों को मृगतृष्णा के जलवत् समझ लिया है। हाँ, जो कारण कोटि के पुरुष हैं उन्हें लोक-संग्रह करना चाहिये, केवल बोधवान् को नहीं। परोक्ष ज्ञानी को तो श्रवणादि से ही समय नहीं मिलता, वह कर्म कब करेगा, और ज्ञाननिष्ठ मुक्त है इसलिये उसे कर्म करना आवश्यक नहीं है। अर्थात् जो आत्मानन्द में मग्न है उसके लिये कर्म कर्त्तव्य नहीं है। बोधवान् के लिये निवृत्ति ही श्रेष्ठ है। यद्यपि २२ वें श्लोक में प्रवृत्ति का भी विधान किया है। उदाहरण तो दोनों ही प्रकार के मिलते हैं, जैसे सनकादि निवृत्तिनिष्ठ थे और वसिष्ठादि प्रवृत्तिपरायण।

संगति— अगले श्लोक में तत्त्वज्ञ के लिए कर्म करने न करने में समानता दिखलाते हैं—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रय:॥१८॥

भावार्थ— उस महापुरुष को कर्म करने से कोई प्रयोजन नहीं है और न करने से भी कोई हानि नहीं है तथा सम्पूर्ण प्राणियों में भी कोई उसके किसी प्रयोजन का आश्रय नहीं है।

व्याख्या— उस महापुरुष के लिए दोनों मार्ग समान हैं। वह चाहे प्रवृत्ति में रहे चाहे निवृत्ति में। उसे न तो प्रवृत्ति से कोई हानि है और न निवृत्ति से कोई लाभ है। उसे कर्म करने से कोई लाभ नहीं होता और न करने से कोई प्रत्यवाय नहीं लगता। संसार में भी उसे किसी आश्रय की अपेक्षा नहीं है। वह कर्म, उपासना, इहलोक-परलोक या ब्रह्मा, विष्णु और महादेव आदि में से भी किसी का आश्रय नहीं तकता। फल की कामना से जो कार्य किया जाता है वह 'अर्थ-व्यपाश्रय' कहलाता है। कामना वस्तुओं में सत्यत्व, रमणीयत्व और सुखत्व-बुद्धि से होती है। वह किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं देखता, इसलिये उसे कामना नहीं होती। उसमें देहवासना नहीं होती, इसलिए शरीर के भोगों के लिये उसका कर्म करना नहीं बनता, क्योंकि शरीर-रक्षा तो प्रारब्धाधीन है। उसकी निरन्तर ब्रह्माकारावृत्ति रहती है, इसलिये कर्म न करने से उसे प्रत्यवाय नहीं लगता।

अथवा 'कृतेन' और 'अकृतेन' से यह भी तात्पर्य हो सकता है कि जहाँ 'करना' होता है वहाँ रजोगुण रहता है और जहाँ 'न करना' रहता है वहाँ तमोगुण रहता है। इन दोनों से ही उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जब तक जीव-भाव रहेगा तब तक करना या न करना तो होगा ही किन्तु तत्त्ववेत्ता इनमें से किसी के आश्रित नहीं रहता, क्योंकि वह निरालम्ब है। अथवा करना और न करना दोनों उसके स्वरूपभूत हो जाते हैं। जिस प्रकार आकाश से नीलिमा को पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि [अध्यारोपित रूप से] वह उसका स्वरूप ही है, इसी प्रकार ज्ञान हो जाने पर कर्म या उपासना हटाने की वस्तु नहीं रहती, क्योंकि वे उसका अपना स्वरूप ही हो जाती हैं।

संगति— श्लोक १७ और १८ में सिद्ध पुरुष की स्थिति का वर्णन करके अब आगे साधक के लक्षण बतलाते हैं। इन श्लोकों से यह

निश्चय हो गया कि बोधवान् के लिए कार्य करना आवश्यक नहीं है। अब अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि कर्म करना किसके लिए आवश्यक है–

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥१९॥

भावार्थ– अतः तुम अनासक्त होकर सर्वदा करने योग्य कर्म करो, क्योंकि जो पुरुष अनासक्त होकर कर्म करता है वह परमगति को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या– यहाँ कर्मों द्वारा क्रममुक्ति बतलायी है और 'परम्' शब्द का अर्थ यहाँ आत्मा या ब्रह्म है, क्योंकि यह जिज्ञासु का प्रकरण है।

संगति– क्या इस प्रकार किसी और को भी परमगति मिली है? इस पर कहते हैं–

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥२०॥

भावार्थ– कर्मों के द्वारा ही जनकादि सिद्धि (तत्त्वज्ञान या मोक्ष) को प्राप्त हुए हैं। इसलिये लोक-संग्रह को देखते हुए भी तुम्हें कर्म करने चाहिये।

व्याख्या– '**कर्मणैव संसिद्धिम्**' का यहाँ यह तात्पर्य नहीं है कि केवल कर्म करने से ही उन्हें मोक्ष प्राप्त हो गया था। मोक्ष-प्राप्ति में कर्म स्वतन्त्र साधन नहीं है। यहाँ तात्पर्य यह है कि जनकादि ने घर में रहकर ही तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया। इससे यही सिद्ध होता है कि तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिये पहले निष्काम कर्म करना चाहिये।

प्रश्न– इससे तो यह निश्चय हुआ कि बोधवान् के लिये यह नियम नहीं है कि वह कर्म करे ही। तब कर्म और अभ्यास के बिना उसकी मुक्ति कैसे होगी?

उत्तर– हाँ, बोधवान् के लिये कर्म करने का बन्धन नहीं है, किन्तु उसकी मुक्ति में कोई सन्देह नहीं है। मुक्ति तो केवल ज्ञान से होती

है। परन्तु अभ्यास के बिना जीवन्मुक्ति का विलक्षण आनन्द प्राप्त नहीं होगा। जो अन्तःकरण की मलिनता के कारण ज्ञान न होने पर भी अपने को ज्ञानी मान बैठे उसे तो निष्काम कर्म करना ही चाहिये, क्योंकि उससे अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे ज्ञान हो जायेगा। जीवन्मुक्त तो जिज्ञासु पर कृपा करके उसके कल्याण के लिये कोई कर्म करते हैं परन्तु यह नियम नहीं है कि सब करें ही।

संगति— अगले श्लोकों में तत्त्ववेत्ता के लोक-संग्रहार्थ कर्म करने की पुष्टि की गयी है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।२१।।

भावार्थ— श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है वैसा ही दूसरे लोग भी करते हैं; वह जो कुछ प्रमाण कर देता है दूसरे लोग उसी का अनुसरण करते हैं।

व्याख्या—प्रश्न— बिना हेतु तो कोई कर्म नहीं किया जाता। और आप पहले कह चुके हैं कि बोधवान् की क्रिया हेतुरहित होती है। यदि कोई हेतु नहीं तो बोधवान् कर्म क्यों करेगा?

उत्तर— लोक-शिक्षा के लिये।

प्रश्न— यदि लोक बिगड़ जाय तो बोधवान् की क्या हानि है?

उत्तर— तत्त्वज्ञ जो चाहे सो करे, उसकी तो कोई हानि नहीं, परन्तु औरों की तो हानि होती है, क्योंकि दूसरे लोग श्रेष्ठ पुरुष का अनुसरण करते हैं। तत्त्ववेत्ता दो प्रकार के होते हैं—अवधूत (मजनू) और आचार्य (शालिक)। आचार्य विधि का पालन करते हैं और अवधूतों के लिये कोई विधि— निषेध नहीं होते। परन्तु उनमें भी बहुत से लोक-संग्रह का निर्वाह करते हैं और बहुत से नहीं। गीता तो लोक-संग्रह पर ही जोर देती है, जैसा कि इस श्लोक में कहा है। अतः बोधवान् जिस आश्रम में भी रहे उसके नियमों का पालन करे— यही गीता का अभिप्राय है।

संगति— जिज्ञासु तो बोध-प्राप्ति के लिये कर्म करता है; परन्तु बोधवान् को तो कुछ भी प्राप्त करना नहीं है, इसलिये यद्यपि उसे कर्म करना आवश्यक नहीं है, तो भी वह कर्म करता ही है—यही बात अगले दो श्लोकों से स्पष्ट करते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥२२॥

भावार्थ— अर्जुन! मुझे तीनों लोकों में कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है और न कोई प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त ही है, (क्योंकि मैं षडेश्वर्य-सम्पन्न और आप्तकाम हूँ) फिर भी मैं कर्म करता ही हूँ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥२३॥

भावार्थ— क्योंकि यदि मैं सावधानीपूर्वक कभी कर्म न करूँ तो लोग सब प्रकार मेरे ही मार्ग (आचरण) का अनुसरण करेंगे।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥२४॥

भावार्थ— यदि मैं कर्म न करूँ तो ये लोग नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और तब मैं ही उनमें वर्णसंकरता का करने वाला होउँगा और (ऐसा करके) इस प्रजा को नष्ट कर दूँगा।

व्याख्या—भगवान् का काम जीवों पर कृपा करना है। स्त्री, पुत्र, धन आदि के बन्धन से मुक्त करना ही भगवान् की कृपा है। ये सब तो बहुत से दुष्ट प्रकृति के पुरुषों को भी प्राप्त हो जाते हैं। वास्तविक कृपा तो उनको भव-सागर से पार करना ही है। इस दुःख से छूटने के लिये भगवत्प्राप्ति या आत्मप्राप्ति आवश्यक है और इसके लिये अन्तःकरण शुद्ध होना चाहिए। अन्तःकरण शुद्ध सत्कर्मों से होगा। और सत्कर्म तब होंगे जब लोग अपने आदर्श पुरुषों को शुभ कर्म करते देखेंगे।

प्रश्न— हम कब समझें कि हमारा अन्तःकरण शुद्ध हो गया?

उत्तर— जब हमें पाप-कर्म करने में भय होने लगे और तीव्र जिज्ञासा होकर स्त्री, धन आदि विषवत् दिखायी देने लगें, कर्मकाण्ड

और उपासना से अरुचि होकर परमार्थ-तत्त्व जानने के लिये हृदय में दाह होने लगे, किसी प्रकार कल न पड़े, सारे संसार के विषय नीरस होकर चित्त में राग-द्वेष का अभाव हो जाय, किसी भी पदार्थ में आसक्ति न रहे तथा चित्त में परमार्थ-तत्त्व के विषय में प्रश्न पर प्रश्न उठने लगें तब समझना चाहिये कि चित्त शुद्ध हुआ। परन्तु जिसे प्रतिबन्ध होते हैं उसे तीव्र जिज्ञासा नहीं होती।

प्रश्न— प्रतिबन्ध क्या हैं?

उत्तर— मान, पूजा, ख्याति और द्रव्य-लाभ (बिना मांगे ही द्रव्य मिल जाना) ये चार प्रतिबन्ध हैं। साधक के लिये पहला प्रतिबन्ध उसका मान बढ़ना है, फिर पूजा होने लगती है, लोगों में ख्याति या प्रसिद्धि हो जाती है और फिर बिना मांगे ही पदार्थ मिलने लगते हैं। इनसे बचता रहे। यदि गुरुकृपा से इनसे बच जाय तो फिर संकल्पसिद्धि और दूरदृष्टि आ जाती है। फिर अणिमादि सिद्धियाँ भी आ सकती है। इसलिये इन सबको मायामात्र देखता हुआ साधन में लगा रहे और इन्हें अपने लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक समझे। जीवन्मुक्त और निष्काम साधक निर्वासनिक होते हैं, इसलिये उन्हें इन विघ्नों का सामना नहीं करना पड़ता। ये सिद्धियाँ तो सवासनिक पुरुषों के पास आती हैं, निर्वासनिक तो चराचर को अविद्यामय देखते हैं।

अन्तःकरण में तीन दोष होते हैं— मल, विक्षेप और आवरण। जब पाप कर्म करने में भय होने लगे तो समझो कि मलदोष दूर हो गया। निर्विल्प समाधि विक्षेपनिवृत्ति की पराकाष्ठा है और निःसन्देह पूर्ण बोध हो जाना आवरण-निवृत्ति का स्वरूप है। परन्तु भक्तों का अन्तःकरण तो प्रेम होने पर ही शुद्ध माना जाता है।

संगति— अगले श्लोक में ज्ञानी अज्ञानी के कर्मों में अन्तर बताते हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।२५।।

भावार्थ— हे भारत! कर्मों में आसक्त लोग जिस प्रकार कर्म करते हैं उसी प्रकार बोधवान् अनासक्त होकर लोक-संग्रह के लिये कर्म करें।

व्याख्या— विद्वान् का कर्त्तव्य कर्मों को छोड़ बैठना नहीं है, क्योंकि कर्त्तव्य का अभाव होजाते पर भी तत्त्ववेत्ता का स्वभाव दीनों पर दया करके उनका दुःख दूर करना हो जाता है। इसलिये बोध हो जाने पर भी गृहस्थ श्रौत-स्मार्त्त कर्म करे तथा संन्यासी, ब्रह्माभ्यास में तत्पर रहे। अथवा वेदान्त पढ़ावे, क्योंकि पठन-पाठन के द्वारा वेदान्त-परम्परा की रक्षा करना भी लोकसंग्रह ही है। कर्म करने से बोधवान् की कोई हानि नहीं हो सकती, क्योंकि सत्ताशून्य अथवा अपने स्वरूप-भूत होने के कारण कर्म उसका बन्धन नहीं कर सकते। कर्म न करने से साधन भ्रष्ट हो जाता है। संन्यासी को तो कर्म करने का अधिकार नहीं है और जिस गृहस्थ की आत्मरति बढ़ गयी हो उसको भी सन्ध्यावन्यादि कर्मकाण्ड की कोई आवश्यकता नहीं रहती। फिर भी बोधवान् गृहस्थ को तो अपने आश्रम-धर्मों का पालन करते ही रहना चाहिये, क्योंकि—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।।२६।।

भावार्थ— ज्ञानी पुरुष अविवेकी और कर्मासक्त पुरुषों की बुद्धि में [अद्वैत की बातें सुनाकर और ऐसी बातें कहकर कि कर्म मिथ्या है, इसमें क्या रखा है] भेद न डाले। प्रत्युत सब कर्मों का यथायोग्य आचरण करते हुए उन्हें भी लगाये रखे।

व्याख्या—मूर्ख तथा अज्ञानी पुरुष ही दूसरों की बुद्धि में भेद डालते हैं, विद्वान् ऐसा नहीं करते, क्योंकि वे सबको अपने में, अर्थात् सबको अपना-आप ही देखते हैं। इसी की पुष्टि अगले श्लोक में करते हैं तथा यह भी बतलाते हैं कि कर्मासक्त अज्ञानी किस प्रकार कर्म करते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणिः सर्वशः।
अहङ्कार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।२७।।

भावार्थ— सम्पूर्ण कर्म सर्वथा प्रकृति के गुणों द्वारा हो रहे हैं, उन्हें अहंकार से मोहित चित्तवाला 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है।

व्याख्या— यहाँ तत्वज्ञान की दृष्टि से अज्ञानी को 'विमूढ' कहा है, कर्म की दृष्टि से नहीं। कर्मकाण्डी वास्तव में मूढ नहीं होता, किन्तु विचार-दृष्टि से जहाँ भी कर्त्ता-भोक्तापन होगा वहाँ अविवेक रहेगा, उस अविवेकी को ही 'मूढ' कहा है।

पञ्चभूत और शब्दादि विषय कार्यवर्ग के अन्तर्गत हैं। पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन करण हैं तथा इनकी हेतु प्रकृति है। 'विमूढात्मा' शब्द में जो 'आत्मा' पद है उसका अर्थ अन्तःकरण है।

संगति—अगले श्लोक में तत्त्ववेत्ता की स्थिति बतलायी गयी है—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।२८।।

भावार्थ— हे महाबाहो! गुण और कर्म के विभाग का तत्त्व जानने वाला पुरुष गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं— ऐसा जानकर उन कर्मों में आसक्त नहीं होता।

व्याख्या— वह देखता है कि जितनी भी क्रियाएँ हो रही हैं वह सब माया ही का विलास है, मैं कर्त्ता नहीं हूँ। उसने गुण और कर्मों का विभाग करके अपने को कूटस्थ जान लिया है, अतः वह इन सबसे असंग रहता है। इनमें आसक्त नहीं होता। इसलिये उसे पाप-पुण्य स्पर्श नहीं करते। श्रुति ने भी कहा है—'नैनं कृताकृते तपतः' अर्थात् पाप-पुण्य उसे ताप नहीं पहुँचा सकते। 'सज्जते' का अर्थ है संग होना। अनात्मा का अध्यास हुए बिना कर्त्तापन नहीं होता। जिसमें कर्त्तापन रहता है वह अज्ञानी है।

प्रश्न—अनात्माध्यास किसे कहते हैं?

उत्तर—अनात्मा में आत्मबुद्धि होना अनात्माध्यास है। असत् में सत्-बुद्धि होना ही अध्यास कहा जाता है। इसके अनेकों भेद हैं,

जैसे—जात्यध्यास, धर्माध्यास, स्वरूपाध्यास इत्यादि। इनमें मुख्य तीन हैं—शरीराध्यास, संसर्गाध्यास और सम्बन्धाध्यास। मैं शरीर हूँ—यह शरीरध्यास है। स्थूलादि तीनों शरीर मेरे हैं— यह संसर्गाध्यास है और स्त्री-पुत्रादि में आसक्ति होना सम्बन्धाध्यास है। इनमें से शरीरध्यास तो घर में रहते हुए भी असंगता होने पर छूट जाता है, परन्तु संसर्गाध्यास और सम्बन्धाध्यास को दूर करने के लिये ज्ञान-निष्ठा या आत्मरति होना आवश्यक है। और इसके लिये घर त्यागना पड़ता है।

प्रश्न— शरीरध्यास और शरीर में प्रीति क्या एक ही बात है?

उत्तर— नहीं। प्रीति अपने से भिन्न में होती है और अध्यास में अधिष्ठान और अध्यस्तका भेद नहीं भासता। 'मैं शरीर हूँ' ऐसा मालूम होने पर 'मैं' और 'शरीर' का भेद नहीं रहता। प्रीति आत्माभ्यास से दूर जाती है क्योंकि वह एक में रहती है, अत: आत्मा में प्रीति होने पर अनात्माकी प्रीति निवृत्त हो जायगी। कुटिया से हम भिन्न हैं—ऐसा जानने पर भी यदि उससे प्रीति होती है तो उसके टूटने पर दु:ख होता है। यह कुटिया का प्रेम अभ्यास से दूर हो सकता है, पाँच भूत, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार—इस सबको अलग-अलग जानना ही गुणविभाग है तथा इनकी जो विभिन्न चेष्टाएँ हैं वे कर्मविभाग है। तत्त्ववेत्ता इनमें आसक्त नहीं होता। किन्तु जो लोग इनमें आसक्त हैं उनके साथ तत्त्वज्ञ का क्या व्यवहार होता है—यह अगले श्लोक में बतलाते हैं। यह २६ वें श्लोक की पुष्टि करता है—

प्रकृतेर्गुणसम्मूढा: सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥२९॥

भावार्थ— जो लोग प्रकृति के गुणों से मोहित होने के कारण त्रिगुणमय कर्मों में आसक्त हैं उन अल्पज्ञ और मन्दबुद्धि पुरुषों को पूर्ण परमात्मवित् विचलित न करे।

व्याख्या— प्रकृति के गुणों में अर्थात् ख्याति, धन एवं स्त्री-पुत्रादि की लालसा में जो मोहित हो गये हैं ऐसे पूर्ण रूप से न समझने वाले अल्पज्ञ, अज्ञानी एंव मन्दबुद्धि पुरुषों को तत्त्ववेत्ता विद्वान् कर्मों से चलायमान न करे, कर्मों में ही लगाये रहे। उनकी बुद्धि में भेद न डाले। उनके कर्मों पर आक्षेप न करे, क्योंकि सकाम कर्मों का निषेध और वेदान्त का उपदेश करने से उनके कर्म तो छूट जायेंगे और ज्ञान होगा नहीं।

संगति— यहाँ तक तो सकाम पुरुषों के कर्मानुष्ठान की बात कही, अब अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि जिज्ञासु निष्काम कर्म किस प्रकार करे।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥३०॥

भावार्थ— विवेकवती बुद्धि के द्वारा आत्मा-अनात्मा का विवेक कर सम्पूर्ण कर्म मेरे अर्पण कर दो, और आशा एवं ममता से रहित होकर विगतज्वर अर्थात् निःशंक होकर युद्ध करो।

व्याख्या— इस अध्यात्म में कर्म की प्रधानता है और यह श्लोक भी कर्मपरक ही है। किन्तु वह कर्म भगवदर्पणबुद्धि से करने के लिए कहा है, इसलिए इसे भक्तिपरक भी कह सकते हैं। सम्पूर्ण सकाम कर्म बन्धन में डालने वाले होने से दुःखरूप हैं—ऐसा समझकर उन्हें मेरे अर्पण कर दो तथा नित्यानित्य-विवेक करके आशा और ममतारहित होकर युद्ध करो। यहाँ विवेक यही कहता है कि सकाम कर्म दुःखरूप और बन्धनकारक हैं तथा भगवदर्पण करने पर वे सुखरूप और बन्धन से छुड़ाने वाले हो जाते है। अध्यात्म यही है कि यह चराचर जगत! भगवान् से भिन्न नहीं है। सब कुछ भगवत्स्वरूप ही है। ऐसी विवेकवती बुद्धि ही 'अध्यात्मचेतसा' पद से कही गयी है, क्योंकि इससे साधक का चित्त संसार की ओर से हटकर आत्मा की ओर लग जाता है। ऐसा साधक कर्मफल की इच्छा से रहित होता है, इसीलिये उसे 'निराशीः' कहा है। वह जो भी कर्म करता है भगवदर्पण बुद्धि से

करता है, इसलिये उसे 'निर्ममः' कहा है। कामना दुःखरूप है और वह कामनारहित है, इसलिये वह 'विगतज्वर' है।

इस श्लोक का ज्ञानपरक अर्थ इस प्रकार किया जाता है—समष्टि–व्यष्टि सम्पूर्ण दृश्य को समष्टि दृष्टा में अर्पण कर देने पर सब कर्मों का त्याग हो जाता है। अहंता–ममता भी नहीं रहतीं। जब सभी अर्पण कर दिया तो राज्य–प्राप्ति की इच्छा भी नहीं रहेगी, इसलिए 'निराशीः' हो गया। तथा 'निराशीः' होने से 'निर्ममः' भी हो गया। इस प्रकार सब कुछ समष्टि द्रष्टा को अर्पण कर दिया तो सबका अत्यन्ताभाव हो जाने से आप स्वयं शुद्ध रह गया, क्योंकि अध्यस्त वस्तु अपने अधिष्ठान में ही अर्पित होती है। इस प्रकार तत्त्वदृष्टि रखते हुए ही कर्म करने की बात कही गयी है, क्योंकि यहाँ 'अध्यात्म' और 'विगतज्वर' ये दो शब्द आये हैं। यदि कोई निराशी निर्मम और विगतज्वर न हो तो समझना चाहिये कि अभी बोध नहीं हुआ।

संगति— अगले श्लोक में यह बताते हैं कि इस प्रकार निष्काम कर्म करने से कर्मों से मुक्ति हो जायगी।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥३१॥

भावार्थ— जो लोग दोषदृष्टि (शास्त्रवाक्यों की सत्यता में तर्क करने वाली बुद्धि) से रहित और श्रद्धासम्पन्न होकर मेरे इस मत का आचरण करते हैं, वे सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाते हैं।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥३२॥

भावार्थ— और जो लोग मेरे इस मत में असूया (दोषदृष्टि) करके मेरे अभिमत [निष्काम कर्म] का आचरण नहीं करते वे अविवेकी सम्पूर्ण ज्ञान से मूढ़ होकर नष्ट हो जाते हैं— ऐसा जानो।

संगति— भगवान् की आज्ञा का सब लोग पालन क्यों नहीं करते—यह बात अगले श्लोक में बताते हैं—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥३३॥

भावार्थ— ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार चेष्टा करता है। (अर्थात् सब लोग अपने-अपने स्वभाव के अनुसार कार्य करते हैं।) इसमें निग्रह गुरु या शास्त्र की आज्ञानुसार हठपूर्वक रोकना, क्या करेगा।

व्याख्या— यहाँ पर बतलाया है कि जब तक ज्ञानी का शरीर रहेगा उससे शारीरिक क्रियायें भी होंगी ही। क्रिया करने से सुख-दुःख-भोग भी होगा ही और भोग होगा तो प्रारब्ध भी मानना होगा ही। इसलिये ज्ञानी के भी प्रारब्ध कर्म तो माने ही गये हैं। इस श्लोक में यह दिखलाया गया है कि जैसी क्रिया अज्ञानी की होती है वैसी ही ज्ञानी की भी होती है। इन्द्रियों को उनके विषयोकं से रोक लेना- यह ज्ञानी का लक्षण नहीं है, क्योंकि उन्हें हठपूर्वक तो कुछ सीमित समय तक ही रोक सकते हैं। अन्त में जब बाह्य वृत्ति होगी तब फिर प्रतीति होने लगेंगी। ज्ञानी न तो प्रतीति को हटा सकता है और न हटाना चाहता है। यदि हटाने की इच्छा रखता है तो मानना होगा कि प्रतीति से उसे द्वेष है। और यदि उसमें राग-द्वेष हैं तो उसे ज्ञानी नहीं माना जा सकता। हाँ,ज्ञानी राग-द्वेष को तो हटा सकता है, परन्तु शब्दादि विषयों को नहीं मिटा सकता, क्योंकि शब्दादि विषय और नेत्रादि इन्द्रियाँ सजातीय होती हैं, जिस प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आकाशादि भूतों के गुण हैं उसी प्रकार श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण ये ज्ञानेन्द्रियाँ भी आकाशादि के सूक्ष्म अंशों से उत्पन्न हुई हैं। अतः इन्द्रियों के द्वारा अपने विषयों का ग्रहण तो स्वाभाविक है, उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। ज्ञानी का निग्रह तो यह है कि सृष्टि की सत्ता है ही नहीं। यह मनोराज्यमात्र है। इस प्रकार ज्ञानी तो संसार के मूल का उच्छेद कर देता है। किन्तु मूल का उच्छेद होने पर भी प्रपञ्च की प्रतीति तो होती ही है, जिस प्रकार जड़ कट

जाने पर भी कुछ समय तक वृक्ष की हरियाली बनी रहती है। इसमें निग्रह कुछ नहीं कर सकता।

प्रश्न— यदि शास्त्रादि का शासन कुछ नहीं कर सकता तो क्या वह व्यर्थ है?

उत्तर— व्यर्थ नहीं है, क्योंकि—

स्वभावविजये यस्य स्वयं नैवास्ति वीरता।
तस्योत्तमपदप्राप्त्यै पशोर्ब्रूहि कथैव का।।

अर्थात् जिस पुरुष में अपने स्वभाव पर विजय प्राप्त करने का सामर्थ्य न हो तो बताओ उस पशुतुल्य प्राणी की परमपद-प्राप्ति की चर्चा ही क्या की जाय।

इस श्लोक में बड़ी शंकायें उठती हैं। बोधवान् और अज्ञानी की शारीरिक क्रियाएँ तो प्रायः एक-सी ही देखी जाती हैं, किन्तु बोधवान् की निरन्तर ब्रह्माकार दृष्टि रहती है। उसकी आन्तरिक दृष्टि को न जानकर बाह्य क्रियाओं को देखकर मूर्ख लोग कहते हैं कि इसकी ऊपरी क्रियाओं में तो कोई परिवर्तन हुआ नहीं, यह कैसा ज्ञानी है। ऐसा कहकर वे उसका उपहास भी करते हैं। परन्तु बोध होने पर भी शारीरिक क्रियाएँ तो पूर्ववत् ही रहती है। इसीलिये कहा है—'निग्रहः कि करिष्यति।'

किन्तु तत्त्ववेत्ता का बाह्य व्यापार भी राग-द्वेषरहित और न्यायानुकूल होता है। न्यायाधीश किसी को न्यायपूर्वक दण्ड दे और मूर्ख लोग उसे राग-द्वेषपूर्वक कहें तो इसका क्या उपाय है? इसीलिये भगवान् ने अध्याय १८ श्लोक १० में बतलाया है कि वह परमार्थ दृष्टि रहने के कारण न तो यज्ञादि कुशल (पुण्य) कर्मों में राग करता है और न हिंसा आदि अकुशल (पाप) कर्मों में द्वेष करता है। वह दोनों से उदासीन रहता है। क्रिया ज्ञान की बाधक नहीं है, राग-द्वेष उसके बाधक हैं। ऐसा भी कहा है कि अज्ञानी की निवृत्ति भी प्रवृत्ति का फल देती है और बोधवान् की प्रवृत्ति भी निवृत्तिरूप ही है। परन्तु इस बात को अज्ञानी लोग नहीं समझ सकते, विवेकी ही समझ सकते हैं।

गुण कर्म और द्रव्य इन तीनों में ही राग-द्वेष हो सकते हैं। अच्छे से राग और बुरे में द्वेष होता है। परन्तु तत्त्ववेत्ता को राग-द्वेष नहीं होते, क्योंकि वह तो संसार को सत्ताशून्य देखता है। राग-द्वेष तो जिज्ञासु में ही नहीं रहते। फिर भी उसे इनसे सचेत रहना चाहिये, क्योंकि ये साधन में बाधक हैं।

संगति— इस प्रकार इस श्लोक में यह बताया गया कि ज्ञानी-अज्ञानी सभी लोग अपने-अपने स्वभाव के अनुसार चेष्टा करते हैं, इसे कोई रोक नहीं सकता। यही बात अगले श्लोक में स्पष्ट की जाती है–

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।३४।।

भावार्थ— इन्द्रिय और इन्द्रिय के विषयों में जो राग-द्वेष स्थित हैं उनके अधीन नहीं होना चाहिए, क्योंकि ये इसके साधन में विघ्न डालने वाले हैं।

व्याख्या— इन्द्रियाँ अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करती हैं। जैसे नेत्रों का काम देखना है और श्रोत्रों का सुनना। इन्द्रियों की चेष्टा या उनके विषय साधन में बाधक नहीं हैं। उनके प्रति राग-द्वेष ही बाधक है। इसलिए आवश्यकता है अपना भाव बदलने की, इन्द्रियों को रोकने की नहीं। क्योंकि जब तक इन्द्रियाँ हैं तब तक उनके विषय भी रहेंगे ही। अत: यही प्रयत्न करते रहना चाहिए कि अनुकूल में राग और प्रतिकूल में द्वेष न हो।

प्रश्न—राग न होने का क्या उपाय है?

उत्तर— प्रतिपक्ष भावना। अर्थात् ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा कि अब अमुक कार्य कभी नहीं करूँगा। इन्द्रियों के विषय में राग-द्वेषशून्य प्रवृत्ति होनी चाहिए। यह समझना ठीक नहीं कि इन्द्रियों की प्रवृत्ति न होने पर ही कल्याण होगा। विषयों में प्रवृत्ति तो सुषुप्ति में भी नहीं होती और सुषुप्ति होती सभी को है। तब तो सभी को सुषुप्ति में कल्याण हो जाना चाहिये। यहाँ 'इन्द्रिय' शब्द दो बार आया है उससे प्रत्येक इन्द्रिय समझनी चाहिये।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।३५।।

भावार्थ— अपना धर्म गुणरहित हो तो भी दूसरों के सम्यक् प्रकार से अनुष्ठित (गुणयुक्त) कर्म से श्रेष्ठ है। अपने धर्म में मरना भी अच्छा है, दूसरों का धर्म तो भय का ही कारण है।

व्याख्या— यह बात ऐसी समझनी चाहिए जैसे कि ब्राह्मण के यज्ञादि कर्म में हिंसा है, क्षत्रियों के स्वधर्म युद्ध में भी हिंसा है, वैश्य के कर्म वाणिज्य में कुछ मिथ्या-भाषण करना पड़ता है तथा शूद्र के सेवाकर्म में भी हिंसा आदि हो जाती है। ये सब दोष होने पर भी इन्हें स्वधर्म का ही पालन करना चाहिये। परधर्म का नहीं। धर्मानुसार अपनी-अपनी वृत्तियों का अनुसरण ही श्रेयस्यकर है।

प्रश्न—तीनों आश्रमों के लिए संन्यास स्वधर्म है या परधर्म?

उत्तर— स्वधर्म भी है और परधर्म भी। अपरिपक्व अन्त:करण और मन्द वैराग्य वालों के तथा अकृतोपस्तियों के लिए यह परधर्म है, किन्तु परिपक्व अन्त:करण, तीव्र वैराग्यवान् और कृतोपस्तियों के लिये स्वधर्म है। इसलिये श्रीभगवान् का भाव यह है कि हे अर्जुन! क्षणिक वैराग्य होने के कारण तेरा यह परधर्म है। जैसे गृहस्थों के लिए सन्ध्यावन्दन, तर्पण एवं स्नानदानादि कल्याणकारक हैं वैसे ही संन्यासी के लिए श्रवणादि श्रेयस्कर है। परन्तु गृहस्थ के लिए श्रवणादि परधर्म होने के कारण हानिकारक हैं। यदि वह श्रवणादि करेगा तो गृहस्थाश्रम के काम का नहीं रहेगा, वह गार्हस्थ-धर्म का सुचारु रूप से पालन नहीं कर सकेगा। यदि वह अपने को श्रवणादि का अधिकारी मानता है तो संन्यास लेकर चला जाय।

संगति— इस श्लोक में कर्मयोग का प्रसंग समाप्त हो जाता है। अब अर्जुन को एक अन्य शंका होती है।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।।३६।।

भावार्थ— अर्जुन बोला—वार्ष्णेय (वृष्णिनन्दन या ज्ञानामृत की वर्षा करने वाले भगवान्) किस शक्तिशाली की प्रेरणा से यह मनुष्य स्वयं न चाहने पर भी बल-पूर्वक लगाया हुआ-सा पापाचरण में प्रवृत्त हो जाता है।

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।।३७।।

भावार्थ— श्री भगवान् बोले—इस लोक में रजोगुण से उत्पन्न होने वाले ये काम-क्रोध ही पाप में लगाने वाले हैं। ये बहुत खाने वाले और महापापी हैं, इन्हें तुम अपना शत्रु समझो।

व्याख्या— ये काम-क्रोध कथन-मात्र के लिये दो हैं, वास्तव में तो एक ही हैं। यह काम ही क्रोध है, क्योंकि रजोवृत्ति से पहले कामना उत्पन्न होती है और वह पूर्ण नहीं हो पाती तो कामना ही क्रोध का रूप धारणकर लेती है। अतः इसे अपनी शत्रु समझनी चाहिये। अर्थात् तुम्हारा संकल्प ही तुम्हारे दुःख का कारण है, इसे निकाल दो। काम या विषय की प्रबल इच्छा ही सबके अधःपतन का कारण है। इसका सबको अनुभव है, इसी अभिप्राय से उसे 'एषः' (यह) कहकर मानो अँगुली से संकेत किया गया है। यह काम अनन्त भोगों का उपभोग करने पर भी शान्त नहीं होता, इसलिये यह महाशनः (बहुत खाने वाला) है, तृप्त कभी नहीं होता। यहाँ तक कि कामना के वशीभूत होकर पुरुष चाण्डाल का भी धन हर लेता है और क्रोधातुर होने पर गुरु पर भी आक्रमण कर बैठता है। मोक्ष का प्रतिबन्धक काम ही है, अतः यह अपना शत्रु है।

संगति— इसी की पुष्टि अगले श्लोक में करते हैं—

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।।३८।।

भावार्थ—जिस प्रकार धूएँ से अग्नि, मल से दर्पण और झिल्ली से गर्भ ढका रहता है उसी प्रकार काम से यह (आत्मा का ज्ञान) ढका हुआ है।

व्याख्या—प्रश्न— इस श्लोक में क्या एक दृष्टान्त पर्याप्त नहीं था, तीन की क्या आवश्यकता थी?

उत्तर— मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं—तमोगुणी, रजोगुणी और सत्त्वगुणी। धूएँ का दृष्टान्त तमोगुणी पुरुषों के लिये है, क्योंकि तमोगुणी को एक-दो बात कहने से ही क्रोध आ जाता जैसे धूएँ में एक-दो फूँक मारने से ही अग्नि प्रज्वलित हो जाता है, रजोगुणी को दर्पण का दृष्टान्त दिया है, क्योंकि रजोगुणी पुरुष को कुछ छेड़-छाड़ करने पर विलम्ब से क्रोध आता है, जैसे कि मल से आच्छादित दर्पण में प्रतिबिम्ब प्रकट करने के लिए कुछ यत्न करना पड़ता है। सत्त्वगुणी पुरुष का दृष्टान्त झिल्ली से ढका गर्भ है, क्योंकि सत्त्वगुणी पुरुष का क्रोध एकाएकी प्रकट नहीं होता। प्रायः अन्तःकरण में ही रहता है, जैसे कि झिल्ली में छिपा हुआ गर्भ बहुत विलम्ब से प्रकट होता है।

राग से क्रोध होता है, अतः उसे हटाना चाहिये। इन दृष्टान्तों को विपरीत क्रम से भी लगाया जा सकता है। तब इन्हें इस प्रकार लगाना चाहिये। जैसे धूएँ से अग्नि तुरन्त प्रकट हो जाता है वैसे ही सत्त्वगुणी पुरुष को थोड़े से विवेक-विचार से ही ज्ञान हो जाता है। जैसे दर्पण का मल थोड़ा प्रयत्न करके हटाने पर उसमें प्रतिबिम्ब दिखायी देता है वैसे ही रजोगुणी पुरुष को कुछ अधिक विवेक-विचार करने पर ज्ञान होता है। और जैसे झिल्ली से गर्भ बहुत विलम्ब से प्रकट होता है वैसे ही तमोगुणी पुरुष को निष्काम कर्म और उपासना द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होने पर विशेष परिश्रम से कालान्तर में ज्ञान होता है।

संसार में ज्ञान तो सभी को प्राप्त है, परन्तु वह ढका हुआ है। जैसे अग्नि को धूआँ, प्रतिबिम्ब को मल और गर्भ को झिल्ली ने ढक लिया है वैसे ही ज्ञान को काम ने ढक लिया है। ज्ञानस्वरूप आत्मा तो सबमें सर्वत्र है, परन्तु काम से ढका रहने के कारण दिखता नहीं। कहा भी है—

दृष्टं स्पष्टमपीत्थमेव विदितं स्वर्णं दरिद्रैर्वनैः
सत्तात्वस्य न लभ्यते हतभगैर्भाग्यं विना सर्वदा।
आत्मा तद्वदसौ श्रुतोऽपि च मतो ज्ञातोऽपि नो लभ्यते
साक्षात्केवलचिद्घनो विषयिभिर्वैराग्यभाग्यं विना।।

अर्थात् दरिद्री पुरुष सुवर्ण को देखता भी है और जानता भी है, परन्तु भाग्यहीन होने के कारण उसे प्राप्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार विषयी पुरुष इस साक्षात् चिद्घन आत्मा को सुनते, मानते और जानते हुए भी वैराग्यरूप भाग्य का उदय हुए बिना प्राप्त नहीं कर सकता।

अतः काम विवेकी का शत्रु है। यह कामना अज्ञानी को तो कालान्तर में दुःख देती है, परन्तु विवेकी को तो तत्काल दुःख देने वाली है। यह कभी पूरी नहीं होती इसलिये इसमें तो आग ही लगानी पड़ेगी; जैसे कि पहले राजा-महाराजा राज-पाट छोड़कर चले जाते थे। इन्द्रियाँ मन और बुद्धि कामना के दरबार के मन्त्री हैं। काम पूर्व संस्कार से होता है। शुभा-शुभ कर्म, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि उसकी सहायता करते हैं। जिस समय कामना होती है, उस समय विचार ढक जाता है। इसी की पुष्टि अगले श्लोक में करते हैं—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।।३९।।

भावार्थ— हे कौन्तेय! ज्ञानियों के इस कामरूप नित्यशत्रु ने ही ज्ञान को ढक रखा है। यह ऐसा अग्नि है जिसकी पूर्त्ति होनी कठिन है।

व्याख्या— काम ने ही ज्ञान को ढक रखा है। यह विचारशीलों का शत्रु है और अग्नि के समान दुष्पूर है। जैसे ईंधन और घी डालने से अग्नि का पेट नहीं भरता उसी प्रकार कितना भी भोग भोगो, कामना पूर्त्ति कभी नहीं होती। वह बढ़ती ही जाती है। संसार में त्याग की पूर्णता तो हो सकती है, पर ग्रहण की नहीं हो सकती। इसलिये इसे अग्नि की उपमा दी है। इसे नित्य वैरी इसलिये कहा है कि जीवात्मा

स्वतन्त्र होने पर भी इसके द्वारा ढका हुआ है। परन्तु ऐसा होने पर भी यदि अधिष्ठान का ज्ञान हो तो यह कुछ बिगाड़ नहीं सकता।

संगति— इसका अधिष्ठान कौन है—यह अगले श्लोक में बतलाते हैं—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।४०।।

भावार्थ— इन्द्रिय, मन और बुद्धि ये इस काम के अधिष्ठान (रहने के स्थान) कहे गये हैं। इनके द्वारा यह ज्ञान को ढककर जीव को मोहित कर देता है।

व्याख्या— मनुष्य इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण करता है, मन से मनन करता है और बुद्धि से निश्चय करता है। ये तीनों ही ज्ञान को ढककर अर्थात् विचार-शक्ति को शिथिल करके इसे मोहित कर देते हैं। इनके बिना जीव कुछ भी नहीं कर सकता। अर्थात् जो देहाभिमानी है उसी को काम-क्रोधादि दुःख देते हैं। इसलिये मुमुक्षु को इन पर जय प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहना चाहिये।

संगति— काम इन्द्रिय, मन और बुद्धि के द्वारा जीव को मोहित करता है, इसलिये तुम्हारा क्या कर्त्तव्य है, यह बात अगले श्लोक से बतलाते हैं—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।४१।।

भावार्थ— अतः हे भरतश्रेष्ठ! पहले इन्द्रियों को वश में करके तुम ज्ञान-विज्ञान का नाश करने वाले इस पापी काम को मारो।

व्याख्या— सामान्यतया ज्ञान-विज्ञान शब्दों से शास्त्रीय अथवा सांसारिक वस्तुओं के ज्ञान समझे जाते हैं, किन्तु यहाँ ज्ञान से शास्त्रज्ञान और विज्ञान से अनुभव-ज्ञान ग्रहण करने चाहिये, क्योंकि यह साधन-सम्बन्धी प्रकरण है। यहाँ कामना का प्रसंग है और उसकी प्रबलता दिखायी गयी है। इसलिये कामना को ज्ञान-विज्ञान का नाश करने वाली कहा है। वास्तव में तो तत्त्वज्ञान का नाश नहीं होता। हाँ,

कामना ज्ञान-विज्ञान को उदय नहीं होने देती। यही उसका नाश है। कामना का नाश उपासना के बिना नहीं होता, अतः उपासना की बड़ी आवश्यकता है।

प्रश्न—विचारवान् की उपासना क्या है?

उत्तर— नाम-रूप का बाध उसकी उपासना है, उसे निरन्तर इसी का अभ्यास करते रहना चाहिये।

प्रश्न— बाध किसे कहते हैं?

उत्तर— 'नाप्रतीतिस्तयोर्बाधः किन्तु मिथ्यात्वनिश्चयः' अर्थात् नाम-रूप की अप्रतीति को बाध नहीं कहते, अपितु उनके मिथ्यात्वनिश्चय को बाध कहते हैं। बोधवान् किसी वस्तु का नाश नहीं करता, बाध ही करता है, जैसे रज्जु में सर्प के भ्रम की निवृत्ति करने के लिये सर्प का बाध ही किया जाता है, उसे लाठी से मारा नहीं जाता, इसी प्रकार स्वरूप का ज्ञान होने पर देहादि-प्रपञ्च का बाध ही होता है, देहादि में कोई परिवर्तन नहीं होता, केवल उसके मिथ्यात्व का बोध रहता है। यही बात आगे के दो श्लोकों में बतलाते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥४२॥

भावार्थ— शरीर से इन्द्रियाँ परे (श्रेष्ठ) हैं, इन्द्रियों से मन परे है, मन से बुद्धि परे है और बुद्धि से भी अत्यन्त परे वह (आत्मा) है।

व्याख्या— यहाँ तीनों शरीरों के साक्षी को परमात्मा कहा है। कर्म तथा सगुण-निर्गुण उपासना तो बुद्धि के विषय हैं, परन्तु ज्ञान बुद्धि का विषय नहीं है। इससे यह निश्चय हुआ कि काम केवल कर्म और उपासना से नहीं जीता जाता। तो किस प्रकार जीता जाता है, यह बात अगले श्लोक में बताते हैं—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥४३॥

भावार्थ— हे महाबाहो! इस प्रकार अपने स्वरूप को बुद्धि से परे जानकर और मन को आत्मा में स्थित करके इस कामरूपी दुर्जय शत्रु को मारो।

व्याख्या— यहाँ मारने का अर्थ यह है कि काम की सत्ता ही न रहे। ऐसा आत्मतत्त्व का बोध होने पर ही हो सकता है, क्योंकि फिर प्रपञ्च का अत्यन्ताभाव बोध होने से किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं रहती और जिसकी सत्ता न हो उसमें राग कैसे रहेगा? तथा राग न रहने पर किसी वस्तु की कामना कैसे होगी? इसलिये निरन्तर अभ्यास की बहुत आवश्यकता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः॥३॥



ॐ
श्री परमात्मने नमः
श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

अथ चतुर्थोऽध्यायः

संगति— द्वितीय और तृतीय अध्यायों में श्री भगवान् ने प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही मार्ग बतलाये। शास्त्रों का उद्देश्य भी इन दोनों ही मार्गों का प्रतिपादन करना है, क्योंकि प्रवृत्ति का लक्ष्य भी निवृत्ति ही है। जैसे यज्ञ में मांस-भक्षण की विधि है और यज्ञ से अतिरिक्त मांस का निषेध है। इससे शास्त्र का उद्देश्य मांस खिलाना नहीं; मांस छुड़ाना ही है। गीता में कर्म और ज्ञान दो निष्ठाएँ बतायी हैं। इनमें ज्ञाननिष्ठा से तो निःसन्देह मुक्ति होती है, परन्तु गीता में कर्मनिष्ठा से भी मुक्ति बतलायी है। वहाँ निष्काम कर्म द्वारा चित्तशुद्धि होकर ज्ञान होने पर ही मुक्ति समझनी चाहिए। इस प्रकार ज्ञान मुक्ति का साक्षात् साधन है और कर्म परम्परा साधन।

द्वितीय अध्याय में सांख्ययोग या ज्ञानयोग का तथा तृतीय अध्याय में कर्मयोग का निरूपण हुआ है। अब चतुर्थ अध्याय में ज्ञानयोग की परम्परा बतलायेंगे तथा अवतारवाद का भी प्रतिपादन करेंगे।

श्री भगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥१॥

भावार्थ— श्री भगवान् बोले— यह अविनाशी ज्ञान मैंने [सृष्टि के आदिकाल में] विवस्वान् (सूर्य) से कहा था, विवस्वान् ने मनु से कहा और मनु ने इक्ष्वाकु से।

प्रश्न— मूल श्लोक में तो 'योग' शब्द है, आपने इसका अर्थ 'ज्ञान' क्यों किया?

उत्तर— पिछले अध्याय के श्लोक ४२ में कहा है— 'यो बुद्धे परतस्तु सः' अर्थात् जो बुद्धि से परे है वह आत्मा है। यह कथन

आत्मज्ञान की ओर इङ्गित करता है। आगे भी श्लोक २ और ३ में कहेंगे कि अधिक काल होने से यह योग नष्ट हो गया था। वही पुराना योग मैंने तुमसे कहा है। यहाँ यदि 'योग' शब्द से कर्मयोग समझा जाय तो अर्जुन कर्मकाण्ड का ज्ञाता है ही, और यदि भक्तियोग मानें तो आगे श्लोक ३ में भगवान् उसे अपना सखा और भक्त स्वयं ही कह रहे हैं। अतः सिद्ध हुआ कि 'योग' शब्द से यहाँ 'ज्ञानयोग' ही अभिप्रेत है।

प्रश्न—इस ज्ञानयोग को अव्यय (अविनाशी) क्यों कहा, क्योंकि जो वस्तु साधनसाध्य होती है वह अनित्य होती है, और आप ज्ञान को परम्परा से प्राप्त हुआ कह रहे हैं, अतः यह भी अनित्य होना चाहिये।

उत्तर—साधन तो अज्ञान की निवृत्ति के लिये है, ज्ञान तो स्वतः सिद्ध है, साधनसाध्य नहीं।

प्रश्न—अज्ञान का क्या स्वरूप है?

उत्तर— अपने को बड़ा दूसरे को छोटा, अपने को ज्ञानी दूसरे को अज्ञानी अथवा अपने को छोटा या अज्ञानी और दूसरे को ज्ञानी मानना ही अज्ञान है। हम मन या बुद्धि से जो भी कल्पना करेंगे वह अज्ञान ही होगा।

प्रश्न—यहाँ 'अविनाशी योग' की बात कही है, तो क्या कोई विनाशी योग भी होता है?

उत्तर—नाशवान् तो विषय-भोग ही है।

प्रश्न—भगवान् श्रीकृष्ण तो देवकीजी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे और यहाँ कह रहे हैं कि मैंने सृष्टि के आदि में यह योग सूर्यदेव से कहा था। क्या यह असंगत नहीं है?

उत्तर— किसी को यह शंका न हो कि ये जीव ही हैं, अतः अर्जुन को जीव और अपने को ईश्वर प्रमाणित करने के लिये ऐसा कहा है। फिर श्लोक ५ में भी कहा है कि उन पूर्व जन्मों को तुम नहीं जानते, मैं जानता हूँ, क्योंकि मैं सर्वज्ञ हूँ और तुम अल्पज्ञ हो।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥२॥

भावार्थ— इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना, किन्तु हे शत्रुदमन! बहुत समय से यह योग नष्ट हो गया था।

व्याख्या— ज्ञान का सम्प्रदाय ही नष्ट हुआ था, ज्ञान नष्ट नहीं हुआ। यह ज्ञान पहले राजर्षियों के पास था, परन्तु पीछे कुछ काल-पश्चात् दब गया था।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥३॥

भावार्थ— यह वही पुराना योग आज मैंने तुमसे कहा है, क्योंकि तुम मेरे भक्त और मित्र हो और यह रहस्य बहुत ही गोपनीय है।

व्याख्या— 'भक्तोऽसि' कहने से भगवान् का यह आशय है कि बिना भक्ति के ज्ञान हो नहीं सकता। द्वितीय अध्याय में अर्जुन अपने को शिष्य स्वीकार कर चुका है। जब तक वह अपने को सखा ही मानता रहा तब तक भगवान् ने उसे ज्ञान का उपदेश नहीं दिया, जब शिष्यत्व स्वीकार किया तभी दिया। इसे 'रहस्य' इसलिये कहा है क्योंकि यह बहुत गोपनीय है। हर किसी को यह नहीं सुनाना चाहिये।

संगति— भगवान् की ये बातें सुनकर अर्जुन को शंका हुई कि कृष्ण बहुत झूठा है यह तो वसुदेवजी का पुत्र है और कहंता है कि मैंने यह सूर्य को सुनाया था, अतः वह कहने लगा।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥४॥

भावार्थ— अर्जुन ने कहा— आपका जन्म तो पीछे हुआ है और सूर्य पहले उत्पन्न हुआ था। अतः यह बात मैं कैसे समझूँ कि आरम्भ में तुमने यह ज्ञान कहा था।

व्याख्या—प्रश्न— इससे तो यह जान पड़ता है कि अर्जुन को यह ज्ञान नहीं था कि ये भगवान् हैं, नहीं तो वह ऐसा प्रश्न क्यों करता?

उत्तर— अर्जुन को उनकी भगवत्ता का पता तो था, परन्तु उसे स्पष्ट कराने के लिये वह अज्ञानी बन गया। बिना अज्ञानी बने प्रश्न भी तो नहीं होता।

श्री भगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥५॥

भावार्थ— श्रीभगवान् बोले— अर्जुन! मेरे और तुम्हारे अनेकों जन्म हो चुके हैं। उन सबको मैं तो जानता हूँ, किन्तु तुम नहीं जानते।

व्याख्या— तात्पर्य यह कि जब-जब मेरा अवतार होता है तब-तब तुम भी जन्म लेते हो, किन्तु सर्वज्ञ ईश्वर होने के कारण मैं तो उन्हें जानता हूँ, किन्तु तुम्हारा ज्ञान राग-द्वेष, पाप-पुण्य आदि द्वन्द्वों से आवृत है और तुम अल्पज्ञ जीव हो, इससे तुम्हें उनका स्मरण नहीं है।

संगति— अगले श्लोक में भगवान् अपने अवतार का स्वरूप बताते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥६॥

भावार्थ— मैं अजन्मा अविनाशी और प्राणियों का ईश्वर होने पर भी अपनी मूल प्रकृति का आश्रय लेकर [अर्थात् प्रकृति में अहं बुद्धि, और प्रकृति के कार्यों में ममबुद्धि करके] अपनी माया द्वारा उत्पन्न होता हूँ।

व्याख्या— प्रकृति के दो भेद हैं— माया और अविद्या। शुद्ध सत्त्वप्रधान माया ईश्वर की उपाधि है और मलिन सत्त्वप्रधान अविद्या जीव की उपाधि है। प्रकृति भगवान् की उत्पत्ति में कारण तो है, परन्तु वह उनके अधीन है। माया उनकी शक्ति है और जैसे अग्नि से उसकी दाहिका शक्ति भिन्न नहीं है उसी प्रकार माया भी भगवान् से भिन्न नहीं है। अपनी शक्ति से दूसरों को मोहित कर देना यही माया है। भगवान् अजन्मा और अविनाशी है, इसलिये ईश्वर हैं।

प्रश्न— अजन्मा और अविनाशी तो जीव भी है, ऐसा शास्त्र कहता है।

उत्तर— जीव अजन्मा और अविनाशी तो है, परन्तु भूतों का ईश्वर तो नहीं हैं और भगवान् अपने को 'भूतानामीश्वरोऽपि सन्' कह रहे हैं। तथा वे स्वेच्छा से अपनी माया शक्ति के द्वारा अवतार लेते हैं और जीव अपने पाप-पुण्यरूप कर्मों का फल भोगने के लिये प्रारब्धाधीन होकर जन्म लेता है।

प्रश्न— इस श्लोक में पहले 'प्रकृति' कहा और फिर 'माया' इसका क्या कारण है?

उत्तर— शुद्ध ब्रह्म में तो जन्मादि का कोई प्रसंग है नहीं, अत: अपनी माया द्वारा वे ईश्वरता स्वीकारा करते हैं। फिर प्रकृति को अपनाकर वे सगुण हो जाते हैं। अर्थात् वह शुद्ध-ब्रह्म ही कारण-उपाधि से निराकार-ईश्वर हुए और कार्य-उपाधि स्वीकार करके सगुण-साकार भगवान् हुए, जिस प्रकार कि जागृत आदि अवस्थाओं के अभिमानवश उन्हें विश्व, तैजस और प्राज्ञ कहा जाता है। कार्य-उपाधि के द्वारा वे अपना जीवत्त्व प्रकट करते हैं और जीव के समान ही चेष्टाएँ भी करते हैं।

संगति— अगले दो श्लोक में वे अपने अवतरित होने के हेतु बतलाते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।७।।

भावार्थ— भारत! जब-जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब मैं देह धारण करता हूँ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।८।।

भावार्थ— सत्पुरुषों के परित्राण और पापियों के विनाश के लिये मैं युग-युग में अवतार लेता हूँ।

व्याख्या— यहाँ भगवान् ने अपने अवतार के तीन हेतु बतलाये हैं—

१. साधु पुरुषों की रक्षा।

२. दुष्टों का विनाश। जैसे पूतना, अघासुर एवं रावणादि के नाश के लिये अर्थात् जिन भगवद्भक्तों को पूर्वजन्म में कोई अपराध कर जाने के कारण आसुरी योनि में आना पड़ा उनका संहार द्वारा उद्धार करने के लिये भगवान् अवतार लेते हैं। साधारण पापी तो अपना-अपना कर्मफल भोगते रहते हैं, उनके लिये भगवान् जन्म नहीं लेते।

३. भागवत धर्म की स्थापना करने के लिये। भगवान् के उन दिव्य-मंगल स्वरूपों के चिन्तन द्वारा भगवद्भक्ति का प्रसार होता है।

प्रश्न— कलियुग के आरम्भ में अवतरित होकर भगवान् ने क्या धर्म-स्थापना की?

उत्तर—भगवान् श्रीकृष्ण के प्रादुर्भाव से ही तो श्रीकृष्ण स्वरूप की साकार उपासना स्थापित हुई। उनकी रूपश्री से सम्पूर्ण भक्तवृन्द उनकी ओर आकर्षित हो गये। भगवान् ने वर्णाश्रम धर्म की स्थापना नहीं की; कलियुग में उसका तो ह्रास होना ही था। उन्होंने तो भागवत धर्म की स्थापना की और उसी से कलियुग में जीवों का उद्धार होता है।

प्रश्न— जैसे जीवों के शरीर जड़ होते हैं वैसे ही क्या भगवान् का शरीर भी जड़ और पाञ्चभौतिक होता है?

उत्तर— नहीं। श्लोक ७ और ८ में भगवान् ने यह प्रकट किया है कि मैं किसी अन्य की प्रेरणा से उत्पन्न नहीं होता, स्वयं ही प्रकट होता हूँ। मुझे किसी सहायक सामग्री की आवश्यकता नहीं होती। इसमें यह श्रुति प्रमाण है—

न तस्य कार्यंकरणं च विद्यते
न तत्समश्चाम्यधिकश्च कश्चित्।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

अर्थात् भगवान् का कोई कार्य या करण नहीं है उनके समान या उनसे बड़ा भी कोई नहीं है। उनकी पराशक्ति अनेक प्रकार की सुनी जाती है तथा उनमें ज्ञान, बल और क्रिया भी स्वभाव से ही है। अत: भगवान् का शरीर जड़ या भौतिक नहीं होता। देवताओं के तेजोमय शरीर भी दिव्य कहे जाते हैं। भगवान् तो स्वयंप्रकाश हैं, स्वेच्छाविग्रह हैं अत: उनका शरीर चिन्मय होता है।

संगति— अगले श्लोक में यही बात कही जाती है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥९॥

भावार्थ— अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य (अलौकिक) हैं। ऐसा जो तत्त्व से जानता है वह शरीर को त्यागकर फिर जन्म नहीं लेता, मुझे ही प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— पहले सच्चिदानन्द भाव से ध्यान करने पर जब ऐसा अनुभव होता है कि भगवान् चिन्मय हैं और मैं भी चिन्मय हूँ तब फिर जन्म नहीं होता। भगवान् के जन्म और कर्मों की दिव्यता इससे मालूम होती है कि उन्होंने छ: मास की आयु में ही पूतना एवं शकटासुर आदि का संहार किया, गोवर्धन पर्वत उठाया, सहस्रों गोपङ्गनाओं के साथ पृथक्-पृथक् रूप धारण कर रास-क्रीड़ा की और सोलह हजार एक सौ आठ रानियों के साथ गार्हस्थ्य धर्म का निर्वाह किया।

स्वरूप का अनुभव सत् चित् आनन्द और अद्वैत इन चार दृष्टियों से होता है। मैं शरीर रूप हूँ और परलोक में जाऊँगा—ऐसा सत् रूप से अनुभव तो प्राणिमात्र को होता है। मैं पञ्चकोश से भिन्न हूँ और जैसे भगवान् का शरीर दिव्य और चिन्मय है वैसे ही मेरा स्वरूप भी चिन्मय है—ऐसा अनुभव भगवान् साक्षात्कार होने पर ही होता है। जो भक्त भगवत्साक्षात्कार से पहले ही अपने को चिन्मय मान लेते हैं वह उनकी कल्पना ही होती है। आनन्दरूपता का अनुभव

ध्यान की गाढ़ अवस्था में होता है परन्तु फिर भी अज्ञान का पर्दा रह जाता है, जिसे आवरण कहते हैं। वह तत्त्वज्ञान से ही नष्ट होता है। अर्थात् अद्वैत का अनुभव सबके पीछे होता है। यही तत्त्वज्ञान है। यह प्रेमाभक्ति की प्रक्रिया है, वेदान्ती भले ही इसे स्वीकार न करें। जिज्ञासु तो ऐसा मानते हैं कि भक्ति परिपक्व होने पर भगवान् कृपा करते हैं, तब जिज्ञासा होती है। पीछे श्रवणादि करने पर महावाक्य द्वारा ज्ञान होता है। उपासक वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ को अभिन्न मानते हैं, उनका जो वाच्यार्थ है वही लक्ष्यार्थ है। किन्तु वेदान्तीं इन दोनों का भेद मानते हैं।

इस श्लोक में 'तत्त्वतः' शब्द आया है, अतः तत्त्वज्ञान की दृष्टि से इसका अर्थ इस प्रकार होगा– मैं शुद्ध साक्षी हूँ। परमार्थतः तो मेरे जन्म और कर्मों का अत्यन्ताभाव है किन्तु जैसे आभूषण सुवर्ण से पृथक् प्रतीत नहीं होते उसी प्रकार मेरे राम-कृष्णादि स्वरूप भी शुद्ध ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं। उनका उसी में भास होता है। ऐसा जिसको अनुभव है वह शरीर त्यागकर फिर जन्म को प्राप्त नहीं होता, अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

संगति—अब अगले श्लोक में इस योग की प्राप्ति का साधन बतलाते हैं–

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥१०॥

भावार्थ– जिनके राग, भय और क्रोध निवृत्त हो गये हैं और जो अनन्य प्रेम-पूर्वक मुझ में ही स्थित हैं ऐसे मेरे आश्रित रहने वाले बहुत से भक्त ज्ञानरूप तप से पवित्र होकर मेरे स्वरूप को प्राप्त हो गये है।

व्याख्या– इस श्लोक का पूर्वार्द्ध भक्तिपरक है और उत्तरार्द्ध ज्ञानपरक। 'वीतरागभयक्रोधाः' इस पद में 'राग' मुख्य है। किसी वस्तु में राग रहने से ही इस बात का भय रहता है कि कहीं कोई उसे मुझसे दूर न कर दे। तथा जो ऐसा करता है उसी के प्रति क्रोध होता है। अतः

भय और क्रोध का कारण राग ही है। यहाँ नित्यानित्यविवेक ही ज्ञानरूप तप है। उसके द्वारा मद्भाव को प्राप्त होना अर्थात् मुझसे अभिन्न हो जाना—यही ज्ञाननिष्ठा है। इसके प्राप्त होने से कृत-कृत्यता सहज सिद्ध है।

प्रश्न— क्या राग, भय और क्रोध बीत जोन पर पूर्णता प्राप्त हो जाती है?

उत्तर— केवल इतने से पूर्णता प्राप्त नहीं होती। यदि ऐसा होता तो भगवान् 'मन्मया मामुपाश्रिताः' क्यों कहते। अतः उसके साथ भगवन्निष्ठा और भगवदाश्रय अवश्य होने चाहिये।

संगति—जब ऐसी शंका होने पर कि आप किसी को ज्ञानयोग, किसी को भक्तियोग और किसी को कर्मयोग का उपदेश क्यों करते हैं, भगवान् कहते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥११॥

भावार्थ—हे पार्थ! जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ। मनुष्य सब प्रकार मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं।

व्याख्या— मुझे जो जिस इच्छा से भजते हैं उन्हें मैं वही वस्तु प्राप्त करा देता हूँ। सकामी को इच्छित वस्तु और मुमुक्षु को ज्ञान प्रदान करता हूँ इसलिये मैं राग-द्वेष-शून्य हूँ। अतः जिनकी जैसी इच्छा होती है उसी प्रकार मैं उन पर अनुग्रह करता हूँ। यद्यपि सभी मननशील पुरुष मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं, तथापि भक्ति या ज्ञान सब नहीं चाहते। अतः अगले श्लोक में यह कहते हैं कि मनुष्यलोक में कर्मजनित सिद्धि शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥१२॥

भावार्थ— जो लोग कर्मों से होने वाली सिद्धि की आकांक्षा करते हुए देवताओं की पूजा करते हैं उन्हें इस मनुष्यलोक में वह कर्मजनित सिद्धि शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है।

व्याख्या— यहाँ 'मनुष्यलोके' इसलिये कहा है क्योंकि मनुष्यों में ही वर्णाश्रम विभाग है, अतः उन्हें ही श्रौत-स्मार्त्त कर्म करते हुए सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

प्रश्न— आप कर्मयोग की महत्ता का प्रतिपादन करते हैं, किन्तु ज्ञान को छोड़कर कर्म की ओर कौन जाना चाहेगा।

उत्तर— ज्ञानयोग की प्राप्ति के लिये अन्तःकरण की शुद्धि आवश्यक है और उसके लिये निष्काम कर्म करना चाहिये। अतः पहले कर्मयोग का आश्रय लिये बिना ज्ञानयोग में प्रवेश कैसे होगा?

प्रश्न— अन्तःकरण की शुद्धि तो हठयोग से भी हो सकती है, फिर हम कर्म क्यों करें?

उत्तर— यदि हृदय में सकामता रहे तो हठयोग से शरीर भले ही शुद्ध हो जाय अन्तःकरण शुद्ध नहीं हो सकता। फिर इस साधना की क्षमता प्रत्येक शरीर में होती भी नहीं। यदि खान-पान अनुकूल न हो तो उल्टे शरीर रोगी और मन विक्षिप्त हो सकता है। चित्त की शुद्धि तो निष्काम कर्मयोग से ही शीघ्र होती है।

संगति— भगवान् आठवें श्लोक में कह आये हैं कि मैं धर्म की स्थापना के लिये युग-युग में प्रकट होता हूँ। उसी का अब विस्तार करते है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।।१३।।

भावार्थ— गुण और कर्मों के विभागपूर्वक इन चारों वर्णों की रचना मैंने की है। किन्तु इनका कर्ता होने पर भी तुम मुझ अविनाशी परमेश्वर को अकर्ता ही समझो।

व्याख्या— यद्यपि व्यवहार-दृष्टि से चारों वर्णों को मैंने ही रचा है तथापि परमार्थ-दृष्टि से तुम मुझे अकर्ता ही जानो। क्योंकि

तत्त्ववेत्ता को कर्म नहीं बाँधते। मैं सृष्टि के उत्पत्ति, स्थिति और संहाररूप कर्म करते हुए भी इनसे असंग हूँ। परमार्थतः यह सब संसार मायामात्र है। इसे मैं माया द्वारा ही रचता हूँ और मायामोहित पुरुषों को कर्ता-भोक्ता भी जान पड़ता हूँ, परन्तु तत्त्ववेत्ता मुझे नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ही देखते हैं। तत्त्ववेत्ता मन-बुद्धि का साक्षी होता है, अतः वह व्यवहार-दृष्टि से सब कुछ करता हुआ भी वस्तुतः कुछ नहीं करता।

प्रश्न— एक ही तत्त्ववेत्ता कर्ता और अकर्ता दोनों कैसे हो सकता है?

उत्तर— ईश्वर और तत्त्ववेत्ता दोनों में विरुद्ध धर्म रहते हैं, दोनों का विरुद्धधर्माश्रयत्व शास्त्रसम्मत है। ईश्वर-दृष्टि से जो सर्वकर्ता और सर्वभोक्ता है वही शुद्ध ब्रह्म-दृष्टि से अकर्ता और अभोक्ता भी है। इसी प्रकार जो तत्त्ववेत्ता बुद्धि-साक्षीरूप से अकर्ता-अभोक्ता है वही देहदृष्टि से कर्ता-भोक्ता भी है।

प्रश्न—तो फिर ईश्वर और तत्त्ववेत्ता में अन्तर क्या है?

उत्तर— ईश्वर नित्य-मुक्त है और तत्त्ववेत्ता जीवन्मुक्त है। ईश्वर ज्ञानस्वरूप है, गुरुओं का भी गुरु है तथा तत्त्ववेत्ता को ज्ञान हुआ है। ईश्वर सर्वज्ञ है तथा तत्त्ववेत्ता स्वरूप-दृष्टि से सर्वज्ञ होते हुए भी देहदृष्टि से अल्पज्ञ है। परन्तु यह भेद व्यवहार-दृष्टि से है, परमार्थतः तो दोनों का अभेद ही है।

संगति— भगवान् सब कुछ करते हुए भी अकर्ता हैं, अतः अगले श्लोक में कहते हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥१४॥

भावार्थ— मुझे कर्मफल की इच्छा नहीं है और कर्म मुझे बाँध नहीं सकते—इस प्रकार जो मुझे भली भाँति जानता है वह कर्मों से नहीं बँधता।

व्याख्या— यह श्लोक जीवन्मुक्त और ईश्वर दोनों ही के विषय में लग सकता है। गीता में यह दिखाया है कि भक्ति करते हुए भी कर्म

नहीं बाँध सकते, फिर ज्ञान के विषय में तो कहा ही है कि 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' अर्थात् अर्जुन! ज्ञानरूप अग्नि सभी कर्मों को भस्मीभूत कर देता है। यहाँ यह कहा है कि निष्काम-कर्म बन्धन के कारण नहीं बनते। यह कितनी कठिन बात है जो रोटी बनाता हो उसके कपड़ों में हल्दी आदि का धब्बा न लगे। इसी प्रकार कर्म करते हुए भी उनसे लिप्त न हो यह बड़ी कठिन बात है। 'इति मां योऽभिजानाति' (जो ऐसा अच्छी तरह जानता है)—इसका भी तात्पर्य केवल जानने में नहीं, प्रत्युत शास्त्रद्वारा ऐसा अनुभव करने में है कि मैं कर्म और योग से सर्वथा असंग हूँ। ऐसा होने पर ही विद्वान् कर्मों से लिप्त नहीं होता। ऐसी स्थिति सिद्ध पुरुषों की ही होती है। वे बन्धन में नहीं पड़ते और ऐसा जानकर ही पूर्ववर्ती मुमुक्षुओं ने कर्म किये थे। तुम भी मुमुक्षु हो, इसलिए ऐसा ही करो। यही बात आगे कहते हैं—

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।।१५।।

भावार्थ— पहले जो जनकादि मुमुक्षु हुए हैं उन्होंने ऐसा जानकर ही कर्म किये थे। अतः तुम अपने पूर्व पुरुषों से भी पहले हुए पुरुषों के किये हुए कर्म का ही आचरण करो।

व्याख्या— मुमुक्षु' शब्द से यहाँ प्रेमी भक्त अभिप्रेत नहीं है, उसे तो ज्ञानमिश्रा भक्तियुक्त समझना चाहिये। तथा 'कर्म' शब्द से निष्काम कर्म और निष्काम उपासना दोनों ग्रहण करने चाहिये। जीव अपने कर्मों के अनुसार जन्म लेता है और भगवान् उन भक्तों के लिये अवतार धारण करते हैं। इसलिये वे कर्मों से नहीं बँधते। कर्मों की गति बड़ी गहन है, इसीलिये यहाँ कर्मानुष्ठान पर जोर डाला गया है। 'ज्ञात्वा' शब्द से यहाँ शास्त्रज्ञान समझना चाहिये, तत्वज्ञान नहीं। इसी से भगवान् कहते हैं कि अन्तःकरण की शुद्धि के लिये निष्काम कर्म करो।

संगति— अगले श्लोक में कर्म का स्वरूप बताया गया है—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१६।।

भावार्थ— कर्म क्या है और अकर्म क्या है—इस विषय में दूरदर्शी पण्डित भी मोह में पड़ जाते हैं। अतः मैं तुम्हें भले-प्रकार कर्म कहूँगा, जिसे जान लेने पर तुम [संसार रूप] अशुभ से मुक्त हो जाओगे।

व्याख्या—प्रश्न— शास्त्रों ने तो आत्मा को जानने से मुक्ति बतायी है; फिर कर्म को जानने से मुक्ति कैसे होगी?

उत्तर— आत्मा तो जानने की वस्तु नहीं है, जाना तो कर्म ही जाता है। कर्म को जानना यह है कि कर्म माया है, उसकी सत्ता नहीं है। अथवा वह अपना स्वरूप ही है, आत्मा तो स्वयं है, उसे कोई क्या जानेगा। 'कर्म' शब्द से यहाँ पुण्यकर्म और 'अकर्म' से कर्माभाव समझना चाहिये। अगले श्लोक में कर्म-अकर्म का भेद स्पष्ट करते हैं-

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।१७।।

भावार्थ— कर्म (श्रुति-स्मृति-प्रपादित कर्म) का स्वरूप जानना चाहिये, विकर्म (श्रुति-स्मृति-निषिद्ध कर्म) का स्वरूप भी जानना चाहिये तथा अकर्म (कर्माभाव या अकर्मण्यता) का स्वरूप भी जानना चाहिये, क्योंकि कर्म की गति गहन है।

Three types of work **व्याख्या—प्रश्न—**कर्म, विकर्म और अकर्म का क्या स्वरूप है?

उत्तर— यहाँ शास्त्रविहित कर्म 'कर्म' शब्द से कहे गये हैं। इससे वर्ण और आश्रमों के लिये विहित कर्म समझने चाहिये। इन्हें जानने पर ही इनका यथावत् अनुष्ठान हो सकता है। अतः इन्हें करने के लिये जानना आवश्यक है। इसमें सत्त्वगुण की प्रधानता होती है। 'विकर्म' शास्त्र-विरुद्ध कर्मों को कहते हैं, जैसा हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि। इनमें रजोगुण और तमोगुण की प्रधानता होती है। इन्हें त्यागने के उद्देश्य से जानना आवश्यक है। 'अकर्म' कर्माभाव को कहते हैं। तत्त्वज्ञ जो अकर्तृत्वभाव से कर्मानुष्ठान करता है वह वास्तविक अकर्म

है। कोई निष्काम कर्म को भी अकर्म कहते हैं क्योंकि उसमें कर्मफल का बन्धन नहीं होता। किन्हीं के मत में संन्यास ही अकर्म है, क्योंकि उसमें सभी काम्यकर्मों का त्याग हो जाता है। साधारण लोग अकर्मण्यता या ठाली बैठने को ही अकर्म समझते हैं।

संगति— अब कर्म-अकर्म के विषय में भगवान् अपना मत बताते हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥१८॥

भावार्थ— जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वही योगयुक्त (सिद्धयोगी) है और वही सम्पूर्ण कर्म करनेवाला है।

व्याख्या— यहाँ कर्म करने वाले को बुद्धिमान् नहीं कहा अपितु कर्मों के स्वरूप को जानने वाले को बुद्धिमान् कहा है तथा उसी को युक्त और सम्पूर्ण कर्मों का करने वाला बताया है। इसलिये यहाँ तत्त्ववेत्ता के लिये कर्म करने का विधान नहीं है, क्योंकि वास्तव में तो कर्म की सत्ता ही नहीं है। और यह जानना ही कर्मों के स्वरूप को जानना है।

कर्मकाण्डियों का कथन है कि जो सन्ध्योपासनादि श्रोत या स्मार्त्त नित्य कर्म किये या कराये जाते हैं उनका अपना कोई नवीन फल नहीं होता, उनसे केवल प्रत्यवायों की निवृत्ति ही होती है। अतः इन्हें देखना ही कर्मों में अकर्म देखना है। तथा उन नित्यकर्मों को न करने से पाप होता है—यही अकर्म में कर्म देखना है। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं जान पड़ता, क्यों कि एक ही काल में कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म नहीं देख सकते। वे कहते हैं कि चन्द्रमा को हम स्थिर देखते हैं, परन्तु वह चलता है—यह कर्म में अकर्म देखना है। नाव चलती है तो तटवर्तीवृक्ष चलते जान पड़ते हैं—यह अकर्म में कर्म देखना है। किन्तु यह अर्थ भी समीचीन नहीं है, क्योंकि जो ऐसा देखता

है उसे तो बुद्धिमान्, युक्त और सर्वकर्मकृत् कहा है। ये लक्षण उसमें नहीं घट सकते। ये दोनों अर्थ कर्मकाण्डियों के हैं।

No work in work and work in no work

बोधदृष्टि से तो इसका यह तात्पर्य है कि जो कर्म और अकर्म दोनों को क्रियामात्र देखता हुआ उन्हें सर्वाधिष्ठान आत्मा में अध्यस्त देखता है और आत्मा को निष्क्रिय देखता है वही मनुष्यों में बुद्धिमान् योगयुक्त और सम्पूर्ण कर्मों को करने वाला है। तथा अन्वयदृष्टि से वही क्रियावान् है; वही निष्क्रिय है, वही क्रिया है और वही सब कुछ है। जो ऐसा देखता है वही बुद्धिमान्, सिद्ध और सम्पूर्ण कर्मों को करने वाला है।

अथवा अकर्म (निष्क्रिय–आत्मा) में कर्मों को अध्यस्त देखना और अधिष्ठान–दृष्टि से कर्मों में निष्क्रिय–आत्मा को देखना यही कर्मों में अकर्म और अकर्म में कर्म देखना है।

क्रिया दो प्रकार की होती है– शान्त और विक्षिप्त। शान्त अवस्था में क्रिया बीजरूपसे रहती हैं। यदि ऐसा न हो तो समाधि से उत्थान होने पर क्रिया नहीं होनी चाहिये। इससे सिद्ध होता है कि क्रिया तो रहती है परन्तु प्रतीत नहीं होती। इसी प्रकार विक्षिप्त अवस्था में शान्ति बीजरूप से रहती है, क्योंकि स्वरूप–स्थिति तो क्षण–क्षण में होती रहती है। इस प्रकार जब क्रिया के बिना कोई अवस्था नहीं है तो निष्क्रिय किसे कहें। अतः इस श्लोक का भाव यह है कि स्वरूप या स्वरूप–स्थिति ही निष्क्रियता या शान्ति है और शान्ति के समय भी क्रिया रहती है, परन्तु प्रतीत नहीं होती। यही अकर्म में कर्म देखना है। तथा क्रिया में भी शान्ति को अनुगत देखना कर्म में अकर्म देखना है। इस दृष्टि से बोधवान् सर्वदा निष्क्रिय है और अज्ञानी सदा क्रियावान् है। कहा भी है–

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते।
प्रवृत्तिरपि बुद्धस्य निवृत्तिफलभाग्भवेत्॥

अर्थात् जो करता हुआ भी अपने अकर्ता देखता है वही कर्म में अकर्म देखता है और वही मनुष्यों में बुद्धिमान् योगयुक्त और सब कुछ करने वाला है।

प्रश्न— आप कहीं अनुष्ठान-अध्यस्त की बात कहते हैं, कहीं आधार आधेय कहते हैं और कहीं साक्षी-साक्ष्य कहते हैं। इसमें परस्पर क्या अन्तर है?

उत्तर— जहाँ किसी सत्य वस्तु में भ्रान्ति से अन्य वस्तु की प्रतीति होती है वहाँ अधिष्ठानअध्यस्त भाव होता है, जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति, इनमें रज्जु अधिष्ठान है और सर्प अध्यस्त है। इस अवस्था में अधिष्ठान ही सत्य होता है, अध्यस्त केवल प्रतीतिमात्र होता है। आधार-आधेय दोनों सत्य होते हैं, जैसे पात्र में भरा हुआ तैल। यहाँ आधार पात्र और आधेय तैल दोनों सत्य हैं। साक्षी प्रकाशक या देखने वाले को कहते हैं और साक्ष्य प्रकाश्य या दीखने वाले को। शरीरादि सम्पूर्ण प्रपञ्च और उसका अभाव, जो भी दिखाई देता है, सब साक्ष्य है और चेतन आत्मा जिसे यह सब दिखता हे, साक्षी है। इसमें दो मत है। अद्वैत वेदान्त या ज्ञानी लोग साक्षी को सत्य और साक्ष्य को असत् मानते हैं। तथा सांख्य, योग और उपासक दोनों ही को सत्य मानते हैं।

संगति— अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखने वाले पुरुष की क्रिया किस प्रकार होती है—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।१९।।

भावार्थ— जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और संकल्प से रहित होते हैं तथा ज्ञानाग्नि से समस्त कर्म दग्ध हो गये हैं उसको बोधवान् पुरुष पण्डित (तत्त्ववेत्ता) कहते हैं।

व्याख्या—प्रश्न— कामना और संकल्प के बिना तो कोई क्रिया हो ही नहीं सकती; फिर कर्म का आरम्भ कैसे होगा।

उत्तर— कामना और संकल्प तो हों, किन्तु परार्थ हों, दूसरों के हित के लिये हों, स्वार्थ या अपने सुख के लिये न हों अथवा ऐसा समझो कि ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाने के कारण उसे अपने में कोई कर्म दिखायी ही नहीं देता, उसे सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्ममयी ही दिखायी देती

है। यहाँ इसलिये भी उसके कर्मों को काम और संकल्प से रहित कहा है क्योंकि जितने भी कर्म-अकर्म हैं उन्हें वह मरुभूमि के जल के समान केवल प्रतीतिमात्र देखता है। ज्ञान हो जाने पर भी प्रातिभासिक रूप में कर्मऔर कर्तत्व रहते ही हैं। अन्तर केवल इतना है कि अज्ञान के समय उनमें सत्यत्वबुद्धि थी और अब उन्हें केवल सत्ताशून्य प्रतीतिमात्र देखता है। जिस प्रकार भुना हुआ चना पूर्ववत् दिखायी देता है, परन्तु उससे अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी प्रकार बोधवान् की सभी क्रियाएँ पहले की तरह होती हैं, परन्तु वे फल देने वाली नहीं होतीं। अब उसे कर्म करने की आवश्यकता भी नहीं होती, क्योंकि निष्काम कर्म का फल तो बोध है, वह हो चुका। अब तो उसके लिये आत्मरति ही प्रधान है। उसके अज्ञान और अज्ञान के कार्यरूप प्रपञ्च की जड़ उखड़ जाती है। अर्थात् उसे ऐसा अनुभव होता है कि प्रपञ्च कुछ है ही नहीं।

संगति— इस प्रकार तत्ववेत्ता के लक्षण बतलाकर अब अगले श्लोक में उसका स्वरूप बतलाते हैं। यह श्लोक उस पर चरितार्थ होता है जिसे गृहस्थ आश्रम में ही तत्वज्ञान हो गया हो। अर्थात् जो प्रवृत्तिपरायण हो।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥२०॥

भावार्थ— जो कर्म के फल की आसक्ति को त्यागकर नित्य तृप्त और निराश्रय है वह सम्पूर्णतया कर्म करते हुए भी कुछ नहीं करता। [वह नित्यतृप्त है, इसलिये उसकी कर्मों के फल में आसक्ति नहीं होती और इसीलिये वह किसी के आश्रित भी नहीं होता। अतः कर्मों को करते हुए भी वह अकर्ता ही है।]

व्याख्या— यहाँ कर्मफलासङ्ग का अर्थ यह भी हो सकता है कि वह कर्मों के फलरूप देह से असंग है। अर्थात् उसे देहाध्यास नहीं होता। तब यह क्रियाविशेषण होगा वह आत्मा में ही रमण करने वाला है और उसे अन्तःसुख प्राप्त है, इसलिये वह नित्य-तृप्त और निराश्रय

है। आश्रय दो ही को नहीं होता— बोधवान् को और नास्तिक को, और सभी को किसी न किसी का आश्रय होता है। बोध होने पर कर्ता-भोक्ता नहीं रहता और किसी प्रकार की इच्छा भी नहीं रहती। जिसे इच्छा होती है उसकी को आश्रय लेना पड़ता है। और इच्छा उसी में होती है जो कर्ता-भोक्ता हो। इसलिये बोधवान् सम्पूर्ण कार्यों में प्रवृत्त होता हुआ भी कुछ नहीं करता।

प्रश्न— यदि बोधवान् सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी अकर्ता है तो उसे अभ्यास करने से क्या लाभ या हानि है?

उत्तर— ज्ञान केवल अज्ञान का विरोधी है और उससे केवल अज्ञान की ही निवृत्ति होती है, मनोनाश और वासना-क्षय नहीं होते। इसलिये ज्ञान हो जाने पर भी इनके लिये अभ्यास करे।

प्रश्न— यदि ज्ञान से अज्ञान का नाश हो गया तो अज्ञान के कार्य मन और वासनाओं का भी नाश हो जाना चाहिये।

उत्तर— नाश तो कारण के साथ कार्य का भी हो जाता है परन्तु प्रतीतिमात्र रह जाती है, जैसे जागने पर स्वप्न का नाश हो जाता है, किन्तु उसकी स्मृति बनी रहती है। वह कोई हानि तो नहीं करती, परन्तु उसे भी क्यों रखा जाय। उसका भी अभाव हो जाय तो अच्छा ही है।

प्रश्न— वासनाक्षय का उपाय क्या है?

उत्तर— किसी पदार्थ की इच्छा होने पर उसके विपरीत आचरण करना। अर्थात् इच्छा का दमन कर देना ही वासना-क्षय का उपाय है। अथवा प्रपञ्च का अन्त्यन्ताभाव है—इस दृष्टि को जाग्रत रखना। इसी को बोधवान् बाध से, उपासक इष्ट में चित्त लगाकर और योगी मनोनिरोध द्वारा द्रष्टा में स्थिति रखकर करते हैं। इस प्रकार तीनों के पृथक्-पृथक् साधन हैं। इसकी पहचान यही है कि अनुकूलता में प्रसन्नता न हो और प्रतिकूल परिस्थिति आने पर घबरावें नहीं। अर्थात् दोनों अवस्थाओं में निर्भय रहे। यही जीवन्मुक्ति का अभ्यास है। मनोनाश ही साम्यावस्था है। इसी की पराकाष्ठा निर्विकल्प

समाधि है। साम्यावस्था से ही आनन्द का विकास होता है और आनन्दमय कोश से उपरति होने पर स्वरूपस्थिति होती है।

प्रश्न— वासनाओं के समूह का नाम ही मन है। जब दोनों एक हैं तो दो शब्दों का प्रयोग क्यों किया जाता है?

उत्तर— मन और वासना एक नहीं हैं। ध्रुव ने मनोनाश तो कर लिया था, किन्तु राज्य की वासना रहने के कारण लौट कर फिर राज्य करना पड़ा। इसलिये जब तक इन दोनों का क्षय नहीं होगा तब तक पूर्णता नहीं होगी। निर्जन स्थान में बीस वर्ष तक अभ्यास करने से वासना क्षय होती है। एक दिन कोई स्वादिष्ट वस्तु खा लेने पर मन में सूक्ष्यरूप से उसके संस्कार बने रहते हैं। परन्तु हमें पता नहीं लगता। पर जिसे यथार्थ बोध हो गया है वह मनोनाश-वासनाक्षय के लिये अभ्यास करे या न करे उसकी कोई हानि नहीं, क्योंकि यह अभ्यास भी व्यावहारिक ही है। यदि उसे व्यवहार से विक्षेप होता हो तो अभ्यास करे। यदि वह प्रवृत्ति में भी प्रसन्न है और उसे जीवन्मुक्ति के सुख की इच्छा नहीं है तो न करे। देखो, मैं एक बात कहता हूँ। इसे सुनकर जिज्ञासु बिगड़ जायेंगे। सुन-सुनाकर लोग कुछ का कुछ अर्थ लगावेंगे। परन्तु संकेतमात्र करता हूँ—जिसको एक बार ठीक-ठीक विवेक हो

A Realised person can do any work i.e. including impure work ???

गया है उसको तोड़ने की किसी की भी ताकत नहीं है। वह चाहे जो क्रिया करे, पूर्ण स्वतन्त्र है। आजकल बोध तो हो जाता है, किन्तु निर्भयता नहीं होती। स्वातंत्र्य-हीन बोध होता है। इसीसे कोई भूल बन जाती है तो डरकर काँपने लगते हैं। जीवभाव आ जाता है। प्रथम तो बोधवान् से कोई अशुभ-कर्म होना नहीं चाहिये। और हो जाय तो निर्भय रहना चाहिये।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥२१॥

भावार्थ— जिसने [इहलोक और परलोक के सुखों की] आशा का त्याग करके अपने मन और शरीर का संयम कर लिया है तथा सब प्रकार के परिग्रह को भी त्याग दिया है वह केवल

[भिक्षाटनादि] शारीरिक कर्म करते रहने पर संसार-बन्धन को प्राप्त नहीं होता।

व्याख्या— 'किल्बिष' शब्द का अर्थ होता है पाप, परन्तु ऐसे बोधवान् विरक्त महापुरुष से पाप तो हो ही नहीं सकता, इसलिये यहाँ इसका अर्थ जन्म-मरणरूप संसार-बन्धन किया है, क्योंकि उसकी दृष्टि में तो जन्म-मरण पाप ही है।

प्रश्न— यहाँ केवल शारीरिक कर्म ही क्यों कहा?

उत्तर— कर्म तो इस लोक या परलोक के भोगों की प्राप्ति के निमित्त से किये जाते हैं। तत्त्वज्ञ कोउनकी कोई रुचि नहीं होती। इसलिये वह भिक्षाटनादि कर्मों से शरीर-यात्रा का निर्वाह करते हुए निरन्तर ब्रह्माभ्यास में तत्पर रहते हैं।

संगति— आगे चार विशेषण दिये जाते हैं जो तत्त्ववेत्ता में प्रायः पाये जाते हैं—

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।२२।।

भावार्थ— जो बिना माँगे प्राप्त हुई वस्तु से ही सन्तुष्ट रहता है, गर्मी-सर्दी आदि द्वन्द्वों से रहित है, दूसरों के गुणों में दोषानुसन्धान नहीं करता तथा कार्य की सिद्धि-असिद्धि में समान रहता है, ऐसा पुरुष सब कुछ करता हुआ भी बँधता नहीं है।

व्याख्या—प्रश्न— बोधवान् की दृष्टि में सिद्धि-असिद्धि तो है ही नहीं, फिर उनमें समान रहने का क्या अभिप्राय है?

उत्तर— उसे भिक्षा मिल जाय तथा लोग पूजा-प्रतिष्ठा करें— यही उसकी सिद्धि है तथा इसके विपरीत असिद्धि है। इन दोनों स्थितियों में वह भला-बुरा नहीं मानता, इसलिये सिद्धि-असिद्धि में समान है।

'कृत्वापि न निवध्यते' भिक्षाटनादि कर्म करते हुए भी वह बँधता नहीं है। केवल यही देखता है कि गुण गुणों में वर्त रहे है। ऐसा

पुरुष लोकदृष्टि में तो कर्ता-भोक्ता ही जान पड़ता है, परन्तु वह स्वयं अपने को कर्तृव्य-भोक्तृत्व से शून्य ही देखता है।

यहाँ २० से २३ तक चार श्लोकों में से २० और २३ वें श्लोकों में तो यह दिखाया है कि गृहस्थ बोधवान् सब कुछ करते हुए भी बन्धन में नहीं पड़ता तथा श्लोक २२ और २३ में विरक्त बोधवान् का आचरण दिखलाया है। 'यदृच्छालाभसन्तुष्टः' कहकर संन्यासियों की रहनी दिखायी गयी है। संन्यासियों की दो वृत्तियाँ प्रधान हैं-(१) भिक्षावृत्ति और (२) अजगर वृत्ति। इनमें अजगर-वृत्ति वाले तो शौच-लघुशंका के लिये ही आसन से इधर-उधर जाते हैं। इनमें भी जो उच्चकोटि के होते हैं वे इस निमित्त से भी नहीं जाते, वहीं कर लेते हैं। भगवदिच्छा से जो आ गया उसी में सन्तुष्ट रहते हैं। वे ही द्वन्द्वातीत हैं। बोध होने पर भी द्वन्द्वों की प्रतीति तो होती है, परन्तु जो उन्हें प्रसन्नता से सह लेता है वही द्वन्द्वातीत है। अथवा जिसे ऐसा अनुभव है कि द्वन्द्वों की सत्ता ही नहीं है वही द्वन्द्वातीत है। द्वन्द्वातीत होने से ही वह विमत्सर और सिद्धिअसिद्धि में समान भी है। जिनमें ये लक्षण घटते हैं उनमें जो भी क्रिया होती है उससे वे बँधते नहीं है। क्योंकि वे सम्पूर्ण प्रपञ्च को ब्रह्मरूप ही देखते हैं। इसलिये उन्हें जल में कमल-दल के समान निर्लेप कहा है। तथा श्रुति भी कहती है 'नैनं कृताकृते तपतः' अर्थात् उसे पाप-पुण्य सन्तप्त नहीं करते, ऐसे पुरुष के कर्म अकर्म ही है। उपर्युक्त २१ वाँ श्लोक भिक्षावृत्तिवालों के विषय में है और २२वाँ अजगर-वृत्तिवालों के लिये। ये दोनों श्लोक विरक्त तत्त्ववेत्ताओं की वृत्तियों का निरूपण करते हैं।

संगति— इन श्लोकों से सिद्ध होता है कि बोधवान् भी कर्म करता है। अतः कहते हैं—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥२३॥

भावार्थ— जो आसक्तिरहित और मुक्त है तथा जिसका चित्त आत्मज्ञान में स्थित है और जो केवल यज्ञ के निमित्त से कर्म करता

है उस पुरुष के सब कर्म लीन हो जाते हैं। अर्थात् कर्मों के द्वारा वह बन्धन में नहीं पड़ता।

व्याख्या— उपर्युक्त श्लोक में 'गतसङ्गस्य' के पश्चात् 'मुक्तस्य' आया है। इसका तात्पर्य यह है कि असंग होने पर उसी क्षण मुक्त हो जाता है। अर्थात् निरन्तर ब्रह्माकार-वृत्ति के द्वारा जिसकी अहन्ता-ममता नष्ट हो गयी है वह गतसङ्ग ही मुक्त है। किन्तु असंग होते ही मुक्त हो जाता है—यह सुनकर प्रमादवश ऐसा न समझ लें कि अब मैं स्वतन्त्र हूँ, चाहे कुछ भी करूँ। इसलिये उसके पश्चात् ही कहते हैं 'ज्ञानावस्थितचेतसः' अर्थात् जिसका चित्त आत्मज्ञान में स्थित है। सर्वज्ञ ब्रह्मदृष्टि होने के कारण वह यज्ञार्थ कर्म करता हुआभी कर्म करता हुआ भी कर्म से नहीं बँधता। अर्थात् उससे फिर फलरूप अंकुर नहीं उगता। उसकी दृष्टि में आत्मा से भिन्न सम्पूर्ण जगत् का अभाव हो जाता है। वह सीपी में चाँदी के समान सभी का अत्यन्ताभाव देखता है। ऐसा पुरुष यज्ञ (भगवान् विष्णु) के लिये आचरण करता हुआ भी पुण्य-पाप के बन्धन से नहीं बँधता, क्योंकि उसकी दृष्टि में सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मस्वरूप है।

संगति— अगले श्लोक में तत्त्ववेत्ता के कर्म का स्वरूप बतलाते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।२४।।

भावार्थ— उसका यज्ञार्थ अर्पण ब्रह्म है, आहुति ब्रह्म है तथा ब्रह्म के द्वारा ब्रह्मरूप अग्नि में हवन किया जाता है। इस ब्रह्मकर्म-रूप समाधि के द्वारा वह ब्रह्म को ही प्राप्त होता है।

व्याख्या— यह श्लोक ज्ञानपरक है। यहाँ ज्ञानदृष्टि का निरूपण हुआ है, क्योंकि वह अर्पण, हवि, अग्नि, आहुति, प्राप्तव्य स्थान और कर्म सभी को ब्रह्मरूप देखता है। तथा सम्पूर्ण संसार का अत्यन्ताभाव देखता है।

प्रश्न—इस श्लोक में यज्ञ और उसकी सामग्री आदि को ब्रह्म ही कहा है। यदि ऐसा भाव करना चाहिये, तो क्या यह भाव का विषय है।

उत्तर— यहाँ भाव करने को नहीं कहा, क्योंकि यह उपासना का विषय नहीं है। ऊपर से ही ज्ञान का प्रसंग चल रहा है, इसलिये वह ब्रह्मदृष्टि है। जो ब्रह्मवेत्ता निर्विकल्प समाधि करने में असमर्थ हैं वे संसार में श्रौत-स्मार्त्त कर्म करते हुए वैदिक रीति से चलते हैं और सभी में ब्रह्मदृष्टि रखते हैं, क्योंकि तत्त्वतः सब कुछ ब्रह्म ही है।

संगति—आगे के श्लाकों में अनेक प्रकारों के यज्ञों का निरूपण किया जाता है—

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।।२५।।

भावार्थ—कोई योगिजन (श्रोत-स्मार्त्त-कर्म करने वाले गृहस्थ) देवयज्ञ (इन्द्रादि देवताओं की प्रसन्नता के लिये किये जाने वाले यज्ञ) करते हैं। और कोई दूसरे (ब्रह्मवेत्ता विरक्त) ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञ (आत्मज्ञान) के द्वारा यज्ञ (जीवात्मा) का हवन करते हैं। अर्थात् सोपाधिक जीवदृष्टि को त्यागकर निर्विशेष ब्रह्मदृष्टि करते हैं।

व्याख्या— यहाँ से आगे भगवान् ने बारह प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया है। ये एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। परन्तु इनमें से किसी एक का भी अनुष्ठान करने से ब्रह्मप्राप्ति हो सकती है। यहाँ ब्रह्म को अग्नि इसलिये कहा है कि उसमें सोपाधिक आत्मा हवन करने पर अविद्या और काम-क्रोधादि दग्ध हो जाते हैं। इस श्लोक का पूर्वार्द्ध गृहस्थ कर्मयोगियों के लिये है और उत्तरार्द्ध संन्यासी ब्रह्मवेत्ताओं के लिये। वे ही सोपाधिक ब्रह्म अर्थात् जीवात्मा को निरुपाधिक ब्रह्म में होमते हैं। अर्थात् अनात्माकारवृत्ति को हटाकर आत्माकारवृत्ति करते हैं। ब्रह्माकारवृत्ति ही ज्ञानयज्ञ है और यही सब यज्ञों में श्रेष्ठ है।

संगति—अगले पाँच श्लोकों में ज्ञानियों का संयम बतलाया है—

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।।२६।।

भावार्थ— दूसरे योगिजन श्रोत्रादि इन्द्रियों का संयमरूप अग्नि में और उनसे भिन्न कोई दूसरे शब्दादि विषयों का इन्द्रियरूप अग्नि में हवन करते हैं।

व्याख्या— यह श्लोक आधा जिज्ञासु के लिये है और आधा संयमी गृहस्थ के लिये। जिज्ञासु श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों को उनके विषयों से रोकते हैं। यही संयमरूप अग्नि में हवन करना है। वे इन्द्रियों को शास्त्रविरुद्ध दोनों प्रकार के विषयों से हटा लेते हैं। अथवा नैष्ठिक ब्रह्मचर्यरूपी अग्नि में श्रोत्रादि इन्द्रियों का हवन करते है तथा इनसे भिन्न संयमी गृहस्थी शब्दादि विषयों में इन्द्रियों को आसक्त नहीं होने देते। अर्थात् केवल शास्त्रविरुद्ध विषयों से चित्त को हटाते हैं। अर्थात् शास्त्रविरुद्ध कर्मों का त्यागरूप यज्ञ करते हैं।

संगति— अगले श्लोक में ज्ञानियों का संयम बतलाया है—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।२७।।

भावार्थ— दूसरे योगिजन ज्ञान से प्रज्वलित आत्मसंयम रूपी योगाग्नि में सब इन्द्रियों और प्राण के कर्मों का हवन करते हैं।

व्याख्या—ये ध्यानयोगी पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच प्राणों के व्यापारों को योगाग्नि में हवन करते हैं। आत्मा अर्थात् मन का संयम ही योगाग्नि है। धारणा ध्यान और समाधि तीनों एक ही विषय में होने पर संयम कहलाते हैं, 'त्रयमेकत्र संयमः'। वे आत्मसंयमरूप अग्नि से प्राण और इन्द्रियों का हवन करते हैं। इस प्रकार वे जो निर्विकल्प समाधि का अभ्यास करते हैं वही उनका हवन है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।२८।।

भावार्थ— कोई द्रव्ययज्ञ करने वाले हैं, कोई तपोयज्ञ करते हैं और कोई योग-यज्ञ करने वाले हैं। इसी प्रकार कोई यत्नशील मुमुक्षु अभ्यासी दृढव्रती स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ करने वाले हैं।

व्याख्या— द्रव्ययज्ञ गृहस्थ मुमुक्षु करते हैं, जैसे सुपात्र को द्रव्यदान करना आदि, क्योंकि द्रव्य में भी जो दोष पैदा हो जाता है वह दान से ही शुद्ध होता है। जिस प्रकार कुएँ का जल कीड़ों से गन्दा होने पर बाहर निकालने से ही शुद्ध होता हैं। तपोयज्ञ चान्द्रायण व्रत आदि। तप बहुत हैं, परन्तु सबसे श्रेष्ठ यज्ञ प्राणायाम है। यह प्राणों की शान्ति है। योगयज्ञ अष्टाङ्ग योग द्वारा चित्त का निरोध करना है। स्वाध्याय यज्ञ वेद, शास्त्र, पुराण तथा विष्णु-सहस्रनाम आदि धर्मग्रन्थों का पाठ करना हैं यह भी यज्ञ है, अतः स्वाध्याय से प्रमाद न करे। ज्ञानयज्ञ नित्यानित्य-विवेक, वेदान्तश्रवण तथा महावाक्यों के अर्थ का विचार करना है। जो घोर कष्ट आने पर भी व्रत को न छोड़ें वे संशितव्रत कहलाते हैं। एक बार किये हुए निश्चय को प्राणपण से पूरा करने वाले दृढव्रती कहे जाते हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।२९।।

भावार्थ— कुछ मुमुक्षुजन अपान वायु में प्राणवायु और कुछ प्राणवायु में अपान वायु को हवन करते हैं। तथा कुछ प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणायाम में तत्पर रहते हैं।

व्याख्या— यहाँ प्राणायाम का विषय है। प्राणायाम तीन है- पूरक, रेचक और कुम्भक। श्वास को भीतर खींचना पूरक है। यही अपान को प्राण में हवन करना है। प्रश्वास को बाहर निकालना रेचक है और यही प्राण को अपान में हवन करना है। तथा प्राण-अपान की गति को रोक देना कुम्भक है। यही प्राणायाम के परायण होना है। पूरक और रेचक साधन हैं तथा कुम्भक साध्य है। कुम्भक के दो भेद हैं- अन्तर और बाह्य। प्राण को पूरक के बाद रोकना आन्तर कुम्भक है तथा प्रश्वास को रेचक के बाद रोकना बाह्य कुम्भक है। यही प्राण और

अपान की गति को रोकना है। यह हठयोग है। परन्तु एक चौथा प्राणायाम है, जिसका वर्णन पातञ्जल योगदर्शन के इस सूत्र में है–'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।' उसे केवली कुम्भक कहते हैं। इसका विशेष विवेचन अध्याय ५, श्लोक २७, २८ में किया जायगा।

प्रश्न—प्राण स्थिर करने के लिये किन साधनों की आवश्यकता है।

उत्तर— अल्पाहार, दृढ़ आसन, प्राणायाम और गुरुप्रदत्त युक्ति इन चार साधनों से प्राण स्थिर होता है। पहले आसन दृढ करना चाहिये। इसके लिये आसन के विघ्न स्त्रीप्रसंग, अग्निसेवन और प्रातःस्नान से बचना चाहिये। ऐसा दृढ़ संकल्प होना चाहिये कि चाहे शरीर फट जाय परन्तु आसन से विचलित नहीं होऊँगा। यह अपने इष्ट में दृढ़ अनुराग होने पर ही होगा। अनुरागी ही द्वन्द्व सहन कर सकता है। आसन के लिये एकान्त स्थान होना चाहिये। मेरी पूजा-प्रतिष्ठा होगी— ऐसा संसारी भावना करके आसन न लगावे। आसन के नीचे कंकर आदि नहीं होने चाहिये। इन नियमों का पालन करने से आसन सिद्ध होता है। शरीर और पलक न हिलने पावें, तभी आसन सिद्ध होता है।

प्रश्न— प्राणायाम करते समय उन्नति के क्या लक्षण हैं?

उत्तर— स्वेद, कम्प और आसन उठना—ये उन्नति के लक्षण हैं। इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।।३०।।

भावार्थ— दूसरे योगी आहार को नियमित करके प्राणों का प्राणों में हवन करते हैं। ये सभी यज्ञों को जानने वाले हैं और यज्ञों के द्वारा इनके पाप क्षीण हो जाते हैं।

व्याख्या— ये वे योगी है जो आहार का संयम करके नेति, धौति, वस्ति और खेचरी आदि क्रियाओं से प्राणों को शान्त करते हैं। इस प्रकार 'दैवमेवापरे यज्ञम्' इस २५ वें श्लोक से यहाँ तक कहे हुए

सभी मुमुक्षु यज्ञशेष ही भोजन करने वाले हैं। ये सभी मुक्त हो जाते हैं। इसी की पुष्टि अगले श्लोक से करते हैं–

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।३१।।

भावार्थ— कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञशिष्ट अमृत का उपभोग करने वाले पुरुष सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। जो किसी प्रकार का यज्ञ नहीं करते उन्हें तो यह लोक भी प्राप्त नहीं होता, अन्य लोक तो क्या मिलेगा।

व्याख्या—प्रश्न—प्राणायाम करने वाला प्राणोपासक तो समष्टि प्राण को ही प्राप्त हो सकता है, वह सनातन ब्रह्म को कैसे प्राप्त होगा?

उत्तर— प्राण आदि की उपासना सेउनके चित्त की शुद्धि होगी। इससे वासनाओं की निवृत्ति होगी और वासनाओं का न रहना ही मुक्ति है। इस प्रकार उनकी क्रममुक्ति होगी। यहाँ जिन यज्ञों का वर्णन हुआ है वे सभी साक्षात् या परम्परा से मोक्ष प्रदान करने वाले हैं।

यद्यपि जपादि स्नान के पश्चात् और भोजन से पहले ही करने का नियम है, तथापि ऐसा प्रमाण भी है–

इक्षूनपः फलं मूलं ताम्बूलं पय औषधिः।
भक्षयित्वापि कर्त्तव्यं स्नानदानादिकं क्रिया।।

अर्थात् ईख, जल, फल, मूल, पान, दूध और ओषधि खाकर भी स्नान-दान आदि कर्म किये जा सकते हैं।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणे मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।३२।।

भावार्थ— इस प्रकार वेद के द्वारा अनेक प्रकार के यज्ञों का विस्तार हुआ है। उन सबको तुम कर्मजनित जानो। ऐसा जानने से [और अपने को उनसे असंग अकर्ता, अभोक्ता, साक्षी जानने से] तुम मुक्त हो जाओगे।

व्याख्या—प्रश्न—भगवान् ने बताया कि पहले कर्म-विकर्म और अकर्म का स्वरूप जानना चाहिये। फिर बारह प्रकार के यज्ञ

बताये। इनको जानने से यह अनुभव होगा कि इन्हें जानने वाले इनके साक्षी तुम अकर्ता-अभोक्ता और इनसे सर्वथा असंग हो। इस प्रकार बाधितानुवृत्ति से इन्हें जानकर भी तुम मुक्त हो जाओगे।

संगति— अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि उपर्युक्त यज्ञों में सबसे श्रेष्ठ कौन यज्ञ है?

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।३३।।

भावार्थ—हे परन्तप! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि हे पार्थ! साराका सारा कर्म ज्ञान में समाप्त होता है। [अर्थात् ज्ञानदृष्टि उदित होने पर कर्मों का अत्यन्ताभाव हो जाता है।]

व्याख्या— जैसे सूर्य का उदय होने पर अन्धकार समूल नष्ट हो जाता है वैसे ही बोध होने पर कर्मों का समूल अभाव हो जाता है अर्थात् कर्म तो होते हैं, परन्तु उनका कोई फल नहीं होता। यह फल न होना ही कर्मों का अभाव है, क्योंकि कर्म कर्ता के अधीन है और बोध होने पर कर्ता रहता नहीं। इसलिये बोधवान् कर्म करते हुए भी नहीं करता। इसी से गोसाईंजी कहते हैं, 'करम कि होहिं सरूपहिं चीन्हे।'

द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। जो इन्द्रियों को वश में रखे वह 'परन्तप' कहलाता है। यहाँ ज्ञान का प्रसंग है और ज्ञान का अधिकारी इन्द्रियों निग्रह करने वाला ही है। अर्जुन भी इन्द्रियजित है। इसलिये यहाँ भगवान् ने उसे 'परंतप' कहकर सम्बोधन किया है। इस श्लोक में ज्ञान का निरूपण किया गया है।

संगति— वह ज्ञान गुरुदेव से ही प्राप्त हो सकता है। शिष्य को उनके प्रति कैसा व्यवहार रखना चाहिये—यह अगले श्लोक से बताया जाता है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।३४।।

भावार्थ— उस ज्ञान को तुम साष्टांग प्रणाम, प्रश्न और सेवा द्वारा प्राप्त करो। [ऐसा करने पर] तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुम्हें उसका उपदेश करेंगे।

व्याख्या— सेवा स्वयं ही करे, किसी से करावे नहीं। प्रश्न नम्रतापूर्वक करे। जब शिष्य भली प्रकार सेवा करेगा और उसमें नम्रता आ जायगी तब उसके फलस्वरूप उसकी बुद्धि में युक्तियुक्त तर्क और प्रश्न उठने लगेंगे। इस प्रकार जब वह तीव्र जिज्ञासु और अधिकारी होगा तब श्रीगुरुदेव ज्ञान का उपदेश करेंगे। किन्तु वह गुरु शास्त्रज्ञ और तत्त्वदर्शी होने चाहिये, उन्हें शास्त्र-ज्ञान भी हो और अनुभव भी। ऐसे सद्गुरु के प्राप्त होने पर ही शिष्य का कल्याण होगा। यहाँ 'तत्त्वदर्शिनः' और 'ज्ञानिनः' ये बहु वचन आदर के लिये हैं।

संगति— अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि सद्गुरु के उपदेश से शिष्य किस प्रकार कृतकृत्य होता है।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।।३५।।

भावार्थ— हे पाण्डव! जिस तत्त्वज्ञान को जानने पर तुम इस प्रकार पुनः मोह को प्राप्त नहीं होंगे और जिसके द्वारा तुम सम्पूर्ण भूतों को अपने (आत्मा) में और फिर मुझमें ही देखोगे।

व्याख्या— तुम दृश्यमात्र को एक सत्ता में देखोगे। जैसे विचारवान् मिट्टी के बर्तनों को मिट्टी ही देखता है और तरंग-फेन आदि को जल ही जानता है ऐसा ही तुम्हें अनुभव होगा। वास्तव में यही देखता है। इसी से रैक्व के प्रसंग में आया है कि संसार में जो भी पुण्य होते हैं वे रैक्व को प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि तत्त्वज्ञ होने के कारण आत्म-दृष्टि से रैक्व का विश्व के साथ अभेद था। ऐसा ज्ञान होने पर फिर इसी प्रकार मोह नहीं होता जैसे अन्धकार में पड़ी रस्सी का बोध हो जाने पर उसकी सर्पवत् प्रतीति होने पर भी उसमें सर्पबुद्धि नहीं होती। फिर वह निर्भय हो जाता है। ऐसा जो कहते हैं

कि यदि निरन्तर ब्रह्माकारवृत्ति नहीं रखोगे तो पुनः अज्ञान हो जायगा, वह अदृढ़ ज्ञानी या जिज्ञासु की दृष्टि से है।

संगति— अगले श्लोक में ज्ञान का महत्त्व बतलाते हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥३६॥

भावार्थ— यदि तुम सम्पूर्ण पापियों से भी अधिक पाप करने वाले होओ तोभी ज्ञानरूप नौका से ही सम्पूर्ण पापों को पार कर लोगे।

व्याख्या— यहाँ अर्जुन में पापी होने की सम्भावना इसलिये की क्योंकि उसकी यह धारणा थी कि युद्ध में भीष्मादि को मारने से पाप लगेगा। भगवान् यहाँ ज्ञान का महत्व बतला रहे है कि ज्ञानरूपी नौका से मनुष्य सम्पूर्ण पापों से पार हो जाता है। ज्ञानाग्नि से कर्म इस प्रकार भस्म नहीं होते जिस प्रकार अग्नि से लकड़ी, अथवा जैसे डंडे से घड़ा नष्ट हो जाता है, क्योंकि यहाँ तो लकड़ी की भस्म और घड़े के टुकड़े रह जाते हैं, जबकि ज्ञान से तो सभी प्रकार के कर्म तथा अज्ञान और उसका कार्य सम्पूर्ण प्रपञ्च सर्वथा निःशेष हो जाते हैं। उनका अत्यन्ताभाव हो जाता है, क्योंकि वास्तव में ये सब हैं नहीं, अज्ञान से केवल इनकी प्रतीति होती है। इस प्रकार जब ज्ञान होने पर संसार ही नहीं रहता तो भीष्मादि के वध से होने वाला पाप किस प्रकार रहेगा?

इस श्लोक में जो पापी होने पर भी ज्ञान प्राप्त होने की सम्भावना दिखायी है वह कूटनीति है, क्योंकि पापी से भजन ही नहीं हो पाता, उसे ज्ञान कैसे होगा। यह ऐसी ही बात है जैसे आजकल[१], अंग्रेज कह देते हैं कि जब भारतवासी स्वराज्य के योग्य हो जायेंगे तब उन्हें दे दिया जायगा। परन्तु योग्य होने पर तो भारतवासी स्वयं स्वराज्य ले लेंगे। उन्हें अंग्रेज क्या स्वराज्य देंगे। पापी को तो ज्ञान हो

१. यह कथन भारत के स्वतन्त्र होने से पहले का है।

ही नहीं सकता। ज्ञान तो उसे तब ही होगा जब उसके सब पाप नष्ट हो जायेंगे। यहाँ केवल ज्ञान का महत्त्व दिखलाया है। वास्तव में सबसे बड़ा पापी तो वही है जिसकी संसार में आसक्ति है।

संगति— अगले श्लोक में इसको अधिक स्पष्ट करते हैं-

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।३७।।

भावार्थ— अर्जुन! प्रज्वलित अग्नि जैसे ईंधन को भस्मीभूत कर देता है उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देता है।

व्याख्या— जब ज्ञान होने पर अज्ञान नष्ट हो जाता है तब उसके कार्य कर्म और उपासना कैसे रह सकते है।, क्योंकि ज्ञान होने पर तो सब कुछ ब्रह्म ही है। कर्म रहता ही नहीं और उपासना मानसिक कर्म ही है, अतः वह भी नहीं रहती। 'भस्म' का अर्थ अत्यन्ताभाव समझना चाहिये। कहते हैं कि मरुभूमि का बोध होने पर जल की केवल प्रतीतिमात्र रह जाती है, परन्तु यह भी जिज्ञासु की दृष्टि है, केवल भ्रान्त दृष्टि का विलास है, बोधवान् की दृष्टि में तो जल न कभी था, न है, न होगा। फिर प्रतीति कैसी?

प्रश्न—यदि ज्ञानाग्नि से सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं तो प्रारब्ध क्या है? क्या वह कर्म नहीं है।

उत्तर— आचार्यों का कथन है—'अज्ञानिजनबोधार्थं प्रारब्धं वदति श्रुतिः' अर्थात् श्रुति ने अज्ञानियों को समझाने के लिये प्रारब्ध कहा है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानियों की दृष्टि में तो प्रारब्ध है नहीं। बोध होने पर यदि संसार का अत्यन्ताभाव हो जाता है तो प्रारब्ध कैसे रहेगा। वह भी तो संसार के ही अन्तर्गत है।

परन्तु बोध होने से पूर्व वह सकाम और निष्काम कर्म या उपासना कर चुका है। उनमें से निष्काम कर्म या उपासना का फल तो वैराग्य होकर बोध की प्राप्ति हो गया। अब बोध के पश्चात् जो उसकी प्रवृत्ति देखी जाती है वह उसके पूर्वकृत सकाम कर्म और उपासना का परिणाम है। वह शरीर रहने तक प्रतीत होगी ही। किन्तु वह प्रतीति

व्यवहारदृष्टि से ही है, बोधदृष्टि से तो वह भी बोधस्वरूप ही है। इसलिये कहते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।३८।।

भावार्थ— निःसन्देह संसार में ज्ञान के समान पवित्र कुछ नहीं है। परन्तु वह निरन्तर अभ्यास करने पर कालान्तर में सम्यक् प्रकार से सिद्ध हुआ अपने में ही प्राप्त होता है।

व्याख्या— प्राप्ति का यह अर्थ नहीं है ज्ञान कहीं बाहर से आता है। वह तो अपने आप में ही है। यह नित्य-प्राप्त की प्राप्ति है। 'योग' का अर्थ यहाँ विवेक-विचार है, क्योंकि निष्काम कर्म या उपासना से तो अन्तःकरण शुद्ध होकर विवेक उत्पन्न होता है। जो कर्म से उत्पन्न होता है वह स्वयंसिद्ध नहीं होता। परन्तु यह ऐसी बात है जैसे सरोवर में जल तो पहले से ही था, परन्तु वह काई से ढका हुआ था। काई हटाने पर वह पहले से विद्यमान ही प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार निष्काम कर्म द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि ही काई हटने के समान है।

ज्ञान के समान पवित्र कोई दूसरी वस्तु नहीं है, क्योंकि इससे अज्ञान अपने कार्य के सहित निवृत्त हो जाता है। फिर जगत् की कोई सत्ता नहीं रहती। जिसका माया से सम्बन्ध हो वही अपवित्र होता है। अतः लौकिक-अलौकिक सभी सृष्टियाँ अपवित्र है। ज्ञान होने पर जब पुण्य का संस्कार भी नहीं रहता तब पाप तो कैसे रहेगा। अतः ज्ञान से बढ़कर पवित्र कुछ भी नहीं है।

प्रश्न— यदि ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं है तो ऐसा ज्ञान सब प्राप्त क्यों नहीं कर लेते।

उत्तर— ज्ञान की प्राप्ति बहुत कठिन है। पहले निष्काम भाव से शुभ कर्म करने पर अन्तःकरण शुद्ध होता है, फिर वैराग्य होकर जिज्ञासा होती है और उसके पश्चात् सद्गुरु की प्राप्ति होने पर उनकी

कृपा से श्रवणादि द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। अतः कोई विरले साधक ही इसे प्राप्त कर पाते हैं।

संगति— पहले ३४ वें श्लोक में ज्ञान-प्राप्ति के बाह्य साधन बतला चुके हैं। परन्तु वे गौण हैं और वैसा आचरण दम्भ से भी किया जा सकता है। अतः अगले श्लोक में ज्ञान के अन्तरंग साधन बतलाये जाते हैं।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥३९॥

भावार्थ— श्रद्धावान्, तत्पर और संयमी पुरुष ज्ञान प्राप्त कर सकता है। तथा ज्ञान प्राप्त करके तत्काल ही शान्ति प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या— भगवान् श्रद्धा से मिलते हैं। किन्तु ऐसा नहीं है कि श्रद्धा की अपेक्षा केवल भक्ति में ही हो। ज्ञान-प्राप्ति के लिये भी गुरु एवं शास्त्रवाक्यों में श्रद्धा करनी ही पड़ेगी। अध्याय ९ श्लोक ३ में भी कहा है कि इस धर्म में श्रद्धा न करने वाले पुरुष मुझे प्राप्त न होकर संसार में लौट आते हैं।

प्रश्न— ज्ञान से शान्ति प्राप्त होती है, क्या यह ठीक है?

उत्तर— केवल ज्ञान से पूर्ण शान्ति प्राप्त नहीं होती। इससे जिज्ञासा के कारण जो अशान्ति थी वह तो निवृत्त हो जाती है, परन्तु जीवन में जो अन्य अनेक कारण अशान्ति के हैं उनकी निवृत्ति तो नहीं होती। जैसे किसी किसान का बैल खो जाय तो उसके कारण जो अशान्ति होती है वह तो बैल मिलने पर दूर हो जायगी, परन्तु पुत्र की बीमारी, घर में अन्न की कमी या मुकदमे आदि के कारण होने वाली अशान्तियाँ तो बनी ही रहेंगी। अतः पूर्ण शान्ति तो ज्ञान से नहीं, ज्ञाननिष्ठा से ही प्राप्त होगी। अतः ज्ञान प्राप्त होने पर भी अभ्यास करते रहना चाहिये, क्योंकि चिकित्सा चित्त की करनी है, आत्मा की नहीं। इसके सिवा जो जिज्ञासु रजोगुण-तमोगुण-प्रधान

होते हैं उन्हें शुद्ध विचार होता भी नहीं है। अतः ज्ञान होने पर भी सत्त्वगुण की वृद्धि के लिये अभ्यास करता रहे। इससे संशय-विपर्यय का भी नाश हो जाता है।

प्रश्न— यदि केवल ज्ञान से काम नहीं चलता तो यहाँ 'ज्ञान लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति' ऐसा क्यों कहा है?

उत्तर— मैंने जो कहा है वह अभ्यास की पुष्टि के लिये है। जिन्हें विचार द्वारा दृढ अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता उन्हें अभ्यास करने पर ही उसमें दृढता आती है। वास्तव में पूर्ण शान्ति पूर्ण ज्ञान होने पर ही होती है, वह चाहे श्रवणमात्र से हो चाहे अभ्यास के अनन्तर। यहाँ 'परां शान्तिम्' कहा है, अर्थात् पराकाष्ठा की शान्ति प्राप्त होती है। अर्थात् पूर्ण ज्ञान और पूर्ण शान्ति एक ही काल में होते हैं, जैसे जगना और निद्रा भंग होना एक ही काल में होते हैं।

संगति— अगले श्लोक में श्रद्धाहीन और संशयालु पुरुषों की दशा का वर्णन करते हैं—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥४०॥

भावार्थ— अज्ञानी, श्रद्धाहीन और संशयालु पुरुष नष्ट हो जाता है। संशययुक्त पुरुष को तो न यह लोक प्राप्त होता है, न परलोक। उसे सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

व्याख्या— यहाँ तीन प्रकार के साधक पुरुषों की चर्चा है—(१) अज्ञानी जिसकी अनात्मा में आत्मबुद्धि है तथा जो सम्पूर्ण कर्मों को त्यागकर मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त नहीं होता। (२) अश्रद्धालु—जिसे गुरु और वेदान्त वाक्यों में विश्वास नहीं है। और (३) संशयात्मा—कर्म और ज्ञान इन दोनों को ही मुक्ति का साधन बताया गया है, परन्तु जिसे यह निश्चय ही न हो कि इनमें से किस मार्ग के द्वारा मुक्ति होगी। अथवा जिसे किसी भी साधन में विश्वास ही न होता हो। ये तीन कोटि के पुरुष हैं। इनमें से अज्ञानी और अश्रद्धालु का तो कल्याण हो सकता

है। अज्ञानी को कभी ज्ञान भी हो जायगा और अश्रद्धालु को श्रद्धा भी हो जायगी। परन्तु संशयात्मा के लिये कोई उपाय नहीं है। संशय होना पाप का फल है। इसलिये उसे इस लोक में सुख नहीं मिलता। और कर्मों में विश्वास न होने के कारण यहाँ उससे सत्कर्म नहीं हो पाते, इसलिये परलोक में भी सुख नहीं मिलता। जिसका यह लोक बिगड़ गया उसका परलोक भी कैसे सुधरेगा। अत: गुरु और शास्त्र में श्रद्धा करनी चाहिये, क्योंकि उनकी कृपा से अज्ञानी को ज्ञान हो सकता है और अश्रद्धालु को श्रद्धा हो सकती है। संशयात्मा कभी नहीं होना चाहिये। उसकी सद्‌गति नहीं होती।

संगति— अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि सम्पूर्ण संशयों का नाश होने पर ही ब्रह्मज्ञानी को कर्म-बन्धन नहीं होता।

योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।।४१।।

भावार्थ—हे धनञ्जय! जिसने योग (ब्रह्माभ्यास या ब्रह्माकारवृत्ति) के द्वारा कर्मों का त्याग कर दिया है और ज्ञानद्वारा जिसके संशय निवृत्त हो गये हैं तथा जो आत्मनिष्ठ है उसे कर्म नहीं बाँधते।

व्याख्या— यहाँ 'आत्मवान्' सिद्ध पुरुष को कहा है। कर्म-सिद्ध को ही नहीं बाँधते। अर्थात् कर्मों की निवृत्ति केवल ज्ञान के द्वारा ही होती है, किसी और साधन से नहीं, क्योंकि और सब साधन कर्मरूप ही हैं। ज्ञान से संशय छिन्न-भिन्न होने पर भी अभ्यास द्वारा निर्विकल्प स्थिति प्राप्त किये बिना कर्मों की अप्रतीति नहीं होती, इसी से कहा है—'योगसंन्यस्तकर्माणम्।' 'योग' शब्द गीता में ६४ बार आया है। परन्तु प्रसंगानुसार इसका अर्थ कहीं ज्ञानपरक, कहीं भक्तिपरक और कहीं कर्मपरक होता है। यहाँ इसका अर्थ ब्रह्माकारवृत्ति ही है।

संगति— यह प्रसंग १८ वें श्लोक से आरम्भ होकर यहाँ समाप्त होता है। अगले श्लोक में भगवान् अर्जुन को कर्मयोग करने का आदेश देते हैं—

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।।४२।।

भावार्थ— इसलिये अर्जुन! अज्ञान से उत्पन्न हुए अपने हृदय में स्थित इस संशय को ज्ञानरूप खड्ग से काटकर कर्मयोग का आचरण करो। अर्थात् युद्ध के लिये खड़े हो जाओ।

व्याख्या— यहाँ 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अखण्डाकार वृत्ति ही ज्ञानखड्ग है। ज्ञान से पहले जो निष्काम कर्म किया जाता है उसमें वास्तविक निष्कामता नहीं होती। उसमें केवल निष्कामता की भावना होती है। वास्तविक निष्काम-कर्म तो वही होता है जो ज्ञान होने के पश्चात् किया जाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
ज्ञान-कर्म-संन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः।।४।।



ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

अथ पंचमोऽध्यायः

संगति— यहाँ तक प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों का प्रतिपादन करते आये हैं। कहीं कर्म की प्रशंसा की है, कहीं ज्ञान की और कहीं संन्यास की। चतुर्थ अध्याय में ज्ञान-कर्म-संन्यास योग कहकर ज्ञान की प्रधानता बतलायी। उसे सुनकर अर्जुन को वही शंका हुई जो तृतीय अध्याय के आरम्भ में हुई थी। अतः भगवान् के द्वारा निष्काम-कर्मयोग और कर्म-संन्यास दोनों की प्रशंसा सुनकर कोई एक निश्चित कल्याणमार्ग का निर्णय न होने के कारण अर्जुन किंकर्त्तव्यविमूढ-सा होकर भगवान् से प्रश्न करता है।

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥१॥

भावार्थ— श्रीकृष्ण! कभी तो आप कर्मों के त्याग की प्रशंसा करते हैं और कभी कर्मयोग की। इन दोनों में से जो श्रेयस्कर हो वही निश्चित सिद्धान्त मुझसे कहिये।

व्याख्या— जैसे चलना और बैठना दोनों एक नहीं हो सकते और न दोनों का अनुष्ठान एक साथ हो सकता है, वैसे ही कर्म-संन्यास और कर्मयोग दोनों एक साथ तो हो नहीं सकते। यहाँ कर्म-संन्यास का अर्थ कर्मों का स्वरूप से त्याग समझना चाहिए। अथवा सब कुछ त्यागकर चित्त का अपने इष्ट में लग जाना ही संन्यास समझें।

संगति— अगले श्लोक में भगवान् कर्म की प्रशंसा करते हैं—

श्री भगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥२॥

भावार्थ— कर्मसंन्यास और कर्मयोग—ये दोनों ही कल्याणकारी हैं, तथापि इन दोनों में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है।

व्याख्या— जो वैराग्य या जिज्ञासा न होने पर भी गृह-कलह आदि किसी कारण से घबराकर संन्यासाश्रम ग्रहण कर लेते हैं उन मलिन अन्तःकरण वालों के लिये कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है, क्योंकि निष्काम कर्म या निष्काम उपासना से अन्तःकरण शुद्ध होकर जिज्ञासा होगी और फिर ज्ञान हो जायगा। इस प्रकार कर्मयोग से उनकी क्रम-मुक्ति हो जायगी।

Types of rennunciation

संन्यास दो प्रकार का होता है—देह से और गेह से। इनमें प्रथम संन्यास के भी दो भेद हैं—(१) सविकल्प समाधि, जिसमें अनात्म-प्रत्यय का त्याग हो जाता है और (२) निर्विकल्प समाधि, जिसमें वृत्ति ब्रह्म में लीन हो जाती है तथा दृश्य की प्रतीति नहीं होती। द्वितीय गेह से त्याग यह है कि घर, स्त्री, पुत्र एवं धन आदि छोड़कर गुरु के शरणापन्न हो जाय और संन्यास आश्रम ग्रहण कर ले। ऐसे विरक्तों के लिये तो कर्मों का संन्यास ही श्रेष्ठ है। किन्तु जो साधारण अविवेकी पुरुष हैं उनके लिये कर्मयोग अच्छा है।

भगवान् यहाँ संन्यास की निन्दा नहीं करते, केवल अधिकारी की दृष्टि से कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं। वास्तव में तो दोनों ही साधन कल्याणकारी हैं। यहाँ कर्मयोग को श्रेष्ठ इसलिए कहा है कि निष्काम कर्म करते हुए मुक्त होना या भगवत्प्राप्ति करना सुगम है क्योंकि अधिक लोग तो सान के संस्कारों से शून्य ही होते हैं।

संगति— अब अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि कर्मयोगी किस प्रकार कर्म करता है—

ज्ञेयः स नित्संन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥३॥

भावार्थ— महाबाहो! जो न द्वेष करता है और न कुछ चाहता है तथा राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित है उसे [गृहस्थ होने पर भी]

सर्वदा संन्यासी ही समझना चाहिए। वह अनायास ही संसार के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

व्याख्या— राग-द्वेष ही द्वन्द्व है। अतः जो कर्म करते हुए भी राग-द्वेष से रहित है वह नित्य-संन्यासी है। अर्थात् जिसमें राग-द्वेष न हों वही संन्यासी है।

प्रश्न— क्या जो उदासीन वृत्ति से रहता है वह निर्द्वन्द्व है?

उत्तर— वह निर्द्वन्द्व नहीं है, क्योंकि उसका उदासीनता में राग है। जब उसकी वृत्ति उदासीनता से भिन्न होगी तो उसे दुःख होगा। निर्द्वन्द्व तो वह है जो द्रष्टा-रूप से स्थित है। वास्तव में द्रष्टा ही निर्द्वन्द्व है। अतः जब तक राग-द्वेष है तब तक बोध नहीं होता।

संगति— अगले श्लोक में यह बतलाते है कि सांख्य और योग इनमें से किसी भी मार्ग का अनुसरण करने से एक ही फल प्राप्त होता है।

5.5,5 - Samkhya and Yoga attains same result

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।४।।

भावार्थ— सांख्य और योग को अज्ञानी लोग ही अलग-अलग बताते हैं, पण्डितजन नहीं। इनमें से किसी एक में स्थित होने से अर्थात् एक का अनुष्ठान करने से भी दोनों के फल की प्राप्ति हो जाती है। [अर्थात् सांख्य का फल तो मोक्ष है ही कर्मयोग का फल भी क्रम-मुक्ति ही है।]

संगति— इसी की पुष्टि अगले श्लोक से करते हैं—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।५।।

भावार्थ— [संन्यासियों को] सांख्ययोग के द्वारा जो स्थान प्राप्त होता है। निष्काम कर्मयोगी को भी वही पद प्राप्त होता है। जो सांख्य और योग को [फल की दृष्टि से] एक देखता है वही यथार्थ देखता है।

व्याख्या— यहाँ शंका होती है यदि कर्मानुष्ठान और संन्यास इन दोनों का फल एक ही है तो कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को श्रेष्ठ क्यों बतलाया है? इसको संगति यों लगानी चाहिए कि अविवेकी के लिये कर्म सुगम है और संन्यास कठिन। इसलिए उसी के लिए कर्मयोग को श्रेष्ठ कहा है। बोधवान् के लिये तो दोनों एक ही हैं।

प्रश्न— आपने अज्ञानी के लिए कर्मयोग श्रेष्ठ बताया तो ज्ञानी के लिये संन्यास श्रेष्ठ होना चाहिए।

उत्तर— उपदेश अज्ञानी के लिए होता है, ज्ञानी के लिये नहीं। उसके लिये तो दोनों एक ही हैं।

प्रश्न— यदि कर्मयोग श्रेष्ठ है तो क्या संन्यास का कोई महत्व नहीं है?

उत्तर— यह बात नहीं है कि संन्यास का कोई महत्त्व न हो। परन्तु संन्यास कठिन अवश्य है, इसी से कहा है कि कर्म या उपासना किये बिना संन्यास निभाना कठिन है। यह कठिन है, इसलिये इसमें अज्ञानियों का अधिकार नहीं है। इसी से यहाँ कर्मयोग को श्रेष्ठ बतलाया है। जिस प्रकार वर्णमाला का ज्ञान हुए बिना कोई पढ़ नहीं सकता उसी प्रकार कर्मऔर उपासना किये बिना ज्ञानयोग का आचरण कठिन है। इसी की पुष्टि अगले श्लोक में करते हैं—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।।६।।

भावार्थ— हे महाबाहो! जो योगयुक्त (कृतोपास्ति) नहीं है उसके लिये संन्यासनिष्ठा होनी कठिन है। और जो मननशील योगयुक्त है वह अविलम्ब ही ब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है।

व्याख्या— यहाँ श्रीशंकराचार्यजी ने 'ब्रह्मप्राप्ति' के दो अर्थ किये हैं—संन्यास ग्रहण करना अथवा स्वरूप की प्राप्ति। इनमें वास्तविक अर्थ तो स्वरूप-प्राप्ति ही है। परन्तु वास्तव में इन दोनों में कोई विरोध भी नहीं है। उपासना से वैराग्य होता है, वैराग्य से

जिज्ञासा जाग्रत् होती है, तब गुरुदेव की शरण ग्रहण कर संन्यास लेता है और तब गुरुदेव के उपदेश से ही स्वरूप की प्राप्ति होती है।

संगति— अब अगले श्लोक में यह बतलाया जाता है कि तत्त्वज्ञ का व्यवहार कैसा होता है—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।७।।

भावार्थ— जो योगयुक्त, विशुद्धचित्त, संयत शरीर और जितेन्द्रिय है तथा सम्पूर्ण जीवों का आत्मा ही जिसका आत्मा है वह कर्म करते हुए भी लिप्त नहीं होता।

व्याख्या— 'योगयुक्तः'—जिसे अभ्यास करते-करते विषयों का विस्मरण हो गया है, अथवा ज्ञानयोगयुक्त अर्थात् श्रवणादि में लगा हुआ जिज्ञासु, अथवा श्रौत-स्मार्त्त कर्मों का अनुष्ठान करने वाला गृहस्थ, अथवा निरन्तर ब्रह्माकारवृत्ति रखने वाला कौपीन-कन्याधारी विरक्त—ये सभी योगयुक्त कहे जा सकते हैं। 'विशुद्धात्मा'—जिसकी बुद्धि राग-द्वेष से शून्य है, जिसका अन्तःकरण निष्काम कर्म या उपासना करने से शुद्ध हो गया है, ऐसा पूर्ण वैराग्यवान् ही विशुद्धात्मा कहा गया है। 'विजितात्मा'—जिसने अभ्यास द्वारा शरीर को जीत लिया अर्थात् स्थिर कर लिया है। 'जितेन्द्रियः—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों को जीतने वाला। 'सर्वभूतात्मभूतात्मा'— जो अपने और सम्पूर्ण भूतों के आत्मा को एक ही देखता है। अथवा जिसका सम्पूर्ण प्राणियों में आत्मभाव है तथा जो सम्पूर्ण प्राणियों को अपने में और अपने को सम्पूर्ण प्राणियों में देखता है। इन सम्पूर्ण गुणों से सम्पन्न पुरुष कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता।

साधक योगयुक्त होने से विशुद्धात्मा होता है, विशुद्धात्मा होने से विजितात्मा होता है, विजितात्मा होने से जितेन्द्रिय होता है तथा जितेंद्रिय होने से अपने को सम्पूर्ण भूतों में और सम्पूर्ण भूतों को अपने में देखता है।

इस श्लोक से यह सिद्ध होता है कि ज्ञानी के लिए कर्म करने का निषेध नहीं है। इसमें से पहले चार लक्षण तो योगी में भी हो सकते हैं, परन्तु सर्वभूतात्मभूतात्मा तो तत्त्वज्ञ ही होता है। बोध भी उसी को होता है जिसमें ये चारों लक्षण हों। ऐसा महापुरुष सब कुछ करता हुआ भी पुण्य-पाप से लिप्त नीं होता।

संगति— वह किस प्रकार का आचरण करने वाले लिप्त नहीं होता यह बात आगे के दो श्लोकों में दिखलाते हैं—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥९॥

भावार्थ— योगयुक्त तत्त्ववेत्ता इन्द्रियाँ ही इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्त होती हैं—ऐसी धारणा रखकर देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, जाता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, प्रलाप करता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ और निमेषीन्मेष करता हुआ भी ऐसा जाने कि मैं कुछ भी नहीं करता।

व्याख्या— यह ज्ञानवान् की निष्ठा है। जो यह जानता है कि यह सब प्रश्च मृगतृष्णा के जल के समान है। वह प्रथम तो जल लेने जाता ही नहीं, यदि अज्ञानियों के साथ या उनके आग्रह से जाता है तो भी जानता है कि यह मैं खेल ही कर रहा हूँ वहाँ मिलने वाला कुछ नहीं है। अज्ञानियों को उसकी कोई क्रिया शास्त्रविरुद्ध भी जान पड़े तथापि अपनी दृष्टि में तो वह ठीक ही करता है। उसकी वृत्ति निरन्तर आत्माकार रहती है, अतः सब कुछ करते हुए भी अपनी दृष्टि में वह कुछ नहीं करता।

प्रश्न—उपर्युक्त नवम श्लोक में कहा है कि मैं कुछ नहीं करता, इन्द्रियाँ ही इन्द्रियों के विषयों में वर्तती हैं—ऐसा किस प्रकार होता है?

उत्तर— जितने भी विषय हैं उन्हें इन्द्रियाँ ही भोगती हैं। इसी से रसना में कोई दोष रहने से रसका स्वाद प्रतीत नहीं होता। यदि आत्मा भोक्ता होता तो रसनेन्द्रिय के बिना भी स्वाद को ग्रहण कर सकता था। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों और उनके विषयों के विषय में समझना चाहिये। अथवा यों समझो जब तत्त्वज्ञ की दृष्टि में क्रिया और कर्त्ता की ही सत्ता नहीं है तो वह अपने को कर्त्ता कैसे मानेगा।

संगति— पिछले तीन श्लोकों में तत्त्ववेत्ता का व्यवहार बतलाया गया हैं अब अगले श्लोक में जिज्ञासु के कर्म तथा उसका व्यवहार बतलायेंगे—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥१०॥

भावार्थ— जो मुमुक्षु संग (आसक्ति) को त्यागकर सब कर्मों को परमात्मा में समर्पित करके करता है वह पाप-पुण्य से इसी प्रकार लिप्त नहीं होता जैसे जल से कमल का पत्ता।

व्याख्या— 'ब्रह्म' शब्द से यहाँ सगुण या निर्गुण ब्रह्म समझना चाहिये आत्मा का तो यहाँ प्रसंग नहीं है। ऐसे तत्त्ववेत्ता से पाप तो कोई होता नहीं और वह भगवान् का भक्त है इसलिये उसे पुण्यकर्म के फलस्वरूप ब्रह्मलोकादि की प्राप्ति भी नहीं होती। इस प्रकार वह पाप-पुण्य दोनों ही से मुक्त रहता है।

संगति— उपर्युक्त श्लोक में यह दिखलाया गया है कि निष्काम उपासक कर्मफल से लिप्त नहीं होता। अब यह बतलाते हैं कि वह चित्तशुद्ध के लिये केवल शरीर और इन्द्रियों से कर्म करता रहता है—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥११॥

भावार्थ— निष्काम कर्मयोगी केवल शरीर से, केवल मन से, केवल बुद्धि से और केवल इन्द्रियों से भी अन्तःकरण की शुद्धि के लिये आसक्ति त्यागकर कर्म करते हैं।

व्याख्या— केवलैः—ममत्ववर्जितैः अर्थात् ममता न रखकर तथा सिद्धि-असिद्धि में समान रहकर, क्योंकि निष्काम होने के कारण सिद्धि न होने पर उन्हें कोई प्रत्यवाय (दोष) नहीं लगता। वे शरीर से तीर्थाटनादि, मन से भगवद्ध्यानादि बुद्धि से ईश्वर विश्वासादि करते हैं। अर्थात् अपने मन बुद्धि और शरीर से वे अन्तःकरण की शुद्धि और भगवान् की प्रसन्नता के लिये सब प्रकार के कर्म करते रहते हैं। पहले बुद्धि से निश्चय करके ही कर्म किया जाता है, इसलिए बुद्धि से कर्म करना कहा। उपासना मन से होती है, इसलिए मन से कर्म करना कहा। इत्यादि।

संगति— अब अगले श्लोक में निष्काम और सकाम कर्म करने वालों की परिणाम में जैसी स्थिति होती है वह बतलाते हैं—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।।१२।।

भावार्थ— युक्त अर्थात् निष्काम कर्मयोगी कर्मों के फल का त्याग करके नैष्ठिकी शान्ति अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त कर लेता है। किन्तु जो अयुक्त (सकामी) है वह फल में आसक्त होने के कारण कामनायुक्त प्रवृत्ति से बँध जाता है।

व्याख्या—जो मुमुक्षु या निष्काम कर्मयोगी होता है वही शान्ति प्राप्त करता है, क्योंकि निष्काम कर्म ही ज्ञाननिष्ठा का साधन है। यह भगवान् ने स्पष्ट कह दिया है सकाम पुरुष नैष्ठिकी (स्थायी) शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। वह तो केवल निष्काम कर्मयोगी को ही मिलती है। अध्याय २ श्लोक ७० में भी कहा है—'स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।' इसलिये अर्जुन! तुम योगयुक्त हो जाओ।

संगति—अगले श्लोक में आत्मा को अकर्ता अभोक्ता कहा है—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।।१३।।

भावार्थ— जितेन्द्रिय पुरुष मन से सम्पूर्ण कर्मों को त्याग कर इस शरीररूप नौ द्वारवाले नगर में कुछ भी न करता ओर न कराता हुआ सुखपूर्वक रहता है।

व्याख्या— कर्म चार प्रकार के होते हैं— नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषद्ध। यहाँ मन से सब प्रकार के कर्म त्यागने की बात कही है। परन्तु कर्मों का त्याग तो वही कर सकता है जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है। अर्थात् जिसे अधिष्ठान का ज्ञान है।

प्रश्न— यदि देही शरीर में रहते हुए कुछ भी नहीं करता-करवाता और सम्पूर्ण शरीरों में वह है भी एक ही तो फिर एक शरीर में क्या विशेषता है?

उत्तर— सब तो स्वयं को देह ही मानते हैं और अपने को कर्ता-भोक्ता भी समझते हैं, इसलिए वे वशी नहीं हो सकते। वशी तो केवल बोधवान् ही है, क्योंकि वह संसार का अत्यन्ताभाव अनुभव करता है। इसलिए वह राग-द्वेष से रहित होकर सुखपूर्वक विचरता है। वास्तव में तो आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि धर्म हैं नहीं, केवल अज्ञान के कारण ही इनकी प्रतीति होती है।

प्रश्न— यदि आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व है ही नहीं तो संन्यास ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर— जिस प्रकार सूर्य कमल को खिलाता नहीं है, वह तो सूर्योदय होने पर स्वयं खिल जाता है, उसी प्रकार साक्षी में क्रिया नहीं है, क्रिया तो मायाशक्ति में है औ वह स्वयं ही होती रहती है। अतः विद्वान् कर्त्तव्य-बुद्धि से संन्यास ग्रहण नहीं करता, जिनका निवृत्ति का प्रारब्ध होता है उनमें स्वयं ऐसी रुचि हो जाती है।

इस श्लोक का अर्थ टीकाकार ने विभिन्न प्रकार से किया है। 'वशी' शब्द से सिद्ध भी अभिप्रेत है और साधक भी। अतः इसका अर्थ कोई जीव, कोई ईश्वर, कोई आत्मा, कोई साधक और कोई सिद्ध करते हैं। वास्तव में वशी वही है जिसकी दृश्य में मिथ्यात्व-बुद्धि होने के कारण इन्द्रियाँ वश हो गयी हैं। अथवा बुद्धि का साक्षी प्रत्यक्-चैतन्य

ही वशी है। भगवान् ने स्वयं कहा है कि शरीर में रहकर मैं न करता हूँ न करवाता हूँ अतः 'वशी' शब्द का अर्थ जीवात्मा नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो कर्ता कारयिता और भोक्ता भी है।

प्रश्न— यदि जीव-साक्षी को 'वशी' कहें तो उसमें 'सुख' शब्द की संगति कैसे लगेगी?

उत्तर— यदि यहाँ 'सुख' शब्द का प्रयोग न करते तो शून्यवाद या नास्तिकवाद हो जाता, क्योंकि फिर तो जड़ता या अकर्मण्यता ही सिद्ध होती। अतः 'सुख' शब्द सार्थक है।

ईश्वर कर्म कराता है और जीव करता है, इसलिये देही जीव या ईश्वर दोनों से विलक्षण होना चाहिए। वह तीनों शरीरों का स्वामी होने से देही कहा गया है, अतः वास्तव में बोधवान् ही वशी है वही सब कर्मों का त्याग करता है। वह भी केवल बोधवान् नहीं, अभ्यासी बोधवान् ही वशी है, जिसकी आन्तर और बाह्य इन्द्रियाँ निरन्तर अभ्यास करने से शान्त हो गयी हैं तथा जिसने सम्पूर्ण कामनाओं को मायामात्र समझकर त्याग दिया है। ऐसा ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् ही कर्ता या कारयिता नहीं होता और वही वशी है।

संगति— अगले श्लोक में इसी की पुष्टि करते हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥१४॥

भावार्थ— प्रभु (आत्मा) लोक के कर्तापन या कर्म को उत्पन्न नहीं करता और न वह कर्मफल का संयोग ही करता है। सब कुछ स्वभाव या वासना से ही हो रहा है।

व्याख्या— इस लोक में 'प्रभु' शब्द जीव या ईश्वर का वाचक नहीं है। इससे निर्विशेष शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करना चाहिये।

प्रश्न— यदि आत्मा में कर्तापन और कर्म नहीं हैं तो ये उसमें प्रतीत क्यों होते हैं?

उत्तर— अज्ञानी को ही प्रतीत होते हैं, ज्ञानी को नहीं। वह तो अपने को अकर्ता-अभोक्ता ही अनुभव करता है। अगले श्लोक में इसी को पुष्टि करते हैं।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।१५।।

भावार्थ— विभु आत्मा किसी के पाप या पुण्य को ग्रहण नहीं करता। ज्ञान अज्ञान से ढका हुआ है, इसी से जीव मोह को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—प्रश्न— यदि ज्ञान अज्ञान से ढका हुआ है तो मुमुक्षुओं को ज्ञान कैसे प्राप्त होगा?

उत्तर—ईश्वर की प्रसन्नता के लिए निष्कामभावपूर्वक नित्य-नैमित्तिक कर्म करने से चित्त शुद्ध हो जायगा। तब अज्ञान का नाश होकर भगवान् की कृपा से संसार-बन्धन से निवृत्त हो जायगा।

प्रश्न— निर्विकार ब्रह्म में यह विकार कैसे हुआ?

उत्तर— ब्रह्म में कभी कोई विकार नहीं होता, किन्तु बुद्धि के साथ तादात्म्य होने से ऐसा मालूम होता है।

संगति— अगले श्लोक में इस मोह-निद्रा की निवृत्ति का उपाय बताते हैं—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।१६।।

भावार्थ— जिन पुरुषों का अज्ञान ज्ञान से निवृत्त हो गया है उनका वह ज्ञान सूर्य के समान उस परमात्मा को प्रकाशित कर देता है।

व्याख्या— यहाँ 'प्रकाशयति' का अर्थ विषय रूप से प्रकाशित करना नहीं है। आत्मा तो स्वयं प्रकाशमान है। वह प्रकाशन क्रिया का कर्ता नहीं है। जैसे जल के ऊपर से काई हटाने पर पहले से ही विद्यमान जल स्पष्ट दीखने लगता है, कहीं से लाया नहीं जाता। 'आदित्यवत्' इसलिए कहा है कि जिस प्रकार सूर्य का उदय होने पर अन्धकार अकस्मात् निवृत्त हो जाता है वैसे ही ज्ञान होने पर अज्ञान सर्वथा नहीं रहता। 'तत्पर' का अर्थ यहाँ तत्पर (तैयार) नहीं अपितु परमात्मा है।

अर्थात् जो परमात्म-तत्व सम्पूर्ण वेदान्तों का सिद्धान्त है वह सूर्य की तरह स्पष्ट भासने लगता है। जैसे ठूँठ का ज्ञान होने पर उसमें भासने वाला पुरुष-भ्रम तत्काल निवृत्त हो जाता है। परन्तु ज्ञान होने पर भी शुकदेव-वामदेवादि की तरह ज्ञानरक्षा के लिये अभ्यास की आवश्यकता है। इसके मुख्य प्रयोजन ज्ञानरक्षा और तप हैं। स्वस्वरूपानुसन्धान ही ज्ञानरक्षा है तथा एकाग्रता का अभ्यास, नियमपूर्वक आश्रम-धर्म का पालन करना, जिसे भोगने की रुचि हो उसे न भोगना, सम्यक् प्रकार से ब्रह्मचर्य का पालन तथा मन और इन्द्रियों का निग्रह—यही तप है। यह अपमान और निन्दा सहने से ही बढ़ता है।

संगति— इसी की पुष्टि अगले श्लोक में करते हैं—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृतिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥१७॥

भावार्थ— जो तद्बुद्धि, तदात्मा, तन्निष्ठ और तत्परायण हैं तथा ज्ञानद्वारा जिनके पाप नष्ट हो चुके हैं वे अपुनर्जन्म (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या— तद्बुद्धि-जिनकी बुद्धि स्वरूप में स्थित हो अर्थात् जिनकी निरन्तर आत्माकार-वृत्ति रहती हो। तदात्मा-जैसा प्रेम और अहंबुद्धि देह में है वैसा ही प्रेम जिसका आत्मा में हो अर्थात् जो विवेक द्वारा निरन्तर अपनी असंगता को जागृत रखे। इस प्रकार आत्मा में ही आत्मबुद्धि रखने वाला तदात्मा कहा गया है। तनिष्ठ— जो आत्मा में ही घनीभूत आत्मबुद्धि रखता है अर्थात् निरन्तर निषेधाकारवृत्ति रखने से अथवा अपने को निरन्तर ब्रह्मस्वरूप अनुभव करने से जिसका चित्त स्थिर हो गया है वही तनिष्ठ है। तत्परायण— 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इस श्रुति के अनुसार जिसकी ब्रह्म में गाढ़ वृत्तिवाली स्थिति है, जो अपने लक्ष्य से कभी नहीं हटता, जिसका आत्मा में ही राग है, समुद्र में जहाज के पक्षी के समान आत्मा ही जिसका एकमात्र आश्रय है। अथवा जिसे अनात्म धर्म और अनात्म वस्तुओं की अप्रतीत (विस्मृति) हो गयी है वही तत्परायण कहा गया

है। परन्तु आत्मा में राग तभी होता है जब और सबसे राग छूट जाय। इसलिये संन्यास केवल ज्ञान प्राप्ति के लिये नहीं है, वह तो आत्मा में राग और अनात्मा में वैराग्य होने के लिये है, क्योंकि ज्ञान तो घर में रहकर भी हो जाता है।

'निर्धूतकल्मष'—'कल्मष' शब्द से पाप-पुण्य दोनों ही ग्रहण करने चाहिये। यही नहीं, बाह्य सुख-दुःख भी कल्मष ही हैं, उनसे भी जो तपायमान नहीं होता वही 'निर्धूतकल्मष' है।

जिसमें उपर्युक्त चारों गुण होंगे वही जन्म-मरण से छूट सकता है, केवल ज्ञान से नहीं। अर्थात् जो इन चारों गुणों से सम्पन्न होगा उसी की अपुनरावृत्ति (विदेह कैवल्य) होगी। योगियों, भक्तों और अन्य मतवालों की भी आत्माकार-वृत्ति तो हो जाती है, परन्तु ब्रह्माकार-वृत्ति नहीं होती। द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति आत्माकार-वृत्ति है और 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ब्रह्माकार-वृत्ति है, जो महावाक्य द्वारा ही होती है। इसीलिये 'तद्बुद्धि' के पश्चात् 'तदात्मा' कहा है।

प्रश्न—क्या बोध में वृत्ति रहती है?

उत्तर—बोध में वृत्ति नहीं है, परन्तु जीवन्मुक्ति में तो है ही, क्योंकि बिना वृत्ति के अभ्यास सिद्ध नहीं होता। परन्तु यह होती है शुद्ध वृत्ति ही। जिज्ञासु पहले तत्परायण होता है, अर्थात् आत्मतत्त्व का अन्वेषण करता है, फिर तद्बुद्धि होता है अर्थात् आत्मा का निश्चय करता है। फिर तदात्मा होता है और उसके बाद तन्निष्ठ होता है। ऐसा क्रम है।

प्रश्न— कल्मष किसे कहते हैं?

उत्तर— अपने को ब्रह्म से भिन्न जानना ही कल्मष है। अथवा भेदज्ञान या अज्ञान ही कल्मष है। इसलिये अज्ञान के कार्य प्रपञ्च की अप्रतीति हो जाना ही कल्मष का नाश या घुलना है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो इस श्लोक की सङ्गति नहीं लगेगी। पूर्व श्लोक में कह चुके हैं कि ज्ञान से जिसका अज्ञान नष्ट हो गया है। उसे यदि ज्ञान मानें तो इस श्लोक में जीवन्मुक्ति का अभ्यास ही सिद्ध होगा। इसलिये

'निर्धूतकल्मष' का अर्थ यहाँ प्रपञ्च की अप्रतीति ही है। यह श्लोक ज्ञाननिष्ठा का है।

प्रश्न— आप ज्ञान होने के पश्चात् विदेहकैवल्य के लिये अभ्यास का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु जब विचारद्वारा ज्ञान हो गया तो मोक्ष तो हो ही जायगा, फिर अभ्यास करने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर— शरीर की शान्ति चेष्टाहीनता और आसन से होती है। इच्छा, क्रिया और ज्ञान इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध है। क्रिया रोक देने से आसन और प्राणायाम हो जाते हैं। प्राण की समानता का नाम प्राणायाम है और चित्त की समानता का नाम समाधि है। प्राण की शान्ति प्राणायाम अथवा शाम्भवी मुद्रा से होती है और प्राण शान्त होने से मन भी शान्त हो जाता हैं ज्ञान से केवल बुद्धि की शान्ति होती है, क्योंकि फिर कुछ जानना शेष नहीं रहता। परन्तु इससे शरीर, मन, वाणी या प्राण की शान्ति नहीं होती। इसलिये बोध हो जाने के पश्चात् भी अभ्यास की आवश्यकता है। केवल ज्ञान से काम नहीं चलेगा। यह देखा जाता है कि कार्य—कारण का सम्यक् विवेक हो जाने पर भी चित्त विषय की ओर आकर्षित हो जाता है। सब जानते हैं कि स्त्री मल-मूत्र का थैला है, हड्डी मांस का ढांचा मात्र है। यह कार्य का ज्ञान है तथा बोध होने पर यह भी जानते हैं कि स्त्री का अत्यन्ताभाव है, वह सत्ताशून्य है। यह कारण-ज्ञान है। तो भी बिना अभ्यास के इतना ज्ञान होने से ही कोई काम-वासना पर पूर्ण विजय प्राप्त नहीं कर सकता। राग, राग से ही कटता है, अतः विषय का राग दूर होने के लिए आत्मा में राग होना परम आवश्यक है इसलिये अभ्यास की आवश्यकता है। आत्मा द्रष्टा है—यह ज्ञान तो बहुतों को हो जाता है, परन्तु 'सब मैं ही हूँ'— ऐसा अनुभव नहीं होता। यह तो गुरुकृपा से किसी-किसी को ही होता है। यह अन्वय-बोध न होने के कारण ही उनकी विषयों में आसक्ति हो जाती है और इससे राग-द्वेष भी बने रहते हैं। ये आत्मप्रेम से ही निर्मूल होते हैं, अतः जब तक प्रतीति निःशेष न हो निरन्तर अभ्यास करता रहे।

संगति— अगले श्लोक में यह बताते हैं कि ऐसे आत्मनिष्ठ पुरुष की व्यवहार में प्रवृत्ति कैसी होती है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।१८।।

भावार्थ— विद्या तथा विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में तत्वेत्ताओं की समान दृष्टि होती है।

व्याख्या—विद्या—सम्पूर्ण वेद-शास्त्रों का अध्ययन तथा उनके अर्थ का ज्ञान विद्या है। ऐसा विद्वान् भी हो और विनय (शान्ति तथा नम्रता आदि) से भी सम्पन्न हो ऐसे ब्राह्मण से सभी प्रेम करते हैं। इसी प्रकार गौ और हाथी में भी लोगों का प्रेम होता है। किन्तु कुत्ते और चाण्डाल में अधिकतर लोगों की घृणा होती है। परन्तु जिसकी इन सबमें राग-द्वेषशून्य समान दृष्टि ही तथा 'च' शब्द हीरा और पत्थर में भी समदृष्टि हो वही वास्तविक तत्त्वदर्शी और ब्रह्मज्ञानी है।

प्रश्न— यदि समदर्शी का यही लक्षण है तो क्या वह कुत्ते और चाण्डाल आदि का भी पूजन करता है?

उत्तर— नहीं, वह शास्त्रानुसार बर्ताव करता है। शास्त्र का नियम है कि पूज्य की पूजा न करने से और अपूज्य का पूजन करते पाप होता है। अतः उसका व्यवहार शास्त्रानुकूल ही होता है। यद्यपि तत्त्वदृष्टि से वह सबको ब्रह्मरूप ही देखता है, तथापि सबके साथ व्यवहार तो यथायोग्य ही होता है। उसका किसी में भी राग या द्वेष नहीं होता। सम्पूर्ण प्रपञ्च का बाध करके जो स्वरूपस्थिति है वही समदृष्टि है। अतः उसकी दृष्टि सर्वदा नाम-रूपातीत निष्प्रपञ्च तत्त्व पर ही रहती है। ऐसा पण्डित ही मोक्ष पद प्राप्त करता है। कारण दृष्टि से सबको सम देखता है परन्तु कार्य सर्वदा विषम रहता है। ब्रह्म सम और निर्दोष है तथा संसार विषम है और उसमें आसक्ति होना दोष है। अतः वह समदर्शी तो होता है, किन्तु समवर्ती नहीं होता और न समवर्ती होना सम्भव ही है।

संगति— इसी की पुष्टि अगले श्लोक में करते हैं और बताते हैं कि उसमें राग द्वेष क्यों नहीं होते—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।।१९।।

भावार्थ— जिनका मन साम्य में स्थित है उन्होंने इस शरीर में ही संसार को जीत लिया है, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है इसलिए वे ब्रह्म में स्थित हैं।

व्याख्या—प्रश्न— इस शरीर में ही संसार को जीत लेने का क्या अर्थ है?

उत्तर— इस शरीर में ही उनको यह अनुभव हो जाता है कि अब हमारा जन्म नहीं होगा। यह अनुभव उसी को होता है जिसका मन ब्रह्म में स्थित होता है। उसकी दृष्टि में ब्रह्म के सिवा और किसी की सत्ता ही नहीं है। उसे यह निश्चय होता है कि मैं ब्रह्म को प्राप्त ही हूँ। ब्रह्मराग-द्वेषादि से शून्य है। सम है, एक रस है और निर्दोष है तथा उसमें दुःख का अत्यन्ताभाव है। सबमें स्थित होने के कारण उसके जन्म-मरण नहीं होते तथा अनात्म वस्तु में अनात्म वस्तु में अभिमान न होने के कारण वह निर्दोष होता है।

वह साम्य में अर्थात् ब्रह्म में स्थित है। उसमें समदृष्टि और समवृत्ति दोनों होती है। अभ्यास वृत्ति को लेकर होता है और बोध में केवल दृष्टि होती है, वृत्ति नहीं। यहाँ अभ्यास का प्रसङ्ग है नाना द्रष्टा एक सत्ता में तथा नाना दृश्य भी उस एक ही सत्ता में अनुभव करना और फिर सम्पूर्ण दृश्य को एक रूप में अनुभव करते हुए अपने से भिन्न अनुभव करना ऐसी वृत्ति को ही समवृत्ति या स्वरूपस्थित कहते हैं। परन्तु यह वृत्ति है निर्गुण ही। संसार की प्रतीति होना ही जीवन्मुक्ति है और प्रतीति न होना ही विदेहमुक्ति है। इसी की पुष्टि अगले श्लोक में करते हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।।२०।।

भावार्थ— जो प्रिय की प्राप्ति में प्रसन्न और अप्रिय की प्राप्ति में अप्रसन्न नहीं होता, क्योंकि वह स्थिरबुद्धि और मोह रहित है, ऐसा ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में स्थित है।

व्याख्या— 'स्थिरबुद्धि'—जिसकी बुद्धि संशयरहित है अथवा जिसे ऐसा दृढ़ निश्चय है कि मुझे बोध हो गया है, इसलिये विक्षेप मेरा कुछ नहीं कर सकता। 'असम्मूढ़'—संसार सत्ताशून्य है—ऐसा अनुभव होने के कारण जिसे मोह नहीं होता, 'ब्रह्मवित्'—निःसन्देह बोधवान्, जिसे ऐसा अनुभव है कि स्वरूप सत्ता से भिन्न कुछ भी नहीं है। 'ब्रह्मणि स्थितः'—ज्ञाननिष्ठ है, जिसकी बोधवृत्ति कभी नष्ट नहीं होती। यहाँ 'स्थिरबुद्धिः और असम्मूढः' ये ब्रह्मवित् के ही विशेषण हैं। परन्तु 'ब्रह्मणि स्थितः' केवल ब्रह्मवित् नहीं हो सकता, ऐसा तो ब्रह्मनिष्ठा होने पर ही होता है। बुद्धि उसकी स्थिर हो सकती है, जिसे ठीक-ठीक विवेक हुआ हो। 'ब्रह्मवित्' के लिये 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' कहा जाता है तो 'ब्रह्मणि स्थितः' 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' है।

जिसमें ये उपर्युक्त चारों विशेषण होंगे वही राग-द्वेष से बच सकता है, केवल 'स्थिरबुद्धिः' होने से राग-द्वेष दूर नहीं होते, क्योंकि वह विवेकी और बोधवान् भी हो—यह जरूरी नहीं है। इसी प्रकार 'असम्मूढः' विवेकी तो होता है किन्तु ब्रह्मवित् हो ही यह नहीं कहा जा सकता तथा केवल 'ब्रह्मवित्' होने से भी राग-द्वेष दूर नहीं होते, उसे ब्रह्मनिष्ठभी होना ही चाहिये। अतः ये चारों विशेषण उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। इससे सिद्ध हुआ कि राग-द्वेष की निवृत्ति के लिये बोध के पश्चात् बोधनिष्ठहोना भी परम आवश्यक है। इनमें से भी स्थिरबुद्धि, असम्मूढ़ और ब्रह्मवित्— ये तीन लक्षण तो गृहस्थ में भी हो सकते हैं, परन्तु उसके लिये 'ब्रह्मणि स्थितः' होना कठिन है।

प्रश्न— ज्ञान और अज्ञान में क्या अन्तर है और वास्तव में ज्ञाननिष्ठा क्या है?

उत्तर— यह बात याद रखो कि ज्ञान निर्विकल्प स्वरूप है और ज्ञाननिष्ठा निर्विकल्प अवस्था है। दोनों में अन्तर यह है कि ज्ञान में

तदाकारवृत्ति नहीं रहती, ज्ञाननिष्ठा में रहती है, क्योंकि ज्ञाननिष्ठा ज्ञानी में होती है और 'ज्ञानी' देहदृष्टि से कहा जाता है। ज्ञान तो स्वरूप ही है। और 'जो कुछ है वह स्वरूप ही है' इसका नाम ज्ञाननिष्ठा है। ज्ञाननिष्ठा का उपदेश जिज्ञासु के लिये है, जिससे जब तक प्रतीति है वह अभ्यास करता रहे। वास्तव में तो ज्ञान का किसी के साथ सम्बन्ध नहीं है और जब सम्बन्ध नहीं है तो निष्ठा किसकी किसमें होगी?

प्रश्न— जब स्वयं ब्रह्म ही है तो फिर ब्रह्म में उसकी स्थिति क्या होगी?

उत्तर— यद्यपि ज्ञान होने पर उसमें किसी अभ्यास की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि 'ज्ञानादेव तु केवल्यम्' इत्यादि स्पष्ट प्रमाण हैं। तथापि जीवन्मुक्ति के विलक्षण सुख के लिये अभ्यास किया जाता है। वह सुख क्या है सो अगले श्लोक से बतलाते हैं—

ब्रह्मस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥२१॥

भावार्थ— बाहर के विषयों में जिसका चित्त आसक्तिरहित है वह [मन-बुद्धि के साक्षिस्वरूप] आत्मा में जिस सुख का अनुभव करता है वह अक्षय सुख है, जिसे वह ब्रह्मयोग से युक्तचित्त होकर ग्रहण करता है।

व्याख्या— जो इन्द्रियों द्वारा सुने या अनुभव किये जाते हैं वे सब विषय बाह्य कहलाते हैं, जैसे स्वर्गादि सुने हुए विषय हैं और शब्दादि अनुभव किये हुए हैं। ये दोनों ही प्रकार के विषय बाह्य हैं। ऐसे बाह्य विषयों में जिनकी आसक्ति नहीं है तथा जो ब्रह्मयोग से युक्तचित्त हैं वही बाह्य स्पर्शों में अनासक्त हो सकता है और वही अक्षय सुख को भोग सकता है।

प्रश्न— यहाँ जो 'अक्षय सुख कहा गया है और आगे चौबीसवें श्लोक में जो 'ब्रह्मनिर्वाण' कहा गया है, इन दोनों में क्या अन्तर है?

उत्तर— 'अक्षय सुख' में प्रतीति रहती है किन्तु ब्रह्मनिर्वाण में नहीं रहती।

प्रश्न— इस श्लोक में जो अक्षय सुख कहा है वह क्या है और सुख-दु:ख का वास्तविक स्वरूप क्या है?

उत्तर— वास्तव में सुख और दु:ख दो वस्तुएँ नहीं है, दु:ख का अभाव ही सुख है।

प्रश्न— यदि दु:ख के अभाव का नाम ही सुख है तो जीवन्मुक्ति के ज्ञानरक्षा, तप, विसंवादाभाव, दु:खनाश और सुखप्राप्ति इन पाँच प्रयोजनों में दु:खनाश कहकर चार ही प्रयोजन बताने चाहिये थे, सुखप्राप्ति का उल्लेख नहीं होना चाहिए था। इससे तो मालूम पड़ता है कि दु:खनाश और सुखप्राप्ति दो बातें हैं।

उत्तर— तुम्हारा प्रश्न तो ठीक है, बात दो ही हैं। दृश्य का सत्ताशून्य अनुभव होना अर्थात् सत्ताशून्यता का यथार्थ बोध हो जाना तो दु:खनाश है और सत्ताशून्य अनुभव होने के साथ स्वरूप का भी अनुभव होना सुखप्राप्ति है। यदि ऐसा न हो तो दु:खनाश की

Samadhi VS Murchha or Unconsciousness and Shushupti or dreamless sleep - 5.21

अनुभूति तो सुषुप्ति और मूर्च्छा में भी हो जाती है, किन्तु समाधि में दु:खनाश और सुखप्राप्ति दोनों ही होते हैं।

प्रश्न— सुख का स्वरूप क्या है?

उत्तर— सुख का अनुभव तो होता है, परन्तु वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है। सुख को श्रुतियों में परमात्मा का स्वरूप बतलाया है और वही भक्तों को अभीष्ट है। वेदान्त की दृष्टि में तो सुख भी हेय है। वे उसका भी त्याग करते हैं।

प्रश्न—सुख का त्याग करने पर भी तो एक सुख ही प्राप्त होता है?

उत्तर— हाँ, होता तो है, परन्तु उसकी इच्छा तो लाखों में से किसी एक को होती है। उसी के विषय में श्रीगोसाई जी कहते हैं—

तात सुरग अपवरग सुख, धरिय तुला इक अंग।
सब मिलि होइ न ताहि सम, जो सुख लव सत्संग।।

इस दोहे में मोक्ष-सुख से भी एक लव के सत्संग-सुख को अधिक कहा है। चौथी भूमिका सत्त्वापत्ति में ज्ञान हो जाता है, यही

मोक्ष-सुख है। आत्म-सुख इसका भी त्याग करने पर प्राप्त होता है। सत्संग के दो अर्थ हैं— सन्तों का संग और सत् (आत्मा) का संग। आत्मा ही सत् है। यहाँ यही अर्थ ग्रहण करना चाहिए। एक लवमात्र आत्माकार वृत्ति को ही यहाँ सत्संग कहा है। गुरु के उपदेश या सन्तों के संग से यह ज्ञान तो हो जाता है कि आत्मा बोधस्वरूप है, परन्तु एक आसन पर बैठकर असंगता का अभ्यास किये बिना यह अनुभव नहीं होता कि आत्मा आनन्दस्वरूप भी है वह आत्मानन्द ही ब्रह्मानन्द है, जब तक उसकी अनुभूति नहीं होती तब तक विषयानन्द का आकर्षण समाप्त नहीं होता।

प्रश्न—जीवन्मुक्ति के आनन्द में और ब्रह्मानन्द में क्या अन्तर है?

Brahmananda vs jivanmukti ananda

उत्तर—दृश्य प्रतीत होते हुए भी उसे सत्ताशून्य देखना जीवन्मुक्ति का आनन्द है तथा संकल्प-विकल्प का त्याग करके अचिन्त हो जाना ब्रह्मानन्द है। इसी को शून्यसाक्षित्व या वर्तमान में स्थित रहना कहते हैं।

प्रश्न— आनन्द आत्मा में है या अनात्मा में?

Where Ananda resides

उत्तर— आनन्द न आत्मा में है न अनात्मा में। आनन्द नाम की कोई वस्तु तो है नहीं। यदि आत्मा में आनन्द हो तो आत्मा तो सभी का है, अतः सभी को आनन्द होना चाहिये। और यदि अनात्मा में आनन्द है तो प्रत्येक पदार्थ में सभी को आनन्द आना चाहिये। किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। एक ही पदार्थ दूध में एक को आनन्द आता है तो दूसरे को देखते ही उल्टी होने लगती है। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं को भी समझना चाहिए। इसलिए आनन्द न आत्मा में है न अनात्मा में। आनन्द तो आसक्ति में है। विषय में आसक्ति होने पर उसमें आनन्द जान पड़ता है और आत्मा में आसक्ति हो तो आत्मानन्द की स्फूर्ति होने लगती है। इस आनन्द का त्याग करने पर जो स्थिति होती है वही 'तुर्यगा' है। अभ्यास काल में आनन्द की स्फूर्ति होने पर उसको रसास्वाद कहकर उससे असंग रहने को ही कहा है। गीता अध्याय १४

के छठे श्लोक में सुख को बन्धन ही बतलाया है। यदि व्यतिरेक्त दृष्टि से देखें तब भी आनन्दअपना स्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि उससे भिन्न रूप से अनुभव होता है। और ऐसा कहा भी जाता है कि मुझे बड़ा आनन्द हुआ। इसलिए आनन्द अपना स्वरूप नहीं हो सकता। वह दृश्य कोटि में आ जाता है। स्वरूप का कोई एक लक्षण नहीं है, क्योंकि सब लक्षण उसी के हैं। यदि अन्वय दृष्टि से उसे सवरूप कहें तो आनन्द ही क्या दु:ख भी अपना स्वरूप ही है। सारा दृश्य अपना ही स्वरूप है। अत: आत्मा जो सच्चिदानन्द स्वरूप कहा जाता है वह असत्-जड़-दु:खस्वरूप दृश्य को अपेक्षा से जिज्ञासु को समझाने के लिये है, नहीं तो स्वरूप-अरूप क्या वह तो स्वयं ही है। बोध में दु:ख नहीं इसलिए आनन्द भी नहीं। निषेधवृत्ति करने पर जिज्ञासु को निर्विकार सत्ता में आनन्द होता है, स्वरूप में नहीं। स्वरूप इससे भिन्न इसका भी साक्षी है। ज्ञान में जो आनन्द आता है वह जिज्ञासु का आनन्द है, बोधवान् का नहीं, क्योंकि जिज्ञासु ने अपने जीवत्व कोपूर्णतया मिटाया नहीं है। इसलिए उसे आनन्द जान पड़ता है।

प्रश्न— महाराजजी! जबकि मैं सच्चिदानन्द था तो मुझ में यह असत् जड़ दु:ख कहाँ से आ गया?

उत्तर— तुम यह प्रश्न पूर्ण में बैठकर कर रहे हो या परिच्छिन्न में? यदि पूर्ण में बैठकर कर रहे हो तो यह प्रश्न ही नहीं बनता, क्योंकि जब तक वृत्ति है तब तक पूर्णता नहीं होती। पूर्ण में कोई वृत्ति नहीं है। तुम जो कहते हो कि आज बड़ा आनन्द आया वह बिना वृत्ति के कैसे हो सकता है? इसलिए ज्ञानी का कोई आनन्द नहीं होता। यह आनन्द का निषेध रागवृत्ति हटाने के लिये है। यदि आत्मा में भी राग हो तो वह भी चित्त की हीएक स्थिति होने के कारण ठीक नहीं।

प्रश्न— महाराजजी! आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है, क्या यह बात ठीक नहीं है? इस श्लोक की व्याख्या में आपने आनन्द का निषेध करते हुए कई बार कहा है कि आत्मा में आनन्द नहीं। यदि आत्मा आनन्दरूप नहीं है तो शास्त्रों में उसे आनन्दस्वरूप क्यों बतलाया है?

उत्तर— यदि आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है तो असज्जड़-दु:खरूप कौन है?

प्रश्न— इसका उत्तर तो आप ही दीजिये।

उत्तर—सच्चिदानन्द कहोगे तो आत्मा विकल्प के अन्तर्गत आ जायगा। और है वह निर्विकल्प। परन्तु उस निर्विकल्प में असत्-जड़-दु:ख यह विकल्प प्रतीत होने लगा। इसे हटाने के लिये उसे सच्चिदानन्द कहा जाता है। अत: हम यह तो कह सकते हैं कि मैं असत्-जड़-दु:ख नहीं हूँ, परन्तु मैं सच्चिदानन्द हूँ या आनन्द स्वरूप हूँ—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा कहने से आत्मा वृत्ति का विषय हो जायगा। इसलिये असत्-जड़-दु:ख का निषेध करने पर वह स्वयं निर्विकल्प ही है।

प्रश्न— आनन्द अनुभव का विषय है और आत्मा अनुभवस्वरूप है, तब उसे आनन्दस्वरूप क्यों कहते हैं? Atma is Aanandaswarupa thus it does not experience ananda

उत्तर— आत्मानन्द में दु:ख नहीं, क्योंकि उसमें वियोगजनित दीनता नहीं है। उसका नित्य संयोग है, क्योंकि वह तो अपना-आप ही है, कोई दूसरा नहीं। वियोग तो दूसरे का होता है। उपासना में संयोग-वियोग दोनों होते हैं, इसलिये उसमें दु:ख रहता हैं आत्मा में कुछ करना नहीं हैं, क्योंकि कोई वस्तु लानी नहीं हैं। भक्त को तो भगवान् लाने होते हैं और वे चले भी जाते हैं। संसारी वस्तुओं के लिये भी परिश्रम करना पड़ता है, इसलिये सभी में परतन्त्रता है। किन्तु परमसुख स्वतन्त्रता ही है। परतन्त्रता ही पशुता है। पशु कई प्रकार के होते हैं—स्त्री-पशु, धर्म-पशु, कर्म-पशु, शास्त्र-पशु, देव-पशु, ईश्वर-पशु और वृत्ति-पशु इत्यादि। समाधि में भी परतन्त्रता है। यदि वृत्ति शान्त रहे तो सुखी और विक्षिप्त हो जाय तो दु:खी। तात्पर्य यह कि जब तक कर्त्तव्य शेष रहता है तब तक परतन्त्रता या पशुता निवृत्त नहीं होती। यही दु:ख है और सम्पूर्ण कर्त्तव्यों से छूटकर पूर्ण स्वतन्त्र हो जाना ही ज्ञानी का आनन्द है। उसके अतिरिक्त ज्ञानी का जो आनन्द माना जाता है वह तो भूल ही है। अर्थात् कर्त्तव्यमात्र

An enlightened person's happiness is the result of freedom from all duties.

Freedom from all duties is the aim

पशुत्व है और कर्त्तव्य से छूटकर पूर्ण स्वतन्त्र हो जाना ही ज्ञानी का आनन्द है। ज्ञान होने पर तो आनन्द का कोई भोक्ता ही नहीं रहता, तो आनन्द होगा किसे? इसलिये ज्ञानी को जो आनन्द कहा जाता है वह जिज्ञासु की दृष्टि से है। इस २१वें और २४ वें श्लोक का तथा अठारहवें अध्याय के ४९ वें श्लोक का भाव एक ही है। यहाँ २१ वें तक चार श्लोक ब्रह्माभ्यास का निरूपण करते हैं। इनमें २३ वाँ श्लोक अभ्यास की परीक्षा का है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।२२।।

भावार्थ— जो भी विषय-संसर्ग से होने वाले भोग हैं, वे दुःख के मूल तथा आदि-अन्तवाले हैं। इसलिये हे कुन्तिनन्दन! तत्त्ववेत्ता उनमें नहीं रमते।

व्याख्या— इस श्लोक से यह निश्चय होता है कि इन्द्रियों के स्पर्श ही दुःख के कारण हैं। उनमें विवेकी पुरुष रमण नहीं करते। परन्तु ये स्पर्श ज्ञानी को भी अनुभव तो होते ही हैं। ज्ञानी काष्ठवत् तो हो नहीं जाता। ये सब शरीर के ही धर्म हैं, जब तक शरीर रहेगा रहेंगे ही। किन्तु इनमें ज्ञानी की कैसी स्थिति रहती है—यह अगले श्लोक से कहते हैं—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।।२३।।

भावार्थ— जो शरीर-त्याग से पूर्व ही अपने काम-क्रोधजनित वेग को रोकने में समर्थ है वही मनुष्य युक्त (सिद्ध) है और वही सुखी है। Who is truly happy

व्याख्या— 'शरीर-त्याग' का अर्थ यहाँ संन्यास भी लिया जा सकता है, क्योंकि देह-त्याग के पश्चात् तो सभी के काम-क्रोध निःशेषता हो जाते हैं। अतः जिसने संन्यास ग्रहण करने के पूर्व ही काम-क्रोधादि वेगों को रोक लिया है वही युक्त है और वही सुखी है। परन्तु यह अर्थ भी सुसंगत नहीं जान पड़ता, क्योंकि इससे यह निश्चय

होता है कि मानो संन्यास में ही इनका निषेध आवश्यक है। अत: ऐसा अर्थ भी हो सकता है कि काम-क्रोधादि का वेग चित्त में आ जाने पर भी जो उसकी शारीरिक प्रतिक्रिया होने से पूर्व ही उसे रोक लेता है वही पुरुष युक्त और सुखी है। किन्तु इससे भी बढ़कर यह बात होगी कि इन काम-क्रोधादि वेगों के शारीरिक चिह्न भी प्रकट न हों। अर्थात् अभ्यास से जिसमें ऐसा सामर्थ्य आ गया है कि वह शरीर में भी इनके चिह्न प्रकट नहीं होने देता वही युक्त और सुखी है।

यहाँ जीवन्मुक्ति का प्रकरण है, इसलिये यही अच्छा है कि शरीर रहते हुए ही सब विकार छूट जायें। ऊपर से भले ही वह काम-क्रोधादि की चेष्टाएँ करे, परन्तु जिसे वास्तव में बोध हो गया है उसकी मुक्ति में कोई सन्देह नहीं है।

प्रश्न— क्रोध के शारीरिक चिह्न क्या हैं, तथा इसका परिणाम क्या है?

उत्तर— मुखाकृति का विकृत होना, नेत्र लाल हो जाना, ओंठ फड़कना, स्वर बिगड़ जाना, शरीर में कम्प होना, पसीना आना और दाँत पीसने लगना—ये सब क्रोध के ही चिह्न हैं। काम-क्रोधादि से अन्त:करण की शीतलता विदा हो जाती है। और एक आग-सी लग जाती है, जो पहले शरीर को गर्म करती है और फिर वाणी को प्रभावित कर स्वर-भङ्ग कर देती है। यह अग्नि ही क्रोध है। शास्त्र में काम और क्रोध दोनों ही को अग्नि कहा है। क्रोध पाप का चिह्न और पाप का प्रधान कारण कहा गया है। राग-द्वेषजनित क्रोध मनुष्य का उत्थान नहीं होने देता। क्रोध से अपना ही सर्वनाश होता है। यदि हमें एकबार क्रोध आ जाय तो वह एक मास के जप, तप, पुण्य, दान और ध्यान के फल को नष्ट कर देता है। एक वर्ष में बारह बार क्रोध आने से कुछ भी नहीं रहता। जैसे चोरी या डकैती से तो पूरा धन नष्ट नहीं होता, कुछ बच भी जाता है, परन्तु आग लग जाय तो कुछ भी नहीं बचता, उसी प्रकार काम, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि से तो कुछ पुण्य बच भी जाता है, परन्तु क्रोध से तो सभी स्वाहा हो जाता है।

जहाँ क्रोध है वहीं कलियुग है, इसलिए हमें शान्त-चित्त ही रहना चाहिये। अत्यन्त कष्ट पड़ने पर या महान् सुख प्राप्त होने पर, शत्रु के आक्रमण करने पर या फूलों की वर्षा होने पर भी यदि राग-द्वेष से चित्त न बिगड़े, समता बनी रहे और क्रोध न हो तो समझो कि चित्त शान्त हुआ, समता आयी तथा द्वन्द्वो की निवृत्ति हुई।

प्रश्न— काम क्रोधादि को किस साधन से रोका जा सकता है?

उत्तर— काम क्रोधादि केवल विचार से ही रोके जा सकते हैं। यदि काम-क्रोध आदि की वृत्ति हो तो समझे कि मेरी देह में अहंबुद्धि हो गयी है, क्योंकि बिना देह-बुद्धि हुए ये हो नहीं सकते। जिसे जो वस्तु प्रिय है वही उसका काम है और उसे छोड़ देना ही बहादुरी है। जैसे यदि स्त्री के प्रति आकर्षण हो तो उसकी निवृत्ति के लिये तीन काम करने चाहिये—स्त्री की ओर जानबूझकर देखे नहीं, उससे बात न करे और न उसका चिन्तन करे। यथासम्भव, किसी भी स्त्री से कभी एकान्त में न मिले; कहा भी है—

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रिमग्रामो विद्वान्समपि कर्षति॥

अर्थात् अपनी माता, बहिन और पुत्री के भी साथ एकांत में न रहे। इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल होती हैं, ये विवेकी को भी खींच लेती हैं।

इसलिये प्रिय और अप्रिय वस्तु का दर्शन, वर्णन और चिन्तन न करना ही काम-क्रोध से बचने का उपाय है। अथवा अगले श्लोक में कहे हुए अन्त:सुख आदि गुणों से सम्पन्न पुरुष ही उन्हें जीत सकता है। इस श्लोक में यह दिखाया है कि काम-क्रोधादि को जीतने वाला ही वीर है, युक्त है और सुखी है तथा जो कामी-क्रोधी है वही दु:खी है। कामी-क्रोधी के प्राण में सर्वदा दाह होता रहता है। जब तक शरीर रहे सजग रहकर इनका सामना करना चाहिये, इनका कभी विश्वास नहीं करना चाहिये, ढील कभी नहीं देनी चाहिये। विवेकरूपी डण्डे से सर्वदा इन शत्रुओं पर प्रहार करते रहो।

संगति— अगले श्लोक में कहते हैं कि अन्तःसुख आदि गुणों से युक्त पुरुष ही निर्वाण को प्राप्त होता है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।२४।।

भावार्थ— जो योगी अपनी आत्मा में ही अन्तःसुख, अन्तराराम और अन्तर्ज्योति इन तीन गुणों से युक्त है वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हुआ ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या— सब कुछ करते हुए भी मैं अकर्ता हूँ—ऐसा अनुभव करना और दृश्य को सत्ताशून्य देखना—यह सविकल्प समाधि ही अन्तःसुख है। दृश्य का अत्यन्ताभाव अनुभव करना अर्थात् निर्विकल्प समाधि ही अन्तराराम है। इनका अन्तर ऐसा ही समझना चाहिए जेसे किसी प्रिय वस्तु को देखने और भोगने के सुखों में होता है। अथवा शब्दादि बाह्य विषयों के त्याग से जो सुख होता है। वह अन्तःसुख है उसी सुख में रमण करना अन्तराराम है। तथा आत्मा में अन्तःकरण को स्थिर करना अर्थात् सब कुछ अलग ही देखना अन्तर्ज्योति है। ये तीनों गुण उसी में होते हैं, जो आत्मरति और आत्मक्रीड़ा में तत्पर होता है। उसके अतिरिक्त और सबमें तो बाह्यसुख बाह्यराम और बाह्यप्रकाश ही होगा। गीता का सिद्धान्त तो यही है कि बिना आत्मनिष्ठा के कल्याण नहीं होगा। विदेह कैवल्यका अर्थ यह है कि बोध होने पर देह का अत्यन्ताभाव अनुभव होने लगे। इसलिए आत्मनिष्ठ को ही विदेह कैवल्य की प्राप्ति होती है। इसी के लक्षण अगले श्लोक में रहते हैं—

What is Antahsukhah, Antararamah

Videha Kaivalya

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।।२५।।

भावार्थ— जिनके कल्मष (मल) नष्ट हो गये हैं, जिनके संशय दूर हो गये हैं। जिनका मन अपने अधीन है और जो सभी प्राणियों के हित में रत हैं वे ऋषि (तत्त्वदर्शी) ही ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं।

व्याख्या— सम्पूर्ण भूतों के हित में वही तत्पर होगा जो अहिंसक हो, राग-द्वेष से रहित हो, सबका भला चाहता हो तथा जिसका ऐसा सङ्कल्प हो कि सभी भगवान् के भक्त हो जाएँ। परन्तु सब भूतों का हित तो कोई नहीं कर सकता, क्योंकि सबका प्रारब्ध एक-सा नहीं होता। तथा ईश्वर ने जिसके लिये जो विधान निश्चित कर दिया है वह अमिट है। इसलिये यहाँ इसका अर्थ यह है कि सर्वभूतों का हित (प्रिय) भगवान् या आत्मा ही है, अतः जिसकी आत्मा या भगवान् में रति (प्रीति) है वही सर्वभूतहिते रत है। वही सबका प्यारा है, क्योंकि आत्मा सबका एक है, इसलिए जो आत्मा से प्रेम करता है वह सभी से प्रेम करता है। इसी से जो सन्त एकान्त में रहते हैं और किसी से कोई संपर्क नहीं रखते उनसे सभी प्रेम करते हैं। जब तक ये चारों विशेषण न हों किसी तत्त्वदर्शी को 'ऋषि' की पदवी नहीं मिलती। और इन गुणों से युक्त पुरुष को ही ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त हो सकता है।

प्रश्न— ऋषि और मुनि में क्या अन्तर है?

उत्तर—जिन्हें वेद-मन्त्रों का साक्षात्कार हुआ है वे ऋषि हैं और जिन्हें मनन द्वारा आत्मा का साक्षात्कार हुआ है वे मुनि हैं। परन्तु किन्हीं-किन्हीं में ये दोनों ही बातें पायी जाती हैं तो वे दोनों ही उपाधियाँ प्राप्त कर लेते हैं जैसे श्रीनारदजी ऋषि भी हैं और मुनि भी।

प्रश्न— यहाँ 'छिन्नद्वैधा' का क्या अर्थ है?

उत्तर— आत्मा नित्य है अथवा अनित्य, जड़ है अथवा चेतन, ईश्वर और जीव में भेद है या अभेद तथा इस संसार की उत्पत्ति का कारण ईश्वर है या प्रकृति इत्यादि शंकाएँ ही 'द्वैधा' हैं, ये जिनकी निवृत्ति हो गयी हैं वे ही छिन्नद्वैधा है।

प्रश्न— प्रकृति, जीव, ईश्वर और ब्रह्म—इनमें परस्पर क्या अन्तर है?

Characteristics of Prakriti, Jiva, Ishwara and Brahma

उत्तर— प्रकृति सत् है, किन्तु जड़ है। जीव सत् और चैतन्य है, किन्तु उसमें अल्पकर्तृत्व और अल्पभोक्तृत्व है तथा ईश्वर सत्-

चित् तो है है ही उसमें सर्वकर्तृत्व और सर्वभोक्तत्व भी है। तथा ब्रह्म सत्-चित्-स्वरूप है, किन्तु उसमें कर्ताभोक्तापन नहीं है।

प्रश्न—ईश्वर और जीव में क्या अन्तर है?

Differences between Jiva and Ishwara

उत्तर— ईश्वर सम्पूर्ण विभूतियों का स्वामी है और जीव विभूतियों के अधीन है। जीव अविद्या के वशीभूत है और ईश्वर मायापति है। जीव मानो मिट्टी के मकान में बन्द है और ईश्वर मानो काँच के मकान में बैठा हुआ है। अथवा 'गुणेष्वसक्तधीरीशः गुणसंगो विपर्ययः' अर्थात् जो गुणों में आसक्त नहीं है वह ईश्वर है और जो गुणों के अधीन है वह जीव है।

प्रश्न— क्या जीव और ईश्वर में एकता हो सकती?

Is Unity is possible between Jiva and Ishwara ?

उत्तर— जीव और ईश्वर की एकता नहीं हो सकती, क्योंकि इन दोनों के लक्षण विभिन्न हैं। जीव अल्प है और ईश्वर महान् है। हाँ, चेतनत्व की दृष्टि से इन दोनों में एकता है ही।'

प्रश्न— ब्रह्म और ईश्वर में क्या अन्तर है?

Differences between Brahm and Ishwara

उत्तर— ब्रह्म निर्विशेष है और ईश्वर मायाविशिष्ट है। परन्तु तत्त्वतः ऐश्वर्य होने से जिसे भगवान् कहा जाता है, सबसे परे होने से उसी को परमात्मा कहते हैं, चैतन्यमात्र होने से वही ब्रह्म है और अपना-आप होने के कारण वही आत्मा है।

Differences between Ishwara and Tattvavetta / enlightened person

प्रश्न— ईश्वर और तत्त्ववेत्ता में क्या अन्तर है?

उत्तर— ईश्वर में सर्वकर्तृत्व और सर्वभोक्तृत्व है तो भी वह नित्यमुक्त है, किन्तु तत्त्ववेत्ता में अल्पकर्तृत्व और अल्पभोक्तृत्व होने पर भी वह जीवन्मुक्त है। दोनों को उपाधियों में अन्तर है, स्वरूपपतः तो दोनों एक ही है।

संगति—अब अगले श्लोक में इस बात को स्पष्ट करते हैं कि वह निर्वाणपद जीवित रहते हुए ही प्राप्त होता है या देहत्याग के पश्चात्—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥२६॥

भावार्थ— काम-क्रोध से रहित और संयतचित्त तत्त्ववेत्ता यतियों को सब ओर से (अर्थात् देहत्याग के पूर्व और पश्चात् सभी अवस्थाओं में) ब्रह्म-निर्वाण अनुभव होता है।

व्याख्या— श्लोक २० से २६ तक जीवन्मुक्ति का वर्णन किया गया है। यहाँ यह बतलाया गया है कि जब तक क्रोधादि विकार रहेंगे, जीवन्मुक्ति नहीं होगी। केवल ज्ञान होने से ही क्रोधादि की निवृत्ति नहीं होती, ज्ञाननिष्ठा से ही इनसे छुटकारा मिलता है। जब तक ये दोष रहेंगे निर्विकल्प समाधि भी नहीं हो सकती।

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में कहे हुए तीनों विशेषण विदितात्मा के हैं। जहाँ-जहाँ ज्ञान की बात आवे वहाँ-वहाँ ध्यान भी समझना चाहिये। अतः कामादि को जीतने के लिये ज्ञान के पश्चात् ध्यान की आवश्यकता है। इस श्लोक में जीवन्मुक्तिका प्रकरण समाप्त होता है। इसमें जो कुछ कहा गया है वह हठयोगी, मन्त्रयोगी या लययोगी के विषय में नहीं अपितु तत्त्वनिष्ठ के विषय में कहा गया है।

What is Dhayn / MEDITATION vs. Jnan vs Jnannishtha

प्रश्न— ध्यान, ज्ञान और ज्ञाननिष्ठा में क्या अन्तर है?

उत्तर— ध्यानी या उपासक में कर्ता-भोक्तापन रहता है-किन्तु ज्ञानी देह और प्रपञ्च से परे है। ज्ञान में कर्ता-भोक्तापन का बाध होकर शुद्ध सत्तामात्र रह जाती है। ध्यान में आनन्द का भोक्ता रहता है, किन्तु ज्ञान आनन्दस्वरूप है। ध्यान में ध्येय अपने से भिन्न होता है किन्तु ज्ञान में ज्ञेय, स्वयं ही है। ज्ञान और ज्ञाननिष्ठा का अन्तर ऐसा ही है कि जैसे किसी का पिता लाखों रुपये बताकर मर गया और उसको विश्वास भी हो गया, किन्तु भूखा होने पर भी वह उसे अपने काम में न ला सके—ऐसा है ज्ञान'। और यदि अभ्यासरूपी परिश्रम के द्वारा खोदकर वह उसे भोगने लगे तो उसी का नाम है 'ज्ञाननिष्ठा'। अथवा यों कहो कि ज्ञान निर्विकल्प स्वरूप है और ज्ञाननिष्ठा निर्विकल्प अवस्था है। ज्ञान में वृत्ति का बाध हो जाता है किन्तु ज्ञाननिष्ठा में वृत्ति रहती है। ज्ञाननिष्ठा ज्ञानी में रहती है और ज्ञानी शरीर दृष्टि से कहा जाता है। ज्ञान स्वरूप है और जो कुछ है वह स्वस्वरूप ही है—यह ज्ञाननिष्ठा है।

संगति— अब समाधि का अभ्यास बतलाते हैं। यह ज्ञान प्राप्ति का अन्तरंग साधन है—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।२७।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।।२८।।

भावार्थ— विवेक द्वारा शब्दादिविषयों को अपने से अलग करके नेत्रों को दोनों भौहों के मध्य में स्थिर करके, नासिका के बीच मे चलने वाले प्राण और अपान को समान करके जो इन्द्रिय और मन को जीतकर ध्यान में तत्पर है तथा इच्छा, भय और क्रोध से रहित है वह मोक्षपरायण मुनि सर्वदा मुक्त ही है।

व्याख्या— ऐसा मुनि इसलिए विगतेच्छा है क्योंकि उसे केवल भगवान् या आत्मा की प्राप्ति ही की इच्छा रहती है, अन्य कोई इच्छा नहीं रहती। वह निर्भय है, क्योंकि अपने को सबसे असङ्ग अनुभव करता है अथवा सबको अपना इष्ट ही देखता है, कोई अन्य नहीं देखता, क्योंकि 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इस श्रुति के अनुसार उसे द्वैतदृष्टि में भय जान पड़ता है। वह अक्रोधी है, क्योंकि विवेक द्वारा उसने अच्छे-बुरे या अनुकूल-प्रतिकूल के भेद को त्याग दिया है। ऐसा पुरुष मुक्त ही है।

यहाँ योग के छः अङ्ग कहे गये हैं। यम-नियम को छोड़ दिया है, क्योंकि योगी में वे तो स्वतः सिद्ध होते हैं। ध्यानी के लिये कर्मकाण्ड बाधक होता है, क्योंकि कर्मकाण्ड ठीक समय पर न होने से बाधक होता है। अतः इन दोनों साधनाओं का साथ-साथ आचरण नहीं हो सकता क्योंकि जो समय ध्यान का होता है वही कर्मकाण्ड का भी होता है।

अध्याय ४ श्लोक २९ में जो प्राणायाम बतालया था वह हठयोग के अन्तर्गत है तथा यहाँ जो प्राणायाम कहा है वह राजयोग के अन्तर्गत है। इसे केवली कुम्भक भी कह सकते हैं।

प्रश्न— आपने जो यहाँ दो प्रकार के प्राणायाम बतलाये उनमें क्या अन्तर है?

उत्तर— अध्याय ४ श्लोक २९ में जो कुम्भक कहा है वह हठयोग द्वारा होता है और कर्तृजन्य है क्योंकि वहाँ रुद्ध्वा (रोककर) क्रिया का प्रयोग हुआ है, अतः वह प्रयाससाध्य है, वहाँ प्राणापान की गति रोकनी पड़ती है, अतः वह कर्तृजन्य है तथा केवली कुम्भक में कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, वह स्वयं हो जाता है। इसलिए वह कर्तृजन्य नहीं है और उसका महत्व भी अधिक है।

प्रश्न— राजयोग और केवली कुम्भक की विधि क्या है?

उत्तर—

न दृष्टिलक्ष्याणि न चित्तबन्धो न देशकालौ
न च वापि रोधः।
न धारणाध्यानपरिश्रमो वा समेधमाने सति राजयोगे॥

अर्थात् राजयोग में समाहित होने के लिये न तो दृष्टि को किसी लक्ष्य में लगाना होता है, न चित्त को कहीं बाँधना होता है, न देश या काल का नियम है और न धारणा-ध्यान आदि का परिश्रम करने की आवश्यकता है।

पातञ्जल-योगदर्शन के 'स बाह्यभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः' इस सूत्र द्वारा जो चतुर्थ प्राणायाम कहा गया है वह केवली कुम्भक ही है। उसका लक्षण इस प्रकार है—

नोच्छ्वसेन्नैव निःश्वसेन्नैव गात्राणि चालयेत्।
एवं भावेन युञ्जीत कुम्भकस्येति लक्षणम्॥

अर्थात् प्राण की क्रिया गमनागमन से रहित हो और शरीर चेष्टाशून्य हो—इस प्रकार भाव से जो योग किया जाता है वही केवली कुम्भक का लक्षण है।

प्रश्न— केवली कुम्भक का अभ्यास कब तक करना चाहिये और इसका क्या फल होना चाहिये?

उत्तर—

यावत् केवलिकुम्भः स्यात् तावदभ्यासमाचरेत्।
केवली कुम्भके सिद्धे किन्न सिद्धयति भूतले।।

अर्थात् जब तक केवली कुम्भक सिद्ध न हो तब तक अभ्यास करे क्योंकि केवली कुम्भक सिद्ध होने पर पृथ्वी पर क्या सिद्ध नहीं हो जाता।

Kevali Kumbhaka

प्रश्न— केवली कुम्भक की सिद्धि के लिये क्या साधन है?

उत्तर— वह प्राणसाक्षी, संकल्पसाक्षी, वर्तमानसाक्षी या जपसाक्षी रहकर कई प्रकार से किया जाता है। आसन पर बैठकर यही ध्यार रखो कि शरीर हिले नहीं। नेत्रों के पलक भी न हिलें। शरीर की स्थिरता से ही असंगता का स्पष्ट अनुभव हो जाता है। बाहर की क्रिया शान्त होने से भीतर की क्रिया शान्त होगी। पहले आसन स्थिर होना चाहिये। योगदर्शन में आसन के विषय में कहा है—'स्थिरसुखमासनम्' अर्थात् जिस में स्थिरता और सुख हो वह आसन है। स्थिर आसन से बैठकर प्राणों के साक्षी रहो। तब प्रतीत होगा। कि प्राण स्वयं चल रहा है। उसे कोई अन्य नहीं चलाता। फिर स्वयं ही श्वास रुकने लगेगा। अथवा संकल्प के साक्षी रहो। अर्थात् अगली पिछली बातें उठें तो उनके द्रष्टा रहो। इससे स्वयं ही अन्तःकरण का व्यापार शान्त होने लगेगा और फिर प्राण भी शान्त हो जायेंगे। अथवा जप के साक्षी रहो।

प्रश्न— आपने कहा जप के साक्षी रहो, यह तो ठीक है, परन्तु जप किया क्यों जाता है? पापक्षय के लिये या भगवत् प्राप्ति के लिये।

उत्तर— जप न तो पापक्षय के लिये किया जाता है और न भगवत्प्राप्ति के लिए, क्योंकि पापक्षय के बिना तो जप में रुचि ही नहीं होती और भगवत्प्रीप्ति गुरुदेव के उपदेश मात्र से हो जाती है।

प्रश्न— तो फिर जप क्यों करते हैं?

उत्तर— जप या भजन तो भगवान में प्रेम होने के लिए किया जाता है। यदि मेले में हमें कोई व्यक्ति मिल जाय तो उससे हमारा प्रेम नहीं हो जाता। प्रेम तो उसका बार-बार चिन्तन करने या पुनः-

पुनः मिलने से ही होता है। अतः भगवान् का मिलना तो कठिन नहीं, कठिन तो उनसे प्रेम होना ही है। हम रोज सैकड़ों मनुष्यों से मिलते हैं उनसे जान-पहचान भी हो जाती है। परन्तु प्रीति तो सबसे नहीं होती।

प्रश्न—गुरुदेव के उपदेश मात्र से भगत्प्राप्ति कैसे हो जाती है?

उत्तर— प्राप्ति कुछ नई तो नहीं होती। गुरुजी ने जो रूप बतलाया था उसी रूप में तो भगवान् मिलते हैं। इसमें नया क्या हुआ? गुरुजी ने तो भगवान् के स्वरूप का ज्ञान करा दिया था। ज्ञान और साक्षात्कार में कुछ अन्तर है। साक्षात्कार तो प्रेम से होता है। श्रीतुलसीदास भी कहते हैं—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

प्रश्न— आपने कहा कि ज्ञानमात्र से साक्षात्कार नहीं होता तो फिर ज्ञानमार्गियों के जो 'अहं ब्रह्मास्मि' 'सोऽहम्' और 'ॐ' आदि मन्त्र हैं उन्हें अपने से क्या लाभ है?

उत्तर— इन्हें जपने से तत्त्व साक्षात्कार होता है—यही इनका फल है। परन्तु इनसे उदासीनता या कठोरता बढ़ती है। इनसे भिन्न जो अन्य मन्त्र हैं उनसे कोमलता आती है। यह इन मन्त्रों का स्वभाव ही है।

प्रश्न— यदि उदासीनता या कठोरता बढ़ती है तो इन्हें जपने से क्या लाभ है?

उत्तर— उदासीनता बुरी नहीं और उदासीनता का अर्थ कठोरता भी नहीं है। परन्तु परमार्थी जिसे उदासीनता कहते हैं दूसरे लोग उसी को कठोरता कहते हैं। बोध हो जाने पर इन तीनों मन्त्रों को जपने से कोई विशेष लाभ नहीं, क्योंकि इनका फल जो बोध है वह तो प्राप्त हो चुका। इनकी अपेक्षा दैवी सम्पत्ति की वृद्धि के लिए किन्हीं अन्य मन्त्रों का जप विशेष उपयोगी है।

प्रश्न— बोध हो जाने पर यदि जप किया ही न जाय तो क्या हानि है?

उत्तर— तब तमोगुण बढ़ जायगा।

प्रश्न— तत्त्वज्ञ तमोगुण का भी तो साक्षी है, उसे तमोगुण क्या हानि पहुँचा सकता है?

उत्तर— हानि यह होगी कि वह तमोगुण साक्षीभाव को दबा देगा, असंगवृत्ति को उदय ही नहीं होने देगा, जैसे कि सुषुप्ति असंग-भाव को दबा देती है।

प्रश्न— बार-बार एक ही नाम लेते रहने से क्या लाभ है?

उत्तर— एक नाम बार-बार जप करने से संकल्प शुद्ध हो जाता है। इससे संकल्प होते ही जो चाहता है वह प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न— जप करने वाले भक्त कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर— जापक भक्त तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ। जो दिन में एक बार ही जप करते हैं वे कनिष्ठ भक्त हैं। जो जप तल्लीन रहते हैं वे मध्यम हैं और जिसके पास जाने से ही अनायास जप होने लगे वह उत्तम कोटि का भक्त है।

प्रश्न— जप कितने प्रकार का होता है?

Types of Japa, samadhi

उत्तर— जप तीन प्रकार का होता है वाचिक, उपांशु और मानसिक। चित्त जैसे-जैसे समाहित होगा मानसिक जप अधिक प्रिय लगने लगेगा। परन्तु आरम्भ में वाचिक और फिर उपांशु जप करना चाहिये। मानसिक जप प्रिय लगने से मन समाहित होगा और फिर प्राण भी स्थिर हो जायगा। प्राण के रुकते ही शून्य-सा प्रतीत होगा। उसके भी साक्षी रह कर उसे देखते रहो। उस समय आनन्द ही आनन्द भान होगा। यह सविकल्प समाधि है। उस आनन्द से धीरे-धीरे उपराम होकर स्वरूपस्थ हो जाओ। अब आनन्द का भी भाव नहीं होगा। यही निर्विकल्प समाधि है। ऐसा ही अध्याय ६ के २५ श्लोक में कहा है—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

अब कोई अन्य भाव न रहने के कारण स्वयं ही रह जायगा मैं शुद्ध हूँ, मुक्त हूँ, साक्षी हूँ—यह ज्ञान है। परन्तु अभ्यास के समय

यह भी ध्यान मत करो कि मैं क्या हूँ, कौन हूँ कैसा हूँ। सबके निःशेष होने पर स्वयं ही रह जायगा। बस केवल शरीर और पलकों को देखता रहे कि वे हिलने न पावें। आसन की दृढ़ता बनी रहे तो समाधि स्वयं ही होगी।

प्रश्न— इस अभ्यास को करते हुए हमें यह कैसे मालूम पड़ेगा कि हमारी उन्नति हो रही है।

उत्तर— शरीर स्थिर होना, चित्त शान्त होना और आनन्द का प्रवाह होना ही उन्नति के लक्षण है। ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। केवली कुम्भक के लिए शाम्भवी मुद्रा ही श्रेष्ठ है।

What is shambhavi mudra

शाम्भवी मुद्रा के क्या लक्षण हैं और उसका क्या रहस्य है?

उत्तर—

अन्तलक्ष्यबहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।
सा भवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वातन्त्रेषु गोपिता।।

अर्थात् जिसमें अन्तर्लक्ष्य और बाह्यदृष्टि रहे तथा जो पलकों के खुलने और मुदने से रहित हो वही सम्पूर्ण शास्त्र में छिपी हुई शाम्भवी मुद्रा है। सबका निषेध करके निषेधावधिभूत आकाश को अपने से अलग अनुभव करना ही अन्तर्लक्ष्य है तथा पलक हिले नहीं—यह ध्यान रखना ही बहिर्दृष्टि है।

अथवा—

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्येन्न पश्यन्नपि।
मुद्रेयं खलु शम्भवी भवतु सा लब्धा प्रसादाद् गुरोः
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत् तत्त्वं पदं शाश्वतम्।।

अर्थात् जिसमें मन और प्राण आन्तरिक लक्ष्य में लीन हो जायें तथा दृष्टि के निश्चल होने से बाह्य पदार्थों की ओर दृष्टि होने पर भी वे न दीखें, यही है शाम्भवी मुद्रा। यह गुरुदेव की कृपा से प्राप्त होती है।

इसके द्वारा उस सनातन पद की स्फूर्ति होती है जो शून्य और अशून्य दोनों से विलक्षण है।

प्रश्न— शाम्भवी मुद्रा का विशेष महत्त्व क्या है?

उत्तर—

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्या–
च्चितं स्थिरं यस्य विनावलम्बात्।
प्राणः स्थिरो यस्य विनावरोधात्
स एव योगी स गुरुः स सेव्यः।।

अर्थात् जिसकी दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर हो जाय, चित्त बिना अवलम्बन के स्थिर हो जाय और प्राण बिना रोके ही रुक जायें वही योगी है, वही गुरु है और वही सेवा करने योग्य है।

अर्थात्—

स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम्।
स ब्रह्मा सृष्टिकारी च यो मुद्रां वेत्ति शाम्भवीम्।।

अर्थात् जो शाम्भवी मुद्रा को जानता है वही साक्षात् आदिनाथ (शंकर) है, वही स्वयं नारायण है और वही सृष्टिकर्ता ब्रह्मा है।

संगति— अगले श्लोक में भगवान् अपनी महिमा का परिचय देते हुए उसके ज्ञान से शान्ति की प्राप्ति बतलाते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।२९।।

भावार्थ—मैं सम्पूर्ण यज्ञ और तपों का भोक्ता हूँ, सम्पूर्ण लोकों का महेश्वर हूँ और सम्पूर्ण प्राणियों का सुहृद हूँ—मुझे ऐसा जानकर जीव शान्ति प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या— यह श्लोक भक्तिपरक है, परन्तु युक्ति और प्रमाण से इसे ज्ञानपरक भी लगाया जा सकता है। उक्त अर्थ भक्तिपरक है। किन्तु केवल जानना ही पर्याप्त नहीं है। ऐसा जानने से श्रद्धा होगी, श्रद्धा से अनुराग होगा और अनुराग से शान्ति होगी। यह ध्यान का

विषय है, इसलिए भेदज्ञान समझना चाहिये। अर्थात् भगवान् के ऐश्वर्य का ज्ञान होने पर भक्त को शान्ति प्राप्त होती है। यह वेदान्त का दृष्टिकोण नहीं है, क्योंकि आत्मा में भोक्तृत्व नहीं है, वह अकर्ता अभोक्ता है। अतः ये ईश्वर के लक्षण हैं। ऐश्वर्य-ज्ञान से भगवान् में प्रेम होता है और प्रेम से शान्ति होती है। जो ऐश्वर्यज्ञान बिना प्रेम के होता है वह ज्ञान नहीं भाव है। ज्ञान बल और क्रिया भगवान् की 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' भगवान् की क्रिया तो जीवमात्र को अनुभव होती है। भगवान् के स्वरूप का ज्ञान भक्ति से होता है तथा उनका बल केवल भक्त ही अनुभव करते हैं।

ज्ञानपरक अर्थ—'ज्ञा' धातु का प्रयोग बोध अर्थ में और 'भज्' धातु का प्रयोग भक्ति अर्थ में होता है। यहाँ 'ज्ञात्वा' क्रियापद है इसलए यह श्लोक ज्ञानपरक होना चाहिए। अतः अविद्योपाधिक आत्मा ही जीवरूप में अल्पकर्ता होने से व्यष्टिगत यज्ञ और तपों का भोक्ता है तथा मायोपाधिक आत्मा ही ईश्वर रूप से समष्टिगत यज्ञ और तपो का भोक्ता है। वही सबको सत्ता देने वाला होने से सम्पूर्ण लोकों का महेश्वर है और वही अन्तर्यामीरूप से सब प्राणियों का सुहृद है। वह सबका आत्मा है और आत्मा ही सबके पर-प्रेम का आश्रय है, अतः वही सबका सुहृद है। वह कार्य-उपाधि से जीव है और कारण-उपाधि से ईश्वर है। यदि इन दोनों उपाधियों को त्याग दिया जाय तो अपने इस निरुपाधिक चित्स्वरूप का जो ध्यान करते हैं वे शान्ति प्राप्त कर लेते हैं।

प्रश्न— आपने २७, २८ और २९ ये तीन श्लोक ध्यान के बताये, किन्तु ध्येय क्या है, यह नहीं बताया।

उत्तर— यहाँ श्लोक २७ और २८ में गुप्त रूप से ध्येय बतलाया है। शब्दादि सम्पूर्ण विषयों का त्याग करने पर जो अपना-आप रह जाता है वही ध्येय है।

प्रश्न— ध्येय तो बतलाया, किन्तु यह नहीं बतलाया कि वेदान्ती का ध्यान क्या है? क्योंकि सबका निषेध करने पर तो वह स्वयं ही रह जायगा, फिर ध्यान किसका करेगा?

उत्तर— वेदान्ती ध्यान कब करता है। सब ध्यान छोड़ देना ही वेदान्ती का ध्यान है, सब प्रकार का स्मरण छोड़ देना ही वेदान्ती का स्मरण है तथा सारा प्रपञ्च वेदान्ती का मनोराज्य है। वह केवल अपने मनोराज्य को शान्त करता है, यही उसका ध्यान है। इसका अभ्यास बढ़ने पर शरीर छायावत् प्रतीत होता है। इसलिये शरीर में उसकी आसक्ति नहीं रहती, क्योंकि छाया में कभी किसी की आसक्ति नहीं होती, उसे कोई मारे-पीटे तो दुःख भी नहीं होता।

प्रश्न—आपने कहा था कि सबका निषेध करने पर अपना-आप शेष रह जायगा और यही भाव 'नेति-नेति' इत्यादि वाक्य का भी है। तो क्या यही ज्ञान है?

उत्तर— सबका निषेध करने पर तो संसार के आधार का ज्ञान होता है यह तो सर्वाभाव में स्थिति है। यह परमपद नहीं है। इसे तो कारणब्रह्म कहते हैं। आत्मा तो कार्य-कारण दोनों से परे है। परन्तु उपासकों की दृष्टि आधार-अधेय तक ही रहती है। आधार रहने पर तो सृष्टि भी रहती है। हाँ अधिष्ठानदृष्टि होने पर सृष्टि नहीं रहती। इसलिये ज्ञान किसी को होता नहीं, ब्रह्म तो बोधस्वरूप है। उसे बोध क्या होगा। और जीव या चिदाभास अल्पज्ञ है। इससे निश्चय होता है कि बोध किसी को होता नहीं और न कोई बोधवान् है। यदि कोई कहता है कि मैं बोधवान् हूँ तो वह धोखे में है, क्योंकि 'मैं बोधवान् हूँ' यह कथन तो चिदाभास के कर्तृत्व-भोक्तृत्व की दृष्टि से होता है। और कर्तृव्य-भोक्तृत्व का वह बाध कर चुका है। जब यह अनुभव हो चुका कि सब मैं ही हूँ तो फिर कहता किससे है। अतः किसी व्यक्ति को तत्त्ववेत्ता कहना नहीं बनता क्योंकि तत्त्व और तत्त्व को जानने वाले तो दो होते हैं और बोध होने पर दो रहते नहीं। इसलिए स्वरूप का ज्ञान होता नहीं, वह तो स्वयं सत्तामात्र है। उसमें जो कर्तृत्व-भोक्तृत्व की भ्रान्ति है उसी की निवृत्ति होती है। अतः अज्ञान की निवृत्ति ही ज्ञान की प्राप्ति कही जाती है। अपना ज्ञान क्या होगा। अपनी सत्ता का ज्ञान तो ब्रह्मा से लेकर चींटीपर्यन्त सभी को है। उसके

लिए 'नेति-नेति'* की क्या आवश्यकता है। 'नेति नेतीति नेतीति' इस श्लोक से स्थूल सूक्ष्म कारण तीनों देह, तीनों काल, तीनों गुण और तीनों अवस्था आदि त्रिपुटियों का निषेध किया है। निषेध के पश्चात् जो बचता है उसे ही 'परम पद' कहा है।

प्रश्न— सबका निषेध करने पर तो अभाव ही रहता है, क्या वही परमपद है?

उत्तर— अभाव परमपद नहीं है, परमपद अभाव का साक्षी है। उसी का निषेध नहीं हो सकता। उसका बोध होने पर यह भी जान पड़ता है कि जिसका निषेध किया जाता है वह भी उसी की दृष्टि का विलास है। इस दृष्टि से जो भी जिसका इष्ट है वही उसका परमपद है। इसीलिए कर्मकाण्ड, उपासना, दान, वैराग्य और ज्ञान आदि जो भी परम पद के साधन है, उन सबको भी परमपद कहा जाता है। जैसे किसी हवेली की सात ड्यौढ़ियाँ हों तो एक ड्यौढ़ी पार करने पर भी अपने को हवेली के भीतर माना जाता है। किन्तु वास्तव में हम हवेली के भीतर तभी होते हैं जब सातों ड्यौढ़ियाँ पार कर लेते हैं। इसी प्रकार निषेध द्वारा मल-विक्षेप की निवृत्ति हो जाने पर भी आवरण का पर्दा रह जाता है। वह 'तदस्मि' (मैं वह हूँ) इस बोध से निवृत्त होता है। अतः वही वास्तविक परम पद है। अथवा—

न निरोधो न चोत्पत्तिः न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

इस श्लोक के अनुसार जो परमार्थ है वही परमपद है। इसमें तो लय, उत्पत्ति, बद्ध, साधक मुमुक्षु और मुक्त सभी का निषेध किया है।

प्रश्न— इस श्लोक में सबका निषेध करने पर जो रहा उसी को परमार्थ कहा है, सो क्या ठीक है?

उत्तर— नहीं, ये सब तो निषेधपरक वाक्य है। इनका उद्देश्य जिज्ञासुओं को वस्तु का बोध कराना है। यदि निषेध उत्पत्ति, सिद्ध,

*पूरा श्लोक इस प्रकार है—

नेति नेतीति नेतीति शेषितं यत्परं पदम्।
निराकर्तु मशक्यत्वात्तदस्मीति सुखी भवेत्॥

साधक—ये सब उसमें नहीं तो किसमें हैं। ये उसी में तो हैं। वास्तव में सिद्धान्त तो यह है कि अभाव अज्ञान है और भाव उसका कार्य है। निषेध अज्ञान है और विधि अज्ञान का कार्य है। कोई अभाव (निराकार) को सिद्धान्त मानते हैं और कोई भाव (साकार) को सिद्धान्त मानते हैं। उनसे आगे कोई बढ़ता है तो समष्टि–साक्षी और व्यष्टि साक्षी को परमार्थ मानता है। इसलिये जो विधिका पक्ष लेता है वह भी अज्ञानी है और जो निषेध का पक्ष लेता है वह भी अज्ञानी है। तथा जो ऐसा अनुभव करता है कि विधि भी मेरा स्वरूप है और निषेध भी मेरा स्वरूप है वही बोधवान् है। सारी बात तो यह है कि चाहे सम्पूर्ण शास्त्र पढ़ लो परन्तु जब तक महापुरुषों के चरणों का आश्रय नहीं लोगे तब तक विधि या निषेध में ही अटके रहोगे।

प्रश्न— सबसे श्रेष्ठ अभ्यास कौन-सा है?

उत्तर— पहले यह अभ्यास करे कि सृष्टि है नहीं, यदि है तो मेरा मनोराज्य है। इसके दृढ़ होने पर यह अभ्यास करें कि यह सब शून्य है। इसके भी दृढ़ होने पर शब्दादि या सुख–दुःख की सन्धि में स्थिति करे। ऐसा करने से समाधि हो जायेगी। यदि मनोराज्य और सृष्टि की सत्ता नहीं तो आप ही आप हैं। यही ब्रह्माभ्यास है और यही विचार है। जो समझ गया सो समझ गया और जो रह गया सो रह गया।

प्रश्न— गूढ़ तत्व क्या है?

उत्तर— आत्मा छिपाने की वस्तु नहीं है, क्योंकि वह स्वयं हैं। तथा आत्मा दिखाने की वस्तु नहीं है, क्योंकि वह स्वयं है। अतः आत्मा को देखा नहीं जाता, यही ज्ञान है। चिन्तन के समय असंगता की ही भावना करे। अनात्मचिन्तन का न रहना ही आत्मचिन्तन है और यही ध्यान है। संसार की विस्मृति और परमात्मा की स्मृति एक साथ होती है यही गूढ़ तत्व है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
कर्म–संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥५॥

ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

अथ षष्ठोऽध्यायः

CHAPTER 6

संगति— पाँचवें अध्याय के २७ वें श्लोक से ध्यानयोग का वर्णन आरम्भ हुआ है। उसीका विशेष रूप से वर्णन छठे अध्याय के श्लोक १३,१४ में हुआ है। उसीके लक्षण, पद्धति और फल का वर्णन करने के लिये अब छठा अध्याय आरम्भ करते हैं। जो भगवत्प्रीत्यर्थ निष्काम भाव से श्रौत–स्मार्त्त कर्म करके शुद्धान्तकरण हो गया है। वही इस योग का अधिकारी है। वही श्रवणादि के द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त करता है। अतः मुमुक्षु को श्रद्धाभक्तिपूर्वक वैदिक कर्म और भगवद्भक्ति में तत्पर रहना चाहिये। जिसने वेद–वेदान्तों का अध्ययन और निष्कामभाव से कर्म एवं उपासना का अनुष्ठान किया है, वास्तव में वही संन्यास का अधिकारी है। जिसे स्त्री–पुत्रादि कुटुम्बियों से मिलने की स्वप्न में भी रुचि नहीं होती ऐसा जिज्ञासु ही संन्यास का अधिकारी है और वही वास्तव में योगी है। जिसकी कभी किसी पाप में प्रवृत्ति नहीं होती ऐसा जिज्ञासु ही योगी है, भले ही वह गृहस्थ हो।

पञ्चम अध्याय में भगवान् ने अपना स्वरूप बतलाया। अब अपनी प्राप्ति का साधन बतलाते हैं—

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥१॥

भावार्थ— जो कर्मों के फल में आसक्ति न रखकर अपने कर्त्तव्य कर्म करता है वह संन्यासी है और वही योगी है। अग्नि या कर्म का त्याग करने वाला नहीं।

व्याख्या— यहाँ 'निरग्नि' शब्द में कर्मकाण्ड का त्याग कहा गया है, क्योंकि कर्मकाण्ड में अग्नि को साक्षी किया जाता है। 'निष्क्रिय' शब्द से तात्पर्य है अपने देहनिर्वाह के लिये कोई क्रिया न

करे, भिक्षा माँगकर खाये। ये दोनों विशेषण संन्यासी के लिये हैं। परन्तु वास्तव में निरग्नि और निष्क्रिय तो आत्मा ही है। यहाँ निष्काम कर्म की स्तुति की गई है, संन्यास की निन्दा नहीं है।

प्रश्न— योगी और संन्यासी तो निवृत्तिनिष्ठ ही हो सकता है, फिर भगवान् गृहस्थों को योगी और संन्यासी क्यों कहते हैं?

उत्तर— भगवान कहते हैं कि वासनाओं को त्यागने वाला ही योगी और संन्यासी है, केवल कपड़ा रँगने वाला नहीं।

संगति— अगले श्लोक में बताते हैं कि बिना संकल्पों का त्याग किये कोई योगी नहीं हो सकता।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।।२।।

भावार्थ— पाण्डुपुत्र! जिसे संन्यास कहते हैं उसी को तुम योग जानो, क्योंकि संकल्पों का संन्यास (त्याग) किये बिना कोई योगी नहीं हो सकता।

व्याख्या— कर्म करते हुए भी कुछ न चाहना यही संकल्पों का त्याग है। इसमें तथा इससे पहले श्लोक में गृहस्थ तथा संन्यासी का कोई भेद नहीं रखा है, क्योंकि जिस स्थिति को संन्यासी प्राप्त होता है उसी को काम्य कर्मों को त्यागकर निष्कामभाव से कर्त्तव्य कर्म करने वाला गृहस्थ भी प्राप्त हो सकता है। संकल्प त्याग करने के लिये तो विवेक की आवश्यकता है और वैराग्य निष्काम कर्म से होता है। इसीलिए यहाँ निष्कामकर्म की प्रशंसा की गयी है। वास्तव में ध्येय तो वैराग्य ही है। विषय से वैराग्य हुए बिना गृहस्थ या विरक्त किसी का भी साधन पथ में प्रवेश नहीं हो सकता। सकाम कर्म से न तो किसी को शान्ति हुई है न होगी।

संगति— अब जिज्ञासु और जीवन्मुक्त के कर्म कहते हैं—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।३।।

भावार्थ—योगारूढ होने की इच्छा वाले मुनि के लिये निष्काम कर्म ही करना कहा है और जो योगारूढ़ है उसके लिये शम ही कर्त्तव्य कहा जाता है।

व्याख्या— 'मुनि' बोधवान् को कहते हैं। परन्तु यहाँ जिज्ञासु को ही मुनि कहा है, क्योंकि उसका ध्येय भी ज्ञानप्राप्ति ही है। निष्काम कर्म तथा निष्काम उपासना से अन्तःकरण शुद्ध होकर जिज्ञासा होती है और तब महावाक्य द्वारा ज्ञान होता है। जिज्ञासा होने पर आगे ज्ञान तो हो ही जायगा, अतः वह भावी (भविष्य में होने वाला) मुनि ही है। इसी से उसे 'मुनि' कहा है। बोध या भगवत्साक्षात्कार शुद्ध अन्तःकरण वाले को ही होता है, केवल शास्त्रादि अध्ययन करने वाले को नहीं। किन्तु जिसे बोध प्राप्त हो गया है उसे कर्म करने की आवश्यकता नहीं हैं, क्योंकि कर्म तो बोध प्राप्ति के लिये ही किये जाते हैं। हाँ, वह लोकसंग्रह के लिये भले ही कर्म करे।

'शम' शब्द का अर्थ है नाम-रूप का बाध करके आत्मा में स्थित होना। 'शम' शब्द समाधि का वाचक है अतः निरन्तर आत्मकारवृत्ति रखना ही शम है। ऐसे महापुरुष की चलते-फिरते, खाते-पीते निरन्तर शान्तवृत्ति रहनी चाहिये।

इसका तात्पर्य यह है कि तत्त्ववेत्ता सदा निवृत्तिपरायण ही होते हैं, बोध होने पर शम की ही मुख्यता रहती है। इसमें श्रुति-स्मृति सभी एक मत हैं। कहा भी है—

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो यतिः।
न वाक्चपलश्चैव शिष्टस्यैतद्धि लक्षणम्॥

अर्थात्— यति के हाथ, पैर, नेत्र कुछ भी चंचल नहीं होने चाहिये और न वाणी ही चंचल होनी चाहिये। यही शिष्ट पुरुष का लक्षण है।

संगति— अब अगले श्लोक में यह बतलाया जाता है कि जिज्ञासु यह कब समझे कि वह योगारूढ़ हो गया।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।४।।

भावार्थ— जब सम्पूर्ण संकल्पों का त्याग करने वाला जिज्ञासु इन्द्रियों के शब्दादि विषयों में तथा अपने वर्णाश्रमोचित कर्मों में आसक्त नहीं होता तब वह योगारूढ कहा जाता है।

व्याख्या— जिसे ब्रह्माकारवृत्ति के बिना चैन नहीं पड़ता, जिसकी किसी भी पदार्थ में सत्यत्व-बुद्धि नहीं है, भले ही दृश्य की प्रतीति होती रहे परन्तु जिसकी उसमें आसक्ति नहीं होती, ऐसा पुरुष ही योगारूढ बोधवान् या विद्वान् कहा जाता है। श्रुति कहती है– 'बिजानन विद्वान् भवते नातिवादी' अर्थात् विद्वान् जानते हुए भी वाद-विवाद नहीं करता।

संकल्पों का त्याग तो निर्विकल्प समाधि में भी होता है, परन्तु सम्पूर्ण संकल्पों का अत्यन्ताभाव तो बोधवान् को ही होता है। जो संसार में डूबा हुआ है उसे मोक्ष का साधन ही कर्तव्य है। अतः अगले दो श्लोकों में मुमुक्षु के कर्तव्य बताये जाते हैं।

संगति— आगे के दो श्लोक पुरुषार्थवाद का समर्थन करते हैं। उनमें यह बताया गया है कि जो गुरु और शास्त्र के अनुसार आचरण करता है उसी का उद्धार होता है। अतः सर्वदा आत्मोद्धार का प्रयत्न करता रहे–

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।५।।

भावार्थ— आत्मा (जीव) का उद्धार आत्मा (मन) से करे। आत्मा (जीव) का पतन न होने दे, क्योंकि [गुरु और शास्त्र के अनुसार चलने पर] आत्मा (मन) ही आत्मा (जीव) का बन्धु है और [अशुभ कर्म करने पर] आत्मा ही आत्मा का शत्रु है।

व्याख्या— स्त्री-पुत्रादि के लालन-पालन में लगा रहना ही यहाँ आत्मा का पतन है और इसी को अवसादन कहा है। अतः जिस मन ने इन्द्रियों को जीत लिया है वह मन ही आत्मा का बन्धु है और

आत्मा में प्रेम न करने पर मन ही आत्मा का शत्रु है। इसी को अगले श्लोक में स्पष्ट करते हैं–

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥६॥

भावार्थ– जिसने आत्मा (विवेकयुक्त मन) से आत्मा (देह और इन्द्रियों) को जीत लिया है वह आत्मा (मन), आत्मा (जीव) का बन्धु है और देह-इन्द्रियादि अनात्म पदार्थों में प्रेम हो जाने पर उनके अनुसार चलने वाला आत्मा (मन) शत्रु के समान शत्रुभाव में वर्तता है।

व्याख्या– मन ही अनात्मा में आसक्त होने पर शत्रु के समान आचरण करता है, क्योंकि ये देह और इन्द्रियाँ ही आसक्ति होने पर जीव के बन्धन के कारण हैं। और जिसने इस कार्यकरणसङ्घात को जीत लिया है वह शान्त मन ही जीव का बन्धु है। कहा भी है–'मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।' 'आत्मा' शब्द का प्रयोग जीव, मन, बुद्धि, इन्द्रिय और देह आदि कई अर्थों में होता है। प्रसङ्गवश जो अर्थ लगे वह ले लेना चाहिये।

देह एंव इन्द्रियादि का अनुसरण करनेसे मन जीव का शत्रु हो जाता है। जिज्ञासु को बाह्य विषयों से वैराग्य करना ही अच्छा है। बाह्य प्रवृत्तियों से बचने के लिये विवेक, वैराग्य और सत्सङ्ग ही प्रधान साधन हैं। परन्तु शमादि दैवीसम्पत्ति के बिना केवल विवेक वैराग्य से भी काम नहीं चलेगा। इस प्रकार इस श्लोक से यह निश्चय हुआ कि जीव के सुख-दुःख का कारण उसका मन ही है।

प्रश्न– मन कैसे रुके?

उत्तर– नियम का पालन करने से। आरम्भ में मन ठहरना बहुत कठिन होता है। परन्तु मानसिक जप और पूजा का अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ने से तथा प्रभु की लीलाओं का चिन्तन करनेसे भगवान् में अनुराग होता है और अनुराग होने से मन स्थिर हो जाता है। जज के सामने पेशकार जैसे अनेकों आवेदन प्रस्तुत करता है, परन्तु निर्णय

तो जज ही करता है, इसी प्रकार मन पेशकार है और बुद्धि निर्णायक जज है। होता वही है जो बुद्धि करती है। इसलिए मन के इधर-उधर भागने से भी कोई हानि नहीं। निरन्तर भजन करता रहे, क्योंकि ऐसा नियम है कि जो काम अधिक समय किया जाता है उसी में मन को लगाना पड़ता है। इसलिए नियमनिष्ठा अत्यन्त आवश्यक है। परमात्मा भी नियम से प्रसन्न होते हैं। विष्णुसहस्रनाम में तो 'नियम' भगवान् का एक नाम भी आया है, यथा-

अपराजित: सर्वसहो नियन्ता नियमो यम:

(श्लो० १०५)

संगति—अब अगले चार श्लोकों में योगारूढ के लक्षण कहते हैं—

जितात्मान: प्रशान्तस्य परमात्मा समाहित:।
शीतोष्णसुखदु:खेषु तथा मानापमानयो:।।७।।

भावार्थ— मन को जीतने वाले, शान्तचित्त पुरुष का अन्त:करण शीत-उष्ण, सुख-दु:ख और मान-अपमान आदि द्वन्द्वों में भी शान्त रहता है।

व्याख्या— जो जितात्मा है अर्थात् जिसने कर्मेन्द्रिय-ज्ञानेन्द्रिय और अन्त:करण के सङ्घातरूप इस शरीर को जीत लिया है तथा जो प्रशान्त है—अध्यस्त वस्तुओं का अत्यन्ताभाव देखने के कारण जिसका चित्त शान्त है उसी का परमात्मा (अन्त:करण) समाहित होता है अर्थात् उसके हृदय में परमात्मा स्थिर हो जाता है। अथवा जो जितात्मा होगा वही प्रशान्त होगा और उसी के लिये शीतोष्णादि द्वन्द्व समान होंगे तथा उसीमें विपरीत समय का अभाव होगा। विपरीत प्रत्यय (अनात्मा में आत्म-बुद्धि) अभ्यास से दूर होती है और तभी जितात्मा होता है। जिसका चित्त अपने में लगा है वही शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहन कर सकता है तथा अनात्म वस्तुओं से असंग होने पर जीव ही ब्रह्म है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥८॥

भावार्थ— जो ज्ञान-विज्ञान से तृप्त चित्त है तथा कूटस्थ और जितेन्द्रिय है वह योगी युक्त (सिद्ध या जीवन्मुक्त) कहा जाता है। उसकी दृष्टि ढेले, पत्थर और सुवर्ण में समान होती है।

व्याख्या— ज्ञान शास्त्र-ज्ञान को कहते हैं और विज्ञान अनुभवजनित ज्ञान है। गुरु और शास्त्रवाक्यों से ऐसा विश्वास कर लेना कि केवल आत्मा ही सत्य है ज्ञान कहलाता है तथा स्वरूप से भिन्न और कुछ नहीं है—ऐसा करामलकवत् अनुभव हो जाना विज्ञान है। जो सब प्रकार विपरीत परिस्थितियों में भी अपने स्वरूप से विचलित न हो उसे कूटस्थ कहते हैं। निरन्तर ब्रह्माकारवृत्ति रहने के कारण जिसकी अनात्म-बुद्धि नहीं होती तथा बड़े से बड़ा सुख या दुःख उपस्थित होने पर भी जिसकी देह-दृष्टि नहीं होती वही योगारूढ या युक्त है और वही समदर्शी हो सकता है।

संगति— अब अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि ऐसे महापुरुष की व्यवहार करते हुए भी समदृष्टि रहती है। परन्तु वह है बहुत कठिन, क्योंकि बड़े-बड़ों में भी पक्षपात रहता है— 'भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः।'

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥९॥

भावार्थ— सुहृद, मित्रा, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुओं में तथा साधु और पापियों में भी जिसकी समान बुद्धि है वही श्रेष्ठ है।

व्याख्या— जो अपना उपकार तो करे, किन्तु बदला न चाहे वह 'सुहृद्' है। जिसकी अपनी गुप्त से गुप्त बात का आदान-प्रदान हो सके तथा खान-पान में भी किसी प्रकार का संकोच न हो वह 'मित्र' है। जो सामने अथवा पीछे अपनी हानि ही चाहे और हानि ही करे वह 'शत्रु' कहलाता है। दो के विवाद या निग्रह में जो किसी का पक्ष

नहीं लेता, केवल तटस्थ द्रष्टा रहता है उसे 'उदासीन' कहते हैं। जो दो के पारस्परिक विवाद को न्यायपूर्वक निबटा दे वह 'मध्यस्थ' कहा जाता है। जिसके कटु व्यवहार के कारण चित्त में क्षोभ होता रहे वह द्वेष्य है। जो प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखकर हमारा हित ही हित करे वह 'बन्धु' कहा जाता है। जो आजीवन नियम का निर्वाह करे तथा दूसरों का कार्य साधे वह 'साधु' है। जो निरन्तर पाप कर्म करता रहे वह 'पापी' है।

इन सबमें जिसकी समबुद्धि है वह श्रेष्ठ है। कहीं 'विशिष्यते' के स्थान में 'विमुच्यते' पाठ भी मिलता है। अर्थात् ऐसा समबुद्धि मुक्त हो जाता है। समबुद्धि वह है जो सबको एक सत्ता में देखता है; अर्थात् जो सबको अपना स्वरूप ही समझता है। यही उसकी विशेषता है कि वह इन सबको आकाश में गन्धर्व नगर के समान असत् तुच्छ और मायिक देखता है; अथवा स्वरूपदृष्टि से सबको सच्चिदानन्द-स्वरूप ही अनुभव करता है।

जैसे पत्थर की वटिया में शालग्राम-बुद्धि होती है अथवा किसी को धर्म की माता या बहिन मान लेने पर उसमें मातृत्व या भगिनीत्व की भावना होने के कारण फिर विकार नहीं होता, उसी प्रकार सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो जाने के कारण फिर द्वेषादि नहीं होते।

समबुद्धि ज्ञानी या प्रेमी इन दो की ही हो सकती है। प्रेमी का चित्त एक में लग जाता है और बोधवान् सबका बाध कर देता है, इसलिये इनकी विषम-बुद्धि नहीं होती।

इन दो श्लोकों में जीवन्मुक्ति के अन्तरंग साधन कहे गये हैं, क्योंकि इन्हें कोई देख नहीं सकता। ज्ञाननिष्ठा तो स्वसंवेद्य है। तत्त्ववेत्ता को स्वयं ही उसका अनुभव होता है। अब अगले श्लोक में बाह्य त्याग बतलाते हैं, क्योंकि बाह्य त्याग के बिना अन्तरंग साधन नहीं हो सकते। अगले श्लोक में कहे हुए चार साधन विद्वत्संन्यासी के लिये हैं, क्योंकि विविदिषासंन्यासी तो बोध होने तक गुरुदेव के पास ही रहेगा।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।१०।।

भावार्थ— योगी सब प्रकार की आशा त्यागकर तथा [कौपीन-कन्थादि के अतिरिक्त] सब परिग्रह छोड़कर अकेला ही एकान्त स्थान में रहकर तथा मन और शरीर का संयम करके चित्त को निरन्तर आत्मा में लगाता रहे।

व्याख्या— यहाँ जो 'निराशीः' शब्द आया है वह ध्यान का सूचक है। ध्यान के प्रसंग में यह शब्द कई बार आया है। योग के जो अनेक द्वार बताये हैं उनमें 'निराशीः' भी एक द्वार है। कहा भी है—

योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ्निरोधोऽपरिग्रहः।
निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तशीलता।।

अर्थात्—'गोपश्वादिवद्वङ् निरोधः' इस सूत्र के अनुसार वाणी का संयम, अपरिग्रह, निराशा निश्चलता और सर्वदा एकान्तसेवन—ये योग के प्रथम द्वार हैं। एक अन्य स्थान में कहा है—

एकान्तवासो लघुभोजनादि मौनं निराशा करणावरोधः।
मुनेरसोः संयमनं षडेते चित्तप्रसादं जनयन्ति शीघ्रम्।।

अर्थात् एकान्त में रहना, अल्पाहार, मौन, निराशा, इन्द्रियनिग्रह और प्राणायाम—ये छः साधन मुनि को शीघ्र ही अन्तःकरण का प्रसाद प्राप्त करा देते हैं।

जिसमें ये गुण नहीं होंगे वह ध्यान कर ही नहीं सकता। यह नियम है कि जिस आशा को लेकर अभ्यास किया जायगा वह अवश्य फलीभूत होगी। किन्तु उससे ध्यान में विघ्न उपस्थित हो जायगा। इसलिये आशा का त्याग ध्यानाभ्यास के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

जो एकाकी, यतचित्तात्मा, निराशी और अपरिग्रही होगा वह अवश्य योगी हो जायगा। योगी दो प्रकार के होते हैं—युञ्जान और युक्त। युञ्जान साधक होते हैं और युक्त सिद्ध।

अब अगले श्लोक में आसन का वर्णन करते हैं—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।११।।

भावार्थ— पवित्र स्थान में अपना निश्चल आसन स्थित करे, जो न अधिक ऊँचा हो न अधिक नीचा तथा जिस पर उत्तरोत्तर कुशा मृगचर्म और वस्त्र बिछाये हुए हों।

व्याख्या— पवित्र स्थान—वह जो स्वभाव से ही स्वच्छ हो, झाड़-बुहार कर लीपा गया हो तथा नदी-तट गुहा या अपने घर में ही कोई एकान्त कमरा हो और जिसमें स्त्री बालक या मूर्ख न जाते हों। आसन न अधिक ऊँचा हो न अधिक नीचा। उस पर पहले कुशा, फिर मृगचर्म और फिर वस्त्र बिछावे। वस्त्र इस प्रकार बिछाया जाय कि वह पृथ्वी को स्पर्श न करे, आसन के ऊपर ही रहे, क्योंकि ऐसा होने पर शरीर की शक्ति पृथ्वी से आकर्षित नहीं होगी। परन्तु यह नियम वानप्रस्थ और ब्रह्मचारी के लिये ही है, यति तो अपनी गुदड़ी पर बैठकर अभ्यास कर सकता है। उसके लिये मृगचर्म निषिद्ध है, क्योंकि संन्यासी अहिंसा की मूर्ति होता है और मृगचर्म में कुछ न कुछ अंश हिंसा का रहता ही है। गृहस्थ को तो कम्बल या कुशासन का ही प्रयोग करना चाहिए।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।१२।।

भावार्थ—उस आसन पर बैठकर साधक मन को एकाग्र कर, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को रोककर आत्म-शुद्धि के लिये योग करे।

व्याख्या— यहाँ चित्त की एकाग्रता का प्रसंग है, इसलिये आत्मशुद्धि का अर्थ यहाँ अन्तःकरण की शुद्धि नहीं, अपितु आनात्म वृत्ति को निःशेष कर देना है। अथवा बोध होने पर भी जो नाम-रूप की प्रतीति होती है उसको दूर करके जीवन्मुक्ति के विलक्षण सुख के लिये ध्यानस्थ होना है। ध्यान का प्रकरण निवृत्ति-निष्ठों के लिये है, क्योंकि श्लोक १० में इसका सतत अभ्यास करने तथा निराशी और

अपरिग्रही होने के लिए कहा गया है। इन नियमों का पालन प्रवृत्ति-मार्गियों के लिये कठिन है।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।१३।।
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।।१४।।

भावार्थ— शरीर सिर और ग्रीवा को एक-सीध में रखकर उन्हें अचल और स्थिर रखे, अपनी नासिका के अग्र-भाग पर दृष्टि रखे, इधर-उधर न देखे, पूर्णतया शान्त-चित्त और निर्भय रहे तथा ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित रहे। इस प्रकार चित्त को निग्रह कर मेरे में चित्त रखकर मेरे परायण हुआ योग में स्थित रहे।

व्याख्या— जिस नासिका की नोंक को हम नासिकाग्र समझते हैं वह तो नाक है। अग्रभाग तो दोनों भौहों के बीच में है, जहाँ से नासिका आरम्भ होती है।

प्रश्न— तो क्या नासिकाग्र को ही देखता रहे? यही इष्ट की प्राप्ति है।

उत्तर— यह तो दृष्टि को स्थिर करने के लिये है, जिससे दृष्टि इधर-उधर न जाकर अपने लक्ष्य में लगी रहे।

इस श्लोक से 'अचल' शब्द शरीर के लिये और 'स्थिर' शब्द दृष्टि के लिये प्रयोग किया गया है। अथवा 'अचल' शब्द का प्रयोग आसन के लिये और 'स्थिर' शब्द का प्रयोग शरीर के अंग हाथ-पाँव आदि के लिये समझना चाहिये। यह ध्यान का बहिरंग साधन कहा, अब अन्तरंग साधन बतलाते हैं।

योगी प्रशान्तात्मा—शान्त अन्तःकरण वाला, भय से रहित और ब्रह्मचर्य में स्थित होना चाहिये। मन को सब और से हटा कर मुझमें ही लगा दे। उसमें राग-द्वेष उठते ही नहीं, क्योंकि दृश्य का अत्यन्ताभाव हो चुका है। शान्त तो अन्य पुरुष भी हो सकते हैं, किन्तु प्रशान्त तत्त्ववेत्ता ही होता है। कर्मकाण्ड का भय संन्यास के सिवा और

किसी आश्रम में निवृत्त नहीं होता, अतः संन्यासाश्रम ही निर्भय है। यहाँ जो ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित रहने को कहा है वह केवल स्त्री-सहवास त्यागने की दृष्टि से नहीं कहा। यह प्रकरण संन्यासी और योगी का है। स्त्री-सेवन तो संन्यासी करता ही नहीं। केवल भिक्षा के समय ही वह माताओं के सम्पर्क में आता है, अतः संन्यासी के लिए जो पाँच[1] प्रकार की भिक्षा विहित है उसमें से भी चार को छोड़कर केवल माधुकरी का व्रत ले। उसमें जो मिले उसी से उदर-पूर्ति करे। पेट भरने से बचे हुए अन्न को कहीं सुरक्षित स्थान में टाँग दे। या गंगाजी की रेती में गाढ़ दे। दूसरे दिन पहले उस अन्न को ग्रहण करे। अथवा बचे हुए अन्न को रखता जाय। यदि एक दिन का अन्न एकत्रित हो जाय तो उस दिन भिक्षा को न जाकर उसी को काम में लावे।

प्रश्न— ऐसा सुना जाता है कि भिक्षा पाँच या सात घरों से माँगनी चाहिये।

उत्तर— जब तक पेट न भरे माँगता रहे, चाहे सौ घरों में जाना पड़े।

प्रश्न— भजन करने वाले को भोजन दिन में एक बार करना चाहिये या दो बार।

उत्तर— यदि एक बार भोजन करनेसे भजन अच्छा होता है तो एक बार, दो बार करनेसे अच्छा हो तो दो बार और दो दिन में एक बार करने से अच्छा हो तो दो दिन में एक बार करना चाहिये, क्योंकि हमारा लक्ष्य भोजन नहीं भजन है।

अथवा प्रत्येक इन्द्रिय का जो अपने-अपने विषय से सम्बन्ध है वही भोग है। अतः पाँचों इन्द्रियों को जीत लेना ही ब्रह्मचर्य

---

[1] **माधूकरमसंक्लृप्तं प्राक्प्रणीतमयाचितम्।**
तात्कालिकं चोपपन्नं च भैक्ष्यं पञ्चविधं स्मृतम्।।

बिना संकल्प की हुई माधूकरी, प्राक्प्रणीत (निमन्त्राण) अयाचित (अजगरवृत्ति), तात्कालिक (माधूकरी के समय किसी एक घर में ही भिक्षा पा लेना) और उपपन्न (पूर्व सूचना के बिना भिक्षा के समय कुटी पर आया हुआ अन्न)—यह पाँच प्रकार की भिक्षा है।

है। अथवा जो आठों प्रकार के मैथुनों से बचा हुआ है वही ब्रह्मचर्य है। भगवान् मनु ने आठ प्रकार के मैथुन बताये हैं—

दर्शन स्पर्शनं केलि रहस्यं गुह्यभाषणं।
सकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च।।

अर्थात् स्त्री को देखना, स्पर्श करना, उसके साथ खिलवाड़ करना, हंसी करना, एकान्त में बात करना, मन में संकल्प करना, सहवास का प्रयत्न करना और उसे क्रिया—रूप में परिणत करना।

अथवा जिसकी इहलोक और परलोक दोनों से तथा दोनों के भोगों से घृणा है तथा भगवान् या आत्मा में अनुराग है वही ब्रह्मचारी है। तथा पूर्ण ब्रह्मचारी तो वही है जिसे इहलोक और परलोक आकाश—कुसुम के समान सत्ताशून्य अथवा स्व—स्वरूप ही जान पड़ें। इसका साधन यही है कि निरन्तर भगवदाकार या ब्रह्माकार वृत्ति करता रहे। धीरे—धीरे सभी अनुभव हो जायगा। परन्तु प्रथम साधन तो यही है कि पाँचो इन्द्रियों से असंग हो जाय।

'मनःसंयम्य'—मैं मन का साक्षी हूँ—ऐसा भाव रखे अर्थात् क्षण-क्षण में आत्माकार वृत्ति करता रहे, क्योंकि ऐसा अभ्यासी अग्निहोत्री को भी पवित्र कर देता है।

'मत्परः'—मेरे में ही निरन्तर चित्त रखे। ऐसा योग ब्रह्मचर्य की स्थिरता हुए बिना नहीं होता, क्योंकि वायु कुपित होने से रोगादि की आशंका रहती है। इसी से ब्रह्मचर्य व्रत में स्थिर रहने को कहा है।

इन्द्रियों का अपने विषयों के प्रति स्वभाव से ही आकर्षण है। इन्द्रियों का आधार प्राण है। अतः विषयों की आसक्ति से छूटने के लिए प्राण को वश में करना चाहिये और इसके लिये ब्रह्मचर्य व्रत अनिवार्य है।

प्रश्न— सभी शास्त्र कहते हैं कि ब्रह्मचर्य ही पुण्य है तथा ब्रह्मचर्य नष्ट करना ही पाप है। किन्तु पाप तो किसी को दुःख पहुँचाने में है। ब्रह्मचर्य न रखने पर तो स्त्री—पुरुष दोनों ही को सुख होता है फिर इसमें पाप क्यों माना जाता है?

उत्तर— संसार में सबसे अधिक आसक्ति स्त्री में ही होती है। और किसी भी अन्य वस्तु में आसक्ति रहे तो आत्मा या परमात्मा में अनुराग नहीं हो सकता। इसलिए ब्रह्मचर्य बहुत आवश्यक है।

ये सब गुण होंगे तभी साधक प्रशान्तात्मा हो सकता है।

संगति— उपर्युक्त श्लोक में जो ध्यान-योग कहा है, अब उसका फल बतलाते हैं –

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥१५॥

भावार्थ— संयतचित्त योगी यदि इस प्रकार मन को आत्मा में जोड़ता रहे तो वह मेरे में रहने वाली निर्वाण-स्वरूपिणी परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या— इस ध्यान-योग में ब्रह्माकार वृत्ति रहती है। यहाँ ध्याता-ध्यान-ध्येय रूपी त्रिपुटी नहीं है, क्योंकि त्रिपुटी तो उपासकों में रहती है यह ध्यान तो ऐसा है कि इसे ध्यान करने वाला ही जान सकता है। इसमें विलक्षणता यह है कि लक्ष्य की आवृति भी होती है तथा ध्याता ध्यान, ध्येय की त्रिपुटी भी नहीं रहती। यहाँ 'युञ्जन्' शब्द का प्रयोग साधक के लिए है और 'योगी' शब्द कोई कर्मयोगी, कोई भक्तियोगी और कोई सांख्ययोगी के लिए करते हैं। वास्तव में तो यहाँ ज्ञानयोगी ही ठीक जान पड़ता है, क्योंकि यहाँ 'निर्वाण' शब्द का प्रयोग हुआ है।

प्रश्न—ज्ञान होने के पश्चात् अभ्यास की क्या आवश्यकता है?

उत्तर— ज्ञान तो चौथी भूमिका में ही हो जाता है। आगे की तीन भूमिकाओं का क्या होगा। इसलिए जब तक शरीर रहे ध्यानादि करता रहे। लोक में जिस प्रकार मित्र-मित्र और पति-पत्नी के पारस्परिक प्रेम की कभी समाप्ति नहीं होती उसी प्रकार भगवान् के प्रति भक्त के प्रेम की तथा बोधवान् के ब्रह्मानन्द की कभी समाप्ति (पूर्णता) नहीं होती। इसलिए इस श्लोक में 'सदा' शब्द का प्रयोग किया है।

'मत्संस्था शान्ति' वह है जिसमें आत्मा से अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की सत्ता नहीं रहती। गाढ़ स्थति, गाढ़ अनुराग, जिसमें कि मेरे सिवा किसी अन्य की प्रतीति न रहे, वही मेरे में स्थिति है। और यही ब्राह्मी स्थिति है।

प्रश्न— आपने चौथी भूमिका के पश्चात् तीन भूमिकाएँ और बतलाईं। इससे सिद्ध होता है कि कुल भूमिकाएँ सात हैं। वे कौन-कौन सी हैं?

उत्तर— ज्ञान की ये सात भूमिकाएँ हैं —(१) शुभेच्छा—ज्ञान प्राप्ति की इच्छा जाग्रत होना। (२) विचारणा— नित्यानित्य विवेक। (३) तनुमानसा— मन का सूक्ष्म हो जाना। (४) सत्त्वापत्ति— सत्वगुण का उद्रेक होकर आत्मज्ञान हो जाना। (५) असंसक्ति— दृश्य का संसर्ग घट जाना। (६) पदार्थाभाविनी— दृश्य की प्रतीति हो जाना। (७) तुर्यगा— आनन्द का भी त्याग करके स्वरूप में स्थिति रहना।

चौथी भूमिका में ज्ञान हो जाता है, इसलिए वह ब्रह्मवित् कहा जाता है। पाँचवीं भूमिका होने पर वह ब्रह्मविद्वर कहा जाता है। छठी भूमिका में ब्रह्मविद्वरीयान् सातवीं भूमिका होने पर वही ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहा जाता है।

प्रश्न— चित्त की पाँच अवस्थाएँ कौनसी हैं और उनका क्या स्वरूप है?

उत्तर— क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध — ये पाँच अवस्थाएँ हैं। इनके लक्षण इस प्रकार हैं —

क्षिप्त—खाने-पीने और सोने आदि में ही लगे रहना।

मूढ़— अकर्मण्यता, स्तब्धता, निद्रा, आलस्यादि में समय बिताना।

विक्षिप्त—कभी भजन में लगना, कभी भजन छोड़कर गृह-कार्यों में लग जाना। इसी प्रकार कभी इधर कभी उधर लग जाना। ये तीनों अवस्थाएँ संसारी लोगों की होती हैं।

एकाग्र— वृत्ति का इष्टाकार हो जाना और संसार का भान न रहना। इसे सविकल्प समाधि की स्थिति कह सकते हैं। इसके शान्त और उदित दो भेद हैं। जब वृत्ति इष्टाकार हो तब शान्त, जब वहाँ से लौट आवे तब उदित समझनी चाहिए।

निरुद्ध— जब वृत्ति शान्त होकर उदित न हो तब उसे निरुद्ध कहते हैं। यह निर्विकल्प समाधि की स्थिति है। ये दोनों अवस्थाएँ योगियों की तुरीयावस्थाएँ हैं।

प्रश्न— योगी, ज्ञानी और भक्त की तुरीयावस्थाओं में क्या अन्तर है?

उत्तर— अपने इष्ट के स्वरूप में वृत्ति लीन होने पर केवल आनन्द का ही भान होता है। वहाँ जाग्रतादि अवस्थाएँ और संसार नहीं रहता। यही प्रमियों की तुरीयावस्था, भाव-समाधि या प्रेम-समाधि है। यह योगियों और प्रेमियों की समाधि या तुर्याधस्थाओं का वर्णन हुआ। किन्तु ज्ञानियों की तुर्यावस्था इन दोनों से विलक्षण होती है। सम्पूर्ण सृष्टि तथा ब्रह्मा-विष्णु आदि को अपने स्वरूप में ही देखना ऋतम्भरा प्रज्ञा है। तथा उससे भी उपराम हो जाना निर्विकल्प समाधि है। सम्पूर्ण व्यवहार करते हुए भी और तीनों अवस्थाओं के रहते हुए भी ज्ञानियों की तुर्यावस्था ही रहती है। अन्य समाधियों की तो परीक्षा हो सकती है, परन्तु ज्ञान-समाधि की कोई परीक्षा नहीं है। मरु भूमि का बोध हो जाने पर जैसे जल की प्रतीति होने पर भी उसमें जल बुद्धि नहीं होती, तथा रज्जु में सर्प और स्थाणु में पुरुष की प्रतीति होने पर भी उनकी सत्ता नहीं जान पड़ती, वैसे ही चराचर दृश्य की प्रतीति होने पर भी वे सत्ताशून्य जान पड़ते हैं। सारे पदार्थ आकाश-कुसुम के समान अलीक दिखायी देते हैं। यही ज्ञानी की तुर्यावस्था है। इसके अतिरिक्त जो ज्ञानी की कोई अन्य तुर्यावस्था मानते हैं वे भूल में हैं।

प्रश्न— आप कहते हैं कि संसार बना रहे और आकाश कुसुम-सा अनुभव हो तो वह तुर्यावस्था ही है। यदि सब कुछ करते हुए भी तत्त्ववेत्ता को तुर्यावस्था प्राप्त है तो वह अभ्यास क्यों करे?

उत्तर— जिसको पूर्ण निष्ठा है और कोई विक्षेप नहीं है उसके लिए मैं कब कहता हूँ कि वह अभ्यास करे। जिसे बोध हो गया है वह तो सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करता और कुछ न करते हुए भी सब कुछ करता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में तो न कुछ हुआ, न होगा और न कुछ है। किन्तु जिसका विक्षेप निवृत्त नहीं हुआ वह अवश्य अभ्यास करे। मेरा तो यह अनुभव है कि विचार के साथ अभ्यास किये बिना शान्ति नहीं मिलती।

संगति— यहाँ तक भगवान् ने ज्ञान निष्ठा, उसके बहिरंग साधन, अधिकारी और उनके लक्षण बतलाये। अब उसके आहार-विहार का वर्णन करते हैं —

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥१६॥

भावार्थ— हे अर्जुन! जो अधिक खाता है अथवा बिल्कुल नहीं खाता [अर्थात् चान्द्रायणादि व्रत करने वाला है।] तथा जो बहुत सोता है अथवा जागता ही रहता है, उसे योग सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या— अभ्यासी के लिये चान्द्रायणादि व्रत का निषेध है। उसे भर पेट भोजन भी नहीं करना चाहिये। आधा पेट खाय और यदि पक्वान्न हो तो चौथाई पेट ही भोजन करे।

संगति— अब अगले श्लोक में यह बतलाते है कि योग किसे सिद्ध होता है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥१७॥

भावार्थ— जो नियमित आहार-विहार करता है, कर्मों में भी जिसकी उपयुक्त चेष्टा है और जो नियमित रूप से ही सोता-जागता है उसे ही यह दुःखहारी योग सिद्ध होता है।

व्याख्या— ऊपर योगसिद्धि का जैसा नियम बताया है उससे विपरीत करने से योग दुःखदायी हो जाता है। इसलिये जो नियम से

योग करते हैं उन्हें वह सुख देने वाला होता है और नहीं तो मनोराज्य ही नियम का उल्लंघन है। अभ्यास-काल में जो दुःख हो जाय उसकी निवृत्ति अभ्यास से ही होती है। यही उसकी औषधि है। 'दुःख' शब्द से यहाँ आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों ताप समझने चाहिये। योग के घातक निम्नांकित दोष है-

अत्याहार प्रयासश्च प्रजल्पो नियमाग्रहः।
जनसंगश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति।।

अर्थात् अधिक आहार, अति परिश्रम, अति भाषण नियम का आग्रह, जनसंसर्ग और लोलुपता-इन छः दोषों से योग नष्ट हो जाता है। तथा-

उत्साहात्साहसाद्धैर्यात् तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात्।
जनसंगपरित्यागात् षड्भिर्योगो प्रशस्यते।।

उत्साह, साहस, धैर्य, तत्त्वज्ञान, निश्चय और जनसंसर्ग का त्याग-इन छः गुणों से योग प्रशंसित होता है।

संगति— अगले श्लोक में योगी का स्वरूप बतलाते हैं-

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।१८।। 6.18

भावार्थ— जिस समय भले प्रकार संयत किया हुआ चित्त सब भोगों की इच्छा छोड़कर आत्मा में ही ठहर जाता है तब उसे युक्त (सिद्ध) कहा जाता है।

व्याख्या—प्रश्न—ऐसा हम कब समझें कि हम पूर्ण योगी हो गये?

उत्तर— जब जगत् तुच्छ असत् और मरुस्थल के जल के समान केवल प्रतीतिमात्रा अथवा अपना स्वरूप ही जान पड़े तब समझना चाहिये कि योग पूरा हो गया। अन्यथा अपने को साधक मानकर निरन्तर अभ्यास करता रहे। चित्त विषयों की ओर न जाय तभी सिद्धि हुई ऐसा समझे।

संगति— अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि सिद्धावस्था आने पर आरम्भ में चित्त कैसा होता है—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।१९।।

भावार्थ— जैसे वायुरहित स्थान में रखे हुए दीपक में कोई हलचल नहीं होती, वही उपमा आत्मयोग का अभ्यास करने वाले संयतचित्त योगी के चित्त की कही गयी है।

व्याख्या— योगी अनेक प्रकार के होते हैं; जैसे—हठयोगी, राजयोगी, भक्तियोगी, लययोगी, सांख्ययोगी और ज्ञानयोगी इत्यादि। परन्तु यहाँ ब्रह्माभ्यास में तत्पर योगी के विषय में कहा जा रहा है। जब उसके चित्त की चिन्मात्र वृत्ति उदित होती है तो उसका चित्त विषयों से चलायमान नहीं होता। जो ऐसा योगारुढ़ महापुरुष है वह स्वयं ही देखने वाला है स्वयं ही दीखने वाला है और अपने आपको ही देख रहा है। वह परमानन्द में मग्न है। ऐसे महापुरुष का लक्षण अगले श्लोक में कहते हैं—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।२०।।

भावार्थ— योग का सेवन करने से जब चित्त अनात्मा से उपराम होकर निरुद्ध होता है तथा जिस अवस्था में वह अपने द्वारा आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करते हुए अपने में ही सन्तु हो जाता है।

व्याख्या— ध्यान संसार से वैराग्य हुए बिना नहीं होता और ध्यान के बिना संसार से उपरामता भी नहीं होती। जब चित्त निरुद्ध हो तभी समझो कि ठीक-ठीक उपरामता हुई।

प्रश्न— यहाँ आपने ध्यान योग के द्वारा प्राप्त होने वाली समाधि का वर्णन किया। इससे पहले अध्याय४ में आपने प्राणायाम द्वारा प्राप्त होने वाली समाधि का वर्णन किया है। इन दोनों में क्या अन्तर है?

उत्तर—समाधि के दो भेद हैं—हठ-समाधि और ध्यान समाधि। हठ-समाधि प्राण की कसरत मात्रा है। उसमें निर्विकल्प अवस्था नहीं होती तथा उससे शान्ति आदि दिव्य गुण प्राप्त नहीं होते। समाधि से उत्थान होने पर वह योगी एक साधरण पुरुष के समान होता है। परन्तु ध्यान-समाधि में चित्त संकल्पशून्य हो जाता है और उत्थान होने पर भी वह दिव्य गुण सम्पन्न देखा जाता है। दीर्घकालीन हठ-समाधि की अपेक्षा भी क्षणभर की ध्यान-समाधि का महत्व सैकड़ों गुना बढ़कर है।

हठयोग का मुख्य लक्ष्य वीर्य की पुष्टि है। इस समय हठ-योग द्वारा पूर्णता पाना प्रायः कठिन है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हठयोग का मार्ग ही भ्रमपूर्ण है और उससे किसी भी समय पूर्णता प्राप्त नहीं होती थी। इस समय इसके जो विपरीत परिणाम होते हैं उनके मुख्य कारण ये हैं–

(१) हठयोगी का वीर्य शुद्ध होना चाहिए, इस समय इसका प्रायः अभाव है।
(२) हठयोगी के अभ्यास को सहन करने योग्य बल प्रायः नहीं देखा जाता।
(३) सिद्ध हठयोगी गुरु मिलना भी दुर्घट है। हठयोगियों में काम-क्रोधादि और चंचलता गृहस्थों से भी अधिक देखी जाती है। ध्यान- समाधि वालों में शान्ति होती है और उनके काम-क्रोध भी शान्त हो जाते हैं।

इसके सिवा ध्यान और वैराग्य की कमी के कारण आधुनिक हठयोगी प्रायः अर्थ-लोलुप और चंचल प्रकृति के देखे जाते हैं। उनके जाल में फँसकर मैंने बहुत से साधकों के जीवन नष्ट होते देखे हैं। इसलिये मेरा विचार है कि अपने कल्याण की इच्छा वालों को इस ओर प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। हाँ, मेरा अनुभव है कि सिद्धासन और शाम्भवी मुद्रा के द्वारा राजयोग से पूर्णता प्राप्त की जा सकती है। यह मार्ग सर्वथा सरल और निरापद है।

एक अन्य दृष्टि कोण से समाधि के तीन भेद किये जा सकते हैं– कार्य-समाधि, कारण-समाधि और शुद्ध-समाधि। कार्य-समाधि सगुणोपासक की होती है, कारण-समाधि निर्गुणोपासक की होती है और शुद्ध-समाधि ज्ञाननिष्ठ की होती है। इनके सिवा ज्ञान-समाधि, ध्यान-समाधि और भाव-समाधि ये तीन भेद भी प्रसिद्ध ही हैं। अपनी-अपनी धारणा के अनुसार समाधियों के अनेकों भेद हो सकते हैं।

ज्ञान-समाधि एक ही बार होती है और वह सर्वदा रहती है। योग-समाधि बार-बार होती है। यहाँ महावाक्यजन्य वृत्ति को ही ज्ञान-समाधि कहा है, क्योंकि इस वृत्ति से पुनः उत्थान नहीं होता। 'दशमस्त्वमसि' इस वाक्य के द्वारा जब निश्चय हो गया कि मैं दसवाँ हूँ तब इससे उत्थान (अन्यथा-ज्ञान) कैसे होगा। इसलिये जिसे तत्त्वज्ञान हो गया है उसको फिर कोई अन्य कर्त्तव्य नहीं रहता। योगी समाधि करता है, इसलिये उपासक है। उसकी दृष्टि में दृश्य की सत्ता रहती है, वह दृश्य को सत्य मानता है और बोधवान् दृश्य को सत्ताशून्य देखता है। योगी और ज्ञानी की समाधियों में यही अन्तर है कि द्रष्टा में स्थिति तो दोनों ही की होती है, परन्तु उत्थान होने पर योगी अपनी सृष्टि को सत्य मानता है और ज्ञानी उसे सत्ताशून्य या स्वस्वरूप अनुभव करता है; क्योंकि–

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥

अर्थात् देहाभिमान के निवृत्ति होने पर जिसने आत्मतत्त्व को भले प्रकार जान लिया है उसका मन जहाँ-जहाँ भी जाता है वहाँ-वहाँ ही उसे समाध्यिों का अनुभव होता है। इसी से कहा है कि बोधवृत्ति एक बार उदित होने पर फिर नष्ट नहीं होती। बस उसी को जाग्रत् रखना चाहिये–यही कर्त्तव्य है और उसी से सहनशक्ति भी आ जाती है।

प्रश्न— समाधि में तो चित्त निरुद्ध रहता है, फिर जहाँ-जहाँ मन जाता है वहाँ-वहाँ समाधि है—ऐसा कहना कैसे युक्ति-संगत हो सकता है?

उत्तर— तत्त्वज्ञ की दृष्टि में मन, मन का व्यापार और इन दोनों को अनुभव करने वाला—ये तीनों तत्त्वत: एक ही हैं। इसीलिये इसे समाधि कहा है। ऐसे महापुरुष को विक्षेप की सामग्री रहने पर भी विक्षेप नहीं होता। वह सम्पूर्ण प्रपंच को देखते हुए भी नहीं देखता, अथवा बोध होने पर उसे पूर्ण शान्ति हो जाती है क्योंकि उसे स्व-स्वरूप से भिन्न और कुछ नहीं दीखता, इसलिये वह प्रत्येक स्थिति में समाधिस्थ ही है। ज्ञानी को समाधि और उत्थान दोनों ही स्थितियों में प्रपंच का अत्यन्ताभाव जान पड़ता है किन्तु योगी तो दृश्य को सत्य मानता है, इसलिये समाधि में अभाव हो जाने पर भी व्युत्थान में उसे प्रपंच सत्य ही जान पड़ता है।

प्रश्न— समाधि और सुषुप्ति में क्या अन्तर है?

उत्तर— दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। समाधि सत्त्वगुण की अन्तिम अवस्था है और सुषुप्ति तमोगुण की पराकाष्ठा है। समाधि को हम हजारों वर्ष तक बढ़ा सकते हैं, किन्तु सुषुप्ति इतनी नहीं बढ़ायी जा सकती। सुषुप्ति में जीव माया के वश में रहता है और समाधि में माया जीव के वश में रहती है, जिस प्रकार लड़की बाल्यावस्था में माता-पिता के अधीन रहती है किन्तु तरुण होने पर पति को अपने अधीन कर लेती है, अर्थात् स्वतन्त्र हो जाती है। माया के दो रूप हैं विद्या और अविद्या। विद्यारूप से माया ईश्वर के अधीन रहती है और अविद्यारूप से जीव को अपने अधीन कर लेती है। प्राण सहित प्रपंच का अभाव समाधि है तथा प्राणातिरिक्त प्रपंच का अभाव सुषुप्ति है। प्राण और मन दोनों का लय हो जाना समाधि है तथा केवल मन का लय होना सुषुप्ति है। सुषुप्ति में ध्येय विस्मृत हो जाता है और समाधि में वृत्ति ध्येय में लीन होती है। सुषुप्ति में अज्ञान रहता है और समाधि में ज्ञान की स्थिति मानी गयी है।

सुषुप्ति में न अपने को जानता है न अन्य को, किन्तु समाधि में अपने को तो जानता है, किन्तु अन्य को नहीं जानता।

प्रश्न— द्वैत की प्रतीति तो समाधि, सुषुप्ति और मूर्च्छा तीनों अवस्थाओं में नहीं रहती। फिर इन तीनों में अन्तर क्या है?

उत्तर— जैसे किवाड़ें बन्द हो जाने पर सब दुकानें एक-जैसी जान पड़ती हैं, परन्तु खोलने पर उनकी स्थिति भिन्न-भिन्न होती है। इसी प्रकार इन तीनों अवस्थाओं में यद्यपि दृश्य की अप्रतीति समान-रूप से होती है, परन्तु सुषुप्ति में उसका बीज रहता है तथा ग्रीवा भी झुक जाती है। किन्तु समाधि में ये चिन्ह नहीं होते। पर तुर्यावस्था (तत्त्वदृष्टि) जाग्रतादि चारों अवस्थाओं से विलक्षण है। शरीर, प्राण और मन स्थिर हैं तो समाधि समझनी चाहिये। प्राण तीव्रता से चले और शरीर गिर जाय तो सुषुप्ति समझनी चाहिये तथा प्राण धीरे-धीरे चले और शरीर गिर जाय तो मूर्च्छा समझें। समाधि, सुषुप्ति और मूर्च्छा इन तीनों में प्रपंच की विस्मृति हो जाती है, परन्तु इनमें समाधि की विस्मृति तो पारमार्थिकी है और शेष दो अवस्थाओं की व्यावहारिकी।

प्रश्न— समाधि और जीवन्मुक्ति में क्या अन्तर है?

उत्तर— सुषुप्ति, समाधि और जीवन्मुक्ति—इन तीनों में ही दृश्य की अप्रतीति है। यद्यपि बोध का अप्रतीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। बोध तो वस्तु का निश्चय करना है, उसमें प्रतीति बाधक नहीं है। समाधिमें तो प्रतीति बाधक है परन्तु बोध होने पर दृश्य सत्ताशून्य रह जाता है। ऐसी प्रतीति तो अप्रतीति ही है। यह कोई अवस्था नहीं समाधि आदि तो अवस्थाएँ हैं। ज्ञानियों का तो निर्विकल्प अवस्था को समाधि मानते हैं और उपासक परमानन्द को समाधि कहते हैं।

प्रश्न— सविकल्प और निर्विकल्प समाधि में क्या अन्तर है?

उत्तर— ध्येय पदार्थ उड़ जाय और केवल आनन्द ही आनन्द का अनुभव हो—यह सविकल्प समाधि है। आनन्द को भी त्यागकर

जब केवल आत्मस्थिति हो इसे निर्विकल्प समाधि कहते हैं। परन्तु अभी बोध नहीं हुआ क्योंकि यह आत्मस्थिति है, ब्रह्म-स्थिति नहीं।

प्रश्न— आप कहते हैं कि निर्विकल्प समाधि होने पर भी बोध नहीं होता। किन्तु कोई-कोई तो निर्विकल्प समाधि को ही बोध मानते हैं। क्या यह बात ठीक नहीं है?

उत्तर— यदि समाधि ज्ञान है तो उत्थान को अज्ञान मानना पड़ेगा। फिर ऐसे ज्ञान से क्या लाभ हुआ। वास्तव में बोध का समाधि से कोई सम्बन्ध नहीं है। कहा भी है—

निर्विकल्पस्वरूपात्मा सविकल्पविवर्जित।
सदा समाधिशून्यात्मा आदिमध्यान्तवर्जितः।।

अर्थात्—यह आत्मतत्त्व निर्विकल्पस्वरूप है, सविकल्पताशून्य है, समाधिशून्य है और आदि मध्यान्तर रहित है। जिस समाधि के लिये लोग मरे जाते हैं बोधवान् की दृष्टि में वह मध्यमरीचिका के समान है। यह भी नियम नहीं है कि समाधि बोधवान् को ही हो, क्योंकि समाधि कर्त्ता के अधीन है और बोध वस्तुतन्त्र समाधि तो चित्त की एक अवस्था है, और बोध अवस्थातीत है।

प्रश्न— ज्ञान होने पर भी विक्षेप क्यों दूर नहीं होता?

उत्तर— ज्ञान तो अज्ञान का विरोधी है, विक्षेप का विरोधी नहीं। ज्ञान होने पर चित्त का बाध तो हो जाता है, परन्तु प्रतीति रहती है। प्रतीति की निवृत्ति ज्ञानाभ्यास से होती है। अतः बोध होने पर भी चित्त की शान्ति के लिये ज्ञानाभ्यास करता रहे।

प्रश्न— चित्त की शान्ति और अशान्ति तो दोनों ही दृश्य कोटि में हैं, फिर अभ्यास करने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर— यदि ऐसी स्थिति है तो यही अभ्यास है। सिद्धान्ततः तो विक्षेप और समाधि ज्ञान के बाधक या साधक हैं नहीं। जिसे ऐसा अनुभव है वही बोधवान् है। बोध में प्रधान सहायक तो विचार और एकाग्रता हैं, समाधि आवश्यक नहीं है। एकाग्रता तो तीव्र जिज्ञासा होने पर हो जाती है किन्तु ज्ञान के लिये चित्तनिरोध की आवश्यकता

कोई शास्त्र नहीं बताता। समाधि तो चित्त की ही एक अवस्था है, ज्ञान होने पर तो चित्त की ही सत्ता नहीं रहती। तब समाधि ही कहाँ रहेगी।

प्रश्न— बहुत लोग कहते हैं कि निर्विकल्प समाधि के बिना ज्ञान नहीं होता। क्या यह बात ठीक है?

उत्तर— तत्त्वज्ञान और निर्विकल्प समाधि का कोई सम्बन्ध नहीं है। दृश्य की प्रतीति रहते हुए भी उसे सत्ताशून्य अनुभव करना ही ज्ञान है। तथा प्रतीति न रहे—इसे निर्विकल्प समाधि कहते हैं। समाधि अत्यन्त सुखमयी अवस्था है और तत्त्वज्ञान में सुख-दुःख दोनों की सत्ता नहीं है। समाधि से उत्थान होने पर विक्षेप होता है, किन्तु तत्त्वज्ञान होने पर पुनः अज्ञान नहीं होता। अतः समाधि और ज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है।

संगति— अब अगले श्लोक में उपरोक्त श्लोक की ही पुष्टि करते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥२१॥

भावार्थ— उस समय वह उस आत्यन्तिक सुख का अनुभव करता है जो सूक्ष्म बुद्धि से ग्राह्य होता है और इन्द्रियों से परे है तथा जिसमें स्थित होने पर यह स्वरूप से विचलित नहीं होता।

व्याख्या— आत्यन्तिक सुख—जो सुख विषय-सुख से विलक्षण है। अथवा जो सुख-दुःख दोनों को त्यागकर चिन्मात्र रूप से स्थित होने से मिलता है। जिस सुख को योग में स्थित हुआ पुरुष इस रूप में अनुभव करता है कि इन्द्रियग्राह्य नहीं, अपितु शुद्धबुद्धिग्राह्य है। अध्याय-३[श्लोक-४२] में उसे 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' कहकर बुद्धि से अतीत बतलाया है और यहाँ उसे बुद्धिग्राह्य कहा है। अतः वहाँ व्यावहारिक बुद्धि समझनी चाहिये और यहाँ शुद्धबुद्धि। इस प्रकार जो व्यावहारिक बुद्धि से अतीत है वही शुद्धबुद्धि से ग्राह्य है। यहाँ अभ्यास का प्रकरण है, इसलिये जो निर्विकल्प समाधि का सुख है उसी को बुद्धिग्राह्य कहा गया है। जिस सुख को बुद्धि और इन्द्रियाँ दोनों

ग्रहण करें वह विषयजनित सुख होता है। यहाँ 'अतीन्द्रियम्' विशेषण दिया गया है, इसलिये यह विषय-सुख नहीं हो सकता।

संगति— अगले श्लोक में बतलाते हैं कि इस आत्मप्राप्ति रूप स्थिति को प्राप्त कर लेने पर फिर कुछ और पाने की इच्छा नहीं रहती। इस श्लोक में कहीं हुई स्थिति से उत्थान होने पर उसे कैसा लगता है इसका योगवासिष्ठ में बड़ा सुन्दर प्रसंग दिया है। कच जब सब ओर घूमने पर भी तृप्त नहीं हुआ तब वह अपने पिता वृहस्पति के पास आया। उनसे यह उपदेश सुनकर कि शब्दादि विषयों से वैराग्य हुए बिना ज्ञान नहीं होता और बिना ज्ञान हुए शान्ति नहीं होती, कच को समाधि हो गयी। उससे उत्थान होने पर कच को सम्पूर्ण सृष्टि मरुभूमि में प्रतीत होने वाले जल के समान प्रतीत होने लगी। उसे अनुभव हुआ कि यह सब मेरा ही स्वरूप है। मैं किसे त्यागूँ और किसे ग्रहण करूँ। त्याग-ग्रहण की इच्छा जो अविवेक-काल में होती है, बोध होने पर कर्तृत्व भोक्तृत्व की निवृत्ति होते ही नष्ट हो जाती है, इसलिए बोधवान् में त्याग या ग्रहण नहीं रहते। इस बात की पुष्टि श्लोक में की गयी है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।२२।।

भावार्थ— जिस निरत्तिशय लाभ के प्राप्त होने पर जिज्ञासु उससे बढ़कर कोई और सुख नहीं मानता तथा जिसमें स्थित होने पर बहुत बड़े दुःख से भी [अपनी निष्ठा से] विचलित नहीं होता।

व्याख्या—आत्मा की प्राप्ति होने पर योग-सिद्धि या ब्रह्म लोकादि भी उससे अधिक नहीं जान पड़ते। आत्मानन्द में स्थिति होने पर बड़े से बड़े दुःख से भी विचलित नहीं होता। किसी भी प्रतिकूल परिस्थिति के आने पर वह घबराता नहीं, क्योंकि वह सभी को तुच्छ या मायिक अथवा अपना स्वरूप ही देखता है।

प्रश्न— स्वरूपस्थिति कब समझनी चाहिये।

उत्तर— जिस समय संकल्प होते ही स्वरूप की स्मृति हो जाय। जो ऐसे लक्षण से सम्पन्न है वही वास्तव में योगी है। यहाँ बोध का प्रसंग है। योगी समाधिस्थ होने पर दुःख से चलायमान नहीं होता, परन्तु बोधवान् समाधि न होने पर भी अडिग रहता है, क्योंकि उसकी विवेकवती वृत्ति निरन्तर जगी रहती है। इसलिये सुख-दुःख उसे चलायमान नहीं कर सकते।

संगति— अगले श्लोक में उक्त योग का उल्लेख करते हुए उनका लक्षण और उसकी आवकश्यकता बतलाते हैं।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।२३।।

भावार्थ—दुःख संयोग से शून्य उस स्थिति को तुम योगनाम वाली जानो। ऐसे योग का अनिर्विण्ण (बिना उकताये हुए) चित्त से निश्चय ही अनुष्ठान करना चाहिये।

व्याख्या— संसारी विषयों के साथ जो संयोग है वह योग नहीं, क्योंकि वह परिणाम में दुःखरूप ही है; जैसा कि कहा है—"यत्सुखं साधनाहीनं तत्सुखं दुःखमेव हि" अर्थात् जो सुख किसी सामग्री के अधीन है वह तो दुःख ही है। 'दुःख' शब्द से यहाँ संसारी सुख और दुःख दोनों ही समझने चाहिये। जिसे ये सुख-दुःख प्रभावित नहीं कर पाते वही योगी है। विषादरूप दोष से युक्त चित्त ही निर्विण्ण कहा जाता है। छः महीने अभ्यास किया, किन्तु कोई सिद्धि प्राप्त नहीं हुई तो छोड़ दिया—यही निर्विण्ण-चित्त है। यह ठीक नहीं। अतः योग अनिर्विण्ण चित्त से करना चाहिये। भले ही अनेकों जन्म बीत जायें, कभी तो भगवान् सुनेंगे ही, बस लगा रहे। अर्थात् सफलता न मिलने पर भी अभ्यास छोड़े नहीं। जहाँ सुख-दुःख का वियोग हो जाता है वही वास्तविक योग है। अर्थात् आत्मबोध ही वास्तविक योग है। उस योग का निश्चियपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये। गुरुदेव ने जो लक्ष्य निश्चित किया है उससे हटे नहीं।

संगति— यहाँ तक सांख्ययोग के अभ्यास का प्रसङ्ग था। सांख्य में तो विवेक होने पर ही पूर्णता मानी गयी है। परन्तु वास्तव में यह स्थिति योग से पहले की है। अर्थात् यह जिज्ञासु का अभ्यास है। अब २४ से ३२ वें श्लोक तक बोधवान् के अभ्यास का प्रसङ्ग है। २३ वें श्लोक तक योग-समाधि बतलायी गयी, अब २४ वें और २५ वें श्लोक में ज्ञान-समाधि बतायेंगे। पहले निरोध समाधि का उल्लेख किया था, उसी का अब प्रकारान्तर से वर्णन करते हैं। आगे के तीन श्लोक अद्वैत-वेदान्तनिष्ठा के हैं—

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।।२४।।
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।२५।।

भावार्थ— संकल्प से उत्पन्न हुई समस्त कामनाओं को सर्वथा त्यागकर मन से ही इन्द्रियों को सब ओर से रोककर धैर्ययुक्त बुद्धि से मन को धीरे-धीरे विषयों से हटावे तथा उसे आत्मा में लगाकर फिर कुछ भी चिन्तन न करे।

व्याख्या— चौरासी लाख योनियों में जो अनेक प्रकार के भोग भोगे हैं उनके संस्कार चित्त में अंकित रहते हैं और समय-समय पर प्रकट होते रहते हैं। जैसे श्री शंकराचार्यजी ने आठ वर्ष की आयु में ही अपनी माताजी से कहा था कि मैं संन्यास लूँगा। यहाँ 'सर्वान्' शब्द से प्रकृति के कार्यों का त्याग और 'अशेषतः' से प्रकृति सहित सम्पूर्ण कार्यों का त्याग समझना चाहिये। साथ ही मोक्ष-सम्बन्धी शास्त्रों के अध्ययन की इच्छा का त्याग, मैं प्रतिष्ठित कुल में उत्पन्न हुआ हूँ इस अभिमान का त्याग, इसी प्रकार इहलोक-परलोक के सभी सुख और अष्टसिद्धियों को भी त्यागकर केवल सच्चिदानन्द में ही चित्त की स्थिति रखे। फिर पूर्णानन्द की उपलब्धि होने पर आनन्द को भी त्याग दे। साधु और तीर्थों के दर्शन और शास्त्रश्रवणादि की भी इच्छा न रहे। यही इन्द्रियों को उनके विषयों से रोकना है।

प्रश्न— जब 'सर्वान्' कह दिया तो 'अशेषत:' क्यों कहा? क्या एक विशेषण पर्याप्त नहीं था?

उत्तर— निर्विकल्प समाधि होने पर सब कामनाएँ तो जिज्ञासु की भी शान्त हो जाती हैं, किन्तु नि:शेष अर्थात् उनकी पूर्णतया निवृत्ति बोधवान् की ही होती है क्योंकि फिर उनकी सत्ता ही नहीं रहती। अथवा 'सर्वान्' से ब्रह्मलोक पर्यन्त सम्पूर्ण लोकों का त्याग और 'अशेषत:' से विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर इन लोकाधिपतियों का त्याग समझें।

इन श्लोकों में भगवान् ने यह दिखलाया है कि मन से सब को हटा दिया, अब मन को भी हटाओ। शनै: शनै: हटावे जिससे आलस्य न घेर ले, क्योंकि आरम्भ में कोई भी आलम्बन न रहने पर चित्त को आलस्य घेर लेगा। प्राण रुकने पर मन समाहित होता है और उसमें आनन्द का आविर्भाव होता है। यह सविकल्प समाधि है। उस आनन्द को प्राप्त होते ही न त्याग दे। उसका पूर्ण विकास होने दे, जिससे कि निद्रा और आलस्यादि का आक्रमण न हो। जब आनन्द का इतना विकास हो जाय कि पलक खोलना और मूँदना भी भारी जान पड़े तब उससे भी असंग हो जाय। यही आनन्द से उपराम होना है। अधिक समय हो जाने पर भी साधन को छोड़े नहीं, डटा ही रहे तथा आगे वाले विघ्नों से बचा रहे। आनन्दमय कोश को त्यागना बहुत कठिन हैं इसके लिये बड़े धैर्य की आवश्यकता है। यदि आनन्द को होते ही त्याग देगा तो लय-विक्षेप आदि विघ्न आ जायेंगे। अत: जब पूर्ण सत्त्वगुण बढ़ जाय तभी आनन्द से असंग होने का प्रयत्न करे।

प्रश्न— समाधि के अभ्यास में कौन-कौन विघ्न आते हैं। उनके क्या कारण हैं और उनसे किस प्रकार बचा जा सकता है?

उत्तर— समाधि के मुख्यतया चार विघ्न हैं—लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद। लय दोष अधिक भोजन करने, व्यर्थ विवाद करने, अधिक सोने, अधिक जागने अथवा नशा करने से होता है। इसमें मूढ़ावस्था आ जाती है और अकर्मण्यता घेर लेती है; न इष्ट

का ध्यान रहता है न अपना अनुसंधान तथा न सोता है न जागता है। यही लय दोष है। विक्षेप का कारण असत्य वस्तु में सत्यत्व-बुद्धि और उसमें आसक्ति है। इसमें चित्त का उच्चाटन हो जाता है तथा आगे- पीछे की बातें याद आने लगती हैं। कषाय या शून्यता का कारण अपने चित्त का मोह है। अनेकों जन्मों का अभ्यास होने के कारण मन को भोगों से हटाने पर दुःख होता है। उस समय उस मोहवश उस पर दया करने से ही कषाय दोष आता है। इस अवस्था में राग-द्वेष का चिन्तन होने लगता है और चित्त शून्य-सा हो जाता है। यह स्थिति बड़ी सूक्ष्म है, इससे भली प्रकार सावधान रहना चाहिये। रसास्वादन- इसका कारण अल्प-सुख में ही फँस जाना है तथा उतने से ही अपने को कृतकृत्य मान लेना है। इसमें जो सुख जान पड़े उसमें फँसे नहीं।

उपर्युक्त विघ्नों से बचने के उपाय ये हैं-

लये सम्बोधयेच्चितं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयात् शमप्राप्तं न चालयेत्।।
नास्वादयेत्सुखं तत्र निःसंगः प्रज्ञया भवेत्।
निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकी कुयत्प्रियत्नतः।।

अर्थात् जब लय दोष उपस्थित हो तो चित्त को सचेत करें। उच्च स्वर से जप करे, टहलने लगे या हाथ-मुँह धोले। विक्षेप उपस्थित हो तो चित्त को शान्त करे, इष्टाकार वृत्ति करे। कषाय उपस्थित हो तो उसे भले प्रकार जानने का प्रयत्न करे। इन विघ्नों के निवृत्त होने पर जब साम्यावस्था प्राप्त हो तो उसे विचलित न करे। उस समय चित्त एकाग्र होने से एक विलक्षण आनन्द प्राप्त होगा। उसी को रसास्वाद कहते हैं। उसका जब पूर्ण विकास हो जाय तो उससे असंग हो जाय, उसका आस्वादन न करे। इस प्रकार चित्त को प्रयत्नपूर्वक निश्चल और एकाग्र करे।

प्रश्न— २५ वें श्लोक में कहा गया है कि "न किञ्चदपि चिन्तयेत्" अर्थात् कुछ भी चिन्तन न करे। इससे तो जड़वाद सिद्ध होता है।

उत्तर— इसके साथ "आत्मसंस्थं मनः त्वा" भी तो कहा है; यदि कुछ भी चिन्तन न करे— इसके साथ आत्मसंस्थिति न होती तो जड़वाद सिद्ध हो सकता था। संकल्प की उत्पत्ति शून्य से होती है और शून्य जड़ है अतः संकल्प भी जड़ है इसलिए यहाँ जड़ संकल्प से उपराम होकर चित्त को आत्मस्थिति करने के लिए कहा है।

प्रश्न— क्या यह सम्भव है कि कुछ भी चिन्तन न किया जाय? क्या संसार में कोई बिना काम किये भी रह सकता है?

उत्तर— क्यों नहीं रह सकता? क्रिया—शरीर, वाणी और मन तीन के द्वारा होती है। इनमें आसन के द्वारा शरीर की क्रिया निवृत्त हो जाती है, प्राणायाम से वाणी की तथा धारणा ध्यान और समाधि से मन की क्रिया शान्त हो जाती है। धरणा, ध्यान और समाधि एक ही है। धारणा प्रारम्भिक अवस्था है, उससे ऊँचा ध्यान है और समाधि सबसे ऊँची अवस्था है। हमारे यहाँ सबसे ऊँचा वही माना जाता है जो क्रिया को पूर्णतया शान्त कर देता है। हमारे ऋषि-मुनियों का लक्ष्य क्रिया को शान्त करना ही है। इसीलिये भगवान् ने कुछ भी चिन्तन न करने को कहा है। श्रीमद्‌भागवत में प्रहलादजी का कथन है—

तस्मादर्थाश्च कामाश्च धर्माश्च यदुपाश्रयाः।
भजतानीहयात्मानमनीहं हरिमीश्वरम्॥

अर्थात् अर्थ, धर्म और काम जिनके आश्रित हैं उन अनीह (चेष्टाहीन) आत्मा श्रीहरि का अनीहा (चेष्टाहीनता) के द्वारा भजन करो। योगवासि में भी कहा है—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
असंकल्पः परं श्रेयः स किमर्थं न भाव्यते॥

मैं भुजा उठाकर कहता हूँ, किन्तु मेरी बात कोई नहीं सुनता— संकल्प न करना ही परम कल्याण है। यही भावना क्यों नहीं करते?

संकल्पमात्रकलनैव जगत् समग्रं
संकल्पमात्रकलनैव मनोविलासः।

संकल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्प-
माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम्।।

यह सम्पूर्ण जगत् संकल्पमात्र है। मनोविलास भी संकल्प की ही कल्पना है। अत: संकल्प को ही त्यागकर निर्विकल्प निश्चय का आश्रय लो और हे राम! शान्ति प्राप्त कर लो। अथवा—

न किञ्चिच्चिन्तयेद्योगी सदा शून्यपरो भवेत्।
न किञ्चिच्चिन्तनादेव परमात्मा प्रकाश्यते।।

योगी कुछ भी चिन्तन न करे। सर्वदा शून्यपरायण रहे। कुछ चिन्तन न करने से ही परमात्मा प्रकाशित हो जाता है। "शून्यपर: का अर्थ शून्यात् पर:" शून्य से भी परे अर्थात् शून्य का साक्षी भी होता है। तद्रूप होकर रहे। हमारे यहाँ तो जो कुछ नहीं करता वही बड़ा आदमी माना जाता है।

प्रश्न— भूत-भविष्य का चिन्तन न हो, वर्तमान में ही स्थित रहे—इस पर इतना जोर क्यों दिया है?

उत्तर— भूत-भविष्यत् ही संसार है, वर्तमान ही द्रष्टा है। इसलिए भूत-भविष्यत् का चिन्तन छोड़कर वर्तमान में स्थित रहना चाहिये। यही सबसे बड़ा अभ्यास है। यह अथवा संकल्प-साक्षी रूप से स्थित रहना एक ही बात है। संकल्पों का साक्षी रहने से संकल्प देखते-देखते उड़ जायेंगे। केवल वर्तमान ही रह जायगा। वर्तमान में स्थिति का नाम ही ब्रह्माकार वृत्ति है। कबीर साहब ने भी कहा है—

मन थिर तन थिर प्रान थिर सुरति-निरति थिर होय।
कह कबीर ता पलक की कल्प न पावै कोय।।

तन, मन और प्राण—इन तीनों में से किसी एक की क्रिया रुक जाय तो शेष दो की भी रुक जाती है। केवल शरीर की क्रिया बन्द हो जाने पर भी मन और प्राण की क्रिया स्वयं रुक जाती है।

प्रश्न— शरीर की क्रिया किस प्रकार रुकेगी?

उत्तर— पहले आसन को स्थिर जमाकर सुखपूर्वक बैठना चाहिये। यह ध्यान रखे कि शरीर और पलक हिलें नहीं। केवल आसन

की स्थिरता बढ़ाता जाय, और कुछ भी न करे। मन के सामने आगे-पीछे की बातें न आने दे, वर्तमान में ही स्थित रहे।

प्रश्न— इससे क्या होगा?

उत्तर— इस अभ्यास के बढ़ाने से आकाशगमन, दूरदर्शिता, अणिमादि अष्टसिद्धियाँ तथा शास्त्रों का तात्पर्य जानने की योग्यता हो जाती है। पहले हमारे ऋषि-मुनि यही अभ्यास करते थे। वह शक्ति न रहने पर ही इन जप आदि का आविष्कार हुआ है। ये सब ध्यान के ही साधन हैं। जो पुरुष सत्संग पाठ और जप आदि तो करता है, परन्तु ध्यान नहीं करता, उसका वह साधन विशेष उपयोगी नहीं है। कालान्तर में उसका फल अवश्य मिलेगा। जैसे श्री रामायणजी का पाठ करने वाला व्यक्ति यदि रामभक्त न हो तो भी पाठ करते-करते वह कभी रामभक्त हो ही जायगा। जिस प्रकार हमें निरन्तर जप करने से जप का अभ्यास हो जाता है वैसे ही हमें कुछ भी चिन्तन न करें- इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए उत्साह नहीं छोड़ना चाहिये।

प्रश्न—जो निरन्तर विषय-चिन्तन करता है वह आत्मचिन्तन कैसे करेगा?

उत्तर— विषयों में सत्यत्व, रमणीयत्व और सुखबुद्धि होने से ही उनका चिन्तन होता है। यदि धीरे-धीरे आत्माकार वृत्ति बढ़ाई जायगी तो विषयों का सत्यत्व निवृत्त हो जायगा और फिर आत्मचिन्तन भी होने लगेगा।

संगति— मन को वश में करने की विधि अगले श्लोक में बतलाते हैं-

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥२६॥

भावार्थ— यह चंचल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ से निकलकर जाय वहीं-वहीं से इसे रोककर अपने ही अधीन करे।

व्याख्या— वास्तव में मन न तो स्थिर है और न चंचल, समाधि में यह स्थिर हो जाता है और उत्थान होने पर चञ्चल। अतः

इसे अपने इष्ट में लगाना चाहिये। इससे बड़े-बड़े चमत्कार होंगे, आकर्षक वस्तुएँ सामने आवेंगी, तथापि अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होना चाहिए। ऐसा करने से मन शान्त हो जायगा।

संगति— अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि मन को रोकने से क्या फल होता है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।।२७।।

भावार्थ—रजोगुण-तमोगुण से रहित ब्रह्मभाव को प्राप्त भेद-खेद से रहित इस प्रशान्तचित्त योगी को उत्तम सुख प्राप्त होता है।

व्याख्या— चित्त को बार-बार लक्ष्य पर लगाने का अभ्यास करने से उस योगी का चित्त शान्त हो जाता है और चित्त शान्त होने से सुख मिलता है। वह सुख उपर्युक्त चार विशेषताओं से युक्त होने के कारण उत्तम कहा गया है। ऐसा सुख ब्रह्मवेत्ता को ही होता है। शान्त मन का लक्षण यही है कि जिस लक्ष्य में वह शान्त हो उसी में उदित हो। यही उत्तम सुख है और यही सिद्ध पुरुष का लक्षण है। यदि चित्त संसाराकार होकर इष्टाकार हो तो उसे विक्षिप्त कहते हैं। विषयाकार से रहित तथा लय-विक्षेप से शून्य होकर वृत्ति का उत्थान न होना यही मन की प्रशान्तता है। शान्तरजसं—रजोगुण-तमोगुण से शून्य ब्रह्मभूत—देशकाल और वस्तु से रहित सब और ब्रह्मदर्शन करने वाला। अकल्मष—कल्मष अर्थात् भेद रूप मल, उससे रहित जिसमें अनात्म वस्तु की अप्रतीति हो।

संगति—पूर्वोक्त श्लोक बोधवान् की सविकल्प समाधि का निरूपण करता है। अब आगे के श्लोक से निर्विकल्प समाधि का वर्णन करते हैं—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।।२८।।

भावार्थ— निष्कल्मष योगी इस प्रकार मन को सर्वदा आत्मा में जोड़ते हुए अनायास ही ब्रह्मसंस्पर्श से होने वाला अत्यन्त सुख प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या— "विगतकल्मष" का अर्थ है निष्पाप, किन्तु निष्पाप तो जिज्ञासु ही हो जाता है, इसलिए भेद-दृष्टि ही पाप है, उससे रहित अथवा पाप-पुण्य की वासना से रहित। "ब्रह्मसंस्पर्श"— ब्रह्मस्वरूप को जानना ही ब्रह्म- संस्पर्श है अतः 'ब्रह्मसंस्पर्श' का अर्थ है ब्रह्माकार वृत्ति या निर्विकल्प स्थिति। अत्यन्त सुख अविनाशी सुख, वासना रहित यानि निर्विषय सुख।

यह योगी अनात्म वस्तु की प्रतीति अनुभव करता है। अर्थात् निर्विकल्प अवस्था प्राप्त कर लेता है। यह अवस्था अभ्यास से भी प्राप्त होती है और विचार से भी। इस श्लोक में 'ब्रह्मसंस्पर्श' शब्द द्वारा आत्मा के साथ वृत्ति का स्पर्श बतलाया है। यह शुद्ध वृत्ति है, बाधितानुवृत्ति है। यदि यह वृत्ति न मानी जाय तो जीवन्मुक्ति का अभ्यास सिद्ध नहीं होता। यह स्वरूपनिष्ठा या ज्ञान-निष्ठा का प्रसंग है। किन्तु पूर्ण अद्वैतबोध में जीवन्मुक्ति-विदेहमुक्ति कुछ भी नहीं है। ये व्यावहारिक हैं। इनमें प्रपञ्च की सत्ता रहती है, वृत्ति भी है किन्तु कर्त्ता नहीं है।

संगति— अगले श्लोक में जीवन्मुक्ति का पूर्ण लक्षण और योग का फल बतलाते हैं—

सर्वभूतस्थमात्मनं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।२९।।

भवार्थ— ऐसा योगयुक्त और समदर्शी महापुरुष अपने आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सम्पूर्ण भूतों को अपने आत्मा में स्थित देखता है।

व्याख्या— इसी आशय का उपनिषद् का एक मन्त्र है —

सर्व भूतस्थमात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि।
सपश्यन्नामयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति।।

आत्मा का यजन करने वाला महापुरुष सम्पूर्ण भूतों में स्थित आत्मा को और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में स्थित देखकर स्वाराज्य प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न— यदि आत्मा सच्चिदानन्दघन है तो उस ठोस में ये भूत कैसे रह सकते हैं?

उत्तर— जैसे आकाश सब में है और सब आकाश में है, अत: सब आकाशरूप ही हैं, क्योंकि सबका कारण आकाश ही है। इसी प्रकार सर्वभूत नहीं, केवल आत्मा ही आत्मा है, जैसे शकोरा-कुल्लड़ आदि नहीं केवल मृतिका ही मृतिका है। सर्व तो जिज्ञासु को समझाने के लिये कहा है। समदर्शी होने के कारण ऐसा अनुभव तो योग-युक्तात्मा को ही होता है। अथवा यों कहो कि जिसे ऐसा अनुभव होता है वही योग-युक्तात्मा है। जो सबका द्रष्टा है वह एक है, उसी में यह सम्पूर्ण दृश्य अध्यस्त है; जैसे स्वप्नद्रष्टा में सम्पूर्ण स्वप्न। इस प्रकार उस एक में यह सब है और इस सबमें वह एक है। अर्थात् सब उसी का स्वरूप है, सब वही है। यह विचारवान् का अनुभव है, भावना नहीं। तथा ऐसी भावना कि सब कुछ मेरे इष्ट का है, सब में मेरा इष्ट ही ओत-प्रोत है, भक्त की भावना है।

राग-द्वेष की निवृत्ति का भी एकमात्र यही साधन है कि सबको एक में और एक को सबमें देखा जाय। परन्तु यह ध्यान रहे कि बोध का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। जब अभ्यास को बोध में मिला लेते हैं तभी गड़बड़ होती है। यह बात याद रखनी चाहिये कि विचार का विषय और है तथा ध्यान का और। पत्थर, सोना, जवाहिरात—विचार दृष्टि से तो ये सभी मिट्टी है। परन्तु व्यवहार-दृष्टि में सोने से पत्थर का और मिट्टी से सोने का काम नहीं लिया जा सकता; मिट्टी से मिट्टी का और सोने से सोने का काम लिया जायगा। अत: भगवान् का जो निर्विशेष रूप है वह तो विचार का विषय है। ध्यान के विषय तो इष्टदेव ही हैं। विचार के द्वारा तत्त्वज्ञान होता है। हमारे इष्टदेव निर्गुण हैं, निराकार हैं तथा सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् हैं—यह बात उपासक की बुद्धि में ही रहती है, ध्यान तो इष्टदेव के विग्रह का ही करना होता है। यदि भगवद्विग्रह को छोड़कर इन गुणों का ही चिन्तन करेगा तो उपासना सिद्ध नहीं होगी। मेरा इष्टदेव ही सर्वरूप

है—ऐसा अनुभव तो उपासना पूर्ण होने पर होगा। इसी प्रकार विचारवान् का यह अनुभव है कि आत्मा से भिन्न अनात्मा का अत्यन्ताभाव है। "सब आत्मस्वरूप ही है" यह बात उसकी बुद्धि में रहती है। यदि वह ऐसा अभ्यास करेगा तो जीवन्मुक्ति के आनन्द से वंचित रहेगा। आजकल साधु प्रायः यही भूल करते हैं। यद्यपि परमार्थतः यह ठीक है तो भी जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द के लिये अनात्मा को सामने रखकर आत्माकार वृत्ति (असंगवृत्ति) करनी चाहिये।

समदर्शी—कारणदृष्टि रखने वाला अर्थात् जो विषय दृष्टि या कार्य-दृष्टि से असंग रहता है, क्योंकि जो अनात्मा से असंग रहता है उसीको भगवत्तत्त्व का ज्ञान होता है; कहा भी है—"भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते।"

संगति— यह त्वपदं का शोधन है। अब अगले श्लोक में तत्पद का शोधन करते हुए इसी की पुष्टि करते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।३०।।

भावार्थ— जो योगारूढ़ पुरुष [सर्वाधिष्ठानभूत] मुझ परब्रह्म को सर्वत्र देखता है और सबकों मुझमें अध्यस्त देखता है उसको मैं नहीं छोड़ता और वह मुझे नहीं छोड़ता।

व्याख्या— पूर्व श्लोक में सर्वाधिष्ठान रूप से आत्मा का उल्लेख था और यहाँ परमात्मा को सर्वाधिष्ठान कहा है। इस प्रकार तत् और त्वपदं के लक्ष्यार्थों की एकता सूचित होती है। जिसकी ऐसी दृष्टि होती है उससे परमात्मा कभी परोक्ष नहीं होता, सर्वदा अपरोक्ष ही रहता है। जिसे एक बार ऐसा अपरोक्ष अनुभव हुआ उसे कभी उसकी विस्मृति नहीं होती। उसकी कभी भेददृष्टि नहीं होती, न उसे देहाध्यास होता है अर्थात् एक बार तत्त्वबोध होने पर फिर कभी अज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार स्वरूप से जागने पर जाग्रत् अवस्था में स्वप्न की स्मृतिमात्र रहती है, प्रतीति नहीं होती उसी प्रकार तत्त्ववेत्ता को संसार स्मृतिमात्र अनुभव होता है उसे शरीरादि भी सत्ताशून्य

प्रतीतिमात्र जान पड़ते हैं। इनमें उनकी कैसी दृष्टि होती है, यह बात इस श्लोक में व्यक्त होती है—

छायाशरीरे प्रतिबिम्बगात्रे
यत्स्वप्नदेहे हृदि कल्पिताङ्गे।
यथात्मबुद्धिः तव नास्ति
किञ्चिज्जीवच्छरीरे च तथैव मास्तु॥

अर्थात् जैसे छाया शरीर, प्रतिबिम्बित शरीर, स्वप्न शरीर और हृदय में कल्पना किये शरीर में तुम्हारी तनिक भी आत्मबुद्धि नहीं होती उसी प्रकार जीवित शरीर में भी नहीं होनी चाहिए।

संगति—ऐसा अपरोक्ष ज्ञानी संसार में रहते हुए कैसा व्यवहार करता है—यह अगले श्लोक में बतलाते हैं। साथ ही इसके द्वारा तत् और त्वंपद के लक्ष्यार्थ का अभेद भी सूचित किया गया है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥३१॥

भावार्थ— जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में स्थित मुझको अभिन्न भाव से भजता है वह योगी सब प्रकार बर्ताव करता हुआ भी मुझ ही में बर्तता है।

व्याख्या— एकत्वमास्थितः भजति—अभिन्न दृष्टि रखते हुए भजता है, अथवा मुझ एक को ही भजता है, निरन्तर ब्रह्माकार वृत्ति करता है अथवा सबका निषेध करता है और स्वसत्ता में स्थित रहता है। जिस प्रकार पार्वती जी महादेवजी की प्राप्ति के लिये तपस्या करते समय सप्तर्षियों के कहने पर भी अपने निश्चय से विचलित नहीं हुई उसी प्रकार जिसकी अपने इष्ट में निष्ठा है। 'सर्वथा वर्तमानोऽपि' का तात्पर्य यह है कि जिस आश्रम में बोध हो जाय उसी में रहते हुए भी अथवा कभी घर में और कभी वन में रहते हुए भी; जैसा कि कहा है—

सन्दिग्धः सर्वभूतानां वर्णाश्रमविवर्जितः।
अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत्॥

अर्थात् सबको सन्देह में डालकर वर्णाश्रम का आग्रह त्यागकर अन्धे जड़ और मूक के समान पृथ्वी में विचरे। अथवा–

दृश्यैर्न मम सम्बन्धः इति निश्चित्य निश्चलम्।
कश्चित् संव्यवहारः सन् कश्चिद्ध्यानपरायणः॥

अर्थात् दृश्य से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है–ऐसा अटल निश्चय करके कोई सम्यक् व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं और कोई ध्यान में लगे रहते हैं। इस प्रकार वे कोई अकरणीय कर्म तो नहीं करते, परन्तु उन्हें किसी आश्रमविशेष का भी आग्रह नहीं होता। इस प्रकार जीवनयापन करते हुए अन्त में कैवल्य पद प्राप्त कर लेते हैं।

प्रश्न—तो क्या ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् भी व्यवहार रहता है?

उत्तर— यह प्रश्न ज्ञान होने के पश्चात् तो हो नहीं सकता, क्योंकि उसकी दृष्टि में तो व्यवहार की सत्ता ही नहीं रहती। दूसरों को जो उसका व्यापार दिखाई देता है वह तो आकाश की नीलिमा के समान केवल प्रतीतिमात्र है। यदि कोई अज्ञानी ऐसा प्रश्न करता है तो उसे समझना चाहिये कि ज्ञानी का व्यवहार अहन्ता-ममताशून्य होता है।

संगति— इस श्लोक में योगी का लक्षण कहा गया। अब श्लोक में परमयोगी का लक्षण कहते हैं–

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥३२॥

भावार्थ— हे अर्जुन! जो सब भूतों में सुख अथवा दुःख को अपनी ही उपमा से समान देखता है वह परम योगी माना गया है।

व्याख्या— सुख-दुःख को अपने से भिन्न देखने वाला ही उन्हें सम देख सकता है। वह सबको आत्मा ही देखता है यही आत्मा की उपमा है, मानो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही उसका शरीर है। अथवा जैसे अपने को सुख-दुःख होते हैं वैसे ही औरों को भी होते हैं–ऐसा जो देखता है। जिसे मैं ज्ञानी हूँ और यह अज्ञानी है– ऐसी भेददृष्टि नहीं है। अर्थात् सम्पूर्ण संसार जिसे आत्मस्वरूप ही भासता है।

यहाँ परमयोगी जीवन्मुक्त महापुरुष को कहा गया है और योगी केवल ज्ञानी को, जो योगाभ्यास में तत्पर है। परमयोगी वह है जिसकी दृष्टि में सम्पूर्ण प्रपञ्च का अत्यन्ताभाव हो गया है। उसे निर्विकल्पावस्था में तो सुख-दुःख का भान ही नहीं होता, व्युत्थित अवस्था में उसे वे दूसरे के देह में होने वाले सुख-दुःख के समान जान पड़ते है। तथा दूसरों के सुख-दुःख उसे अपने शरीर में होने वाले सुख-दुःख के समान दिखायी देते हैं।

संगति— भगवान् के ऐसे वचन सुनकर अर्जुन को यह जानने की इच्छा हुई कि इस प्रकार की निष्ठा कैसे प्राप्त की जाय। अतः वह कहने लगा—

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।।३३।।

भावार्थ— अर्जुन बोला—मधुसूदन! आपने जो यह साम्यभाव से होने वाला योग कहा, सो मन की चञ्चलता के कारण मैं इसमें अपनी स्थिर स्थिति नहीं देखता हूँ।

व्याख्या— भगवान् ने मधु और कैटभ नाम के दैत्यों का संहार किया था। इसी प्रकार इस मनरूप असुर का भी संहार कर दें, इस दृष्टि से अर्जुन ने उन्हें 'मधुसूदन' कहकर सम्बोधन किया है, क्योंकि मन का दमन हुए बिना अभ्यास नहीं हो सकता और यहाँ अभ्यास का ही प्रसङ्ग है।

संगति— अब अर्जुन यह बतलाता है कि अत्यन्त चञ्चल और प्रबल होने के कारण मन को जीतना बहुत कठिन है।

चञ्चल हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।३४।।

भावार्थ— हे श्रीकृष्ण! निश्चय ही मन चञ्चल, प्रमथनशील, बलवान् और दृढ़ है। इसका निग्रह मैं वायु के समान बहुत दुष्कर मानता हूँ।

व्याख्या— 'कृष्ण' का अर्थ है आकर्षक (खींचने वाला)। इस सम्बोधन से अर्जुन का यह आशय है कि मेरी बुद्धि जो स्वजनों के मोह में फँसी हुई है उसे अपनी ओर खींच लो, क्योंकि उससे निकलना मेरी सामर्थ्य से बाहर है। यहाँ मन के चार विशेषण हैं—चंचल, प्रमाथि, बलवान् और दृढ़। यह नेत्रों के पलकों के समान चञ्चल है। यह विषय-वासना और राग-द्वेष के कारण वीर पुरुषों को भी विचलित कर देता है, इसलिए प्रमाथि है। प्रमाथि को मन्त्रादि के द्वारा वश में किया जा सकता है। परन्तु यह बलवान् भी है। सम्भव है, कोई इससे भी बलवान् हो, परन्तु यह दृढ़ भी है, क्योंकि अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण शस्त्रादि से इसका छेदन नहीं किया जा सकता। अतः इसको वश में करना बहुत कठिन है।

संगति— अर्जुन की शङ्का का समर्थन करते हुए भगवान् अगले श्लोक में मन को जीतने का उपाय बतलाते हैं—

श्री भगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥३५॥

भावार्थ— श्री भगवान् बोले! महाबाहो! निःसन्देह यह मन चञ्चल और कठिनता से वश में होने वाला है। किन्तु कुन्तिनन्दन! अभ्यास और वैराग्य से यह वश में हो सकता है।

व्याख्या— भगवान् ने अर्जुन को 'महाबाहो' इसलिये कहा कि वह लम्बी भुजाओं वाला शूरवीर है, इसलिये मन पर विजय पाने के लिए उत्साह ओर सावधानी से तत्पर है। तथा 'कौन्तेय' इसलिये कहा कि कुन्ति भक्त है और तू उसका पुत्र है। अतः इस परम्परा के कारण तू मन को जीत सकता है।

यहाँ 'वैराग्य' को इसलिये प्रधानरूप से साधन बतलाया है क्योंकि वास्तविक वैराग्य भक्त को ही हो सकता है। चित्त सुन्दरता की ओर आकर्षित होता है और सबसे सुन्दर भगवान् ही हैं। अतः उनमें लग जाने के कारण सहज ही में सब ओर से चित्त हट जायगा। फिर

भजन दृढ़ होने पर जिज्ञासा जाग्रत होगी कि भगवान् क्या है, मैं क्या हूँ और संसार क्या है। ऐसी शङ्का होने पर स्वयं भगवान् ही गुरुरूप में आकर उसे उपदेश करते हैं तब ज्ञान होता है। किन्तु अभ्यास के बिना वैराग्य ठहर नहीं सकता, बीच ही में शिथिल पड़ जाता है। इसलिये यहाँ वैराग्य और अभ्यास दोनों ही कहे हैं। वैराग्य की अन्तिम अवस्था यह है कि पदार्थ पास होने पर भी उसे भोगने की रुचि न हो। वह अपनी ओर खींच न सके।

संगति— मन दो प्रकार का होता है—पुण्यप्रवाही और पापप्रवाही। उसे पुनः पुनः पुण्यप्रवाही करना ही अभ्यास है। इस श्लोक से यह सिद्ध होता है कि समाधि आवश्यक है। अगले श्लोक में इसी की पुष्टि करते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।३६।।

भावार्थ— जो असंयत चित्त है उसे योग प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है—ऐसा मेरा मत है। किन्तु जिसका चित्त अपने अधीन है वह उपायपूर्वक यत्न करने पर उसे प्राप्त कर सकता है।

व्याख्या— ऊपर के श्लोकों में अभ्यास और वैराग्य को ही मनोनिग्रह का साधन बताया है। उसी की यहाँ पुष्टि की गयी है। इन्द्रियों का संयम बाह्य साधन है तथा अभ्यास और वैराग्य आन्तरिक साधन हैं। बाह्य साधन के बिना आन्तरिक साधन में सफलता नहीं मिलती।

प्रश्न— संसार में बड़े-बड़े बुद्धिमान हैं, परन्तु उपर्युक्त ज्ञानयोग उन्हें क्यों प्राप्त नहीं होता?

उत्तर— असंयमी इस ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता। और ऐसा नियम नहीं है कि जो बुद्धिमान् हो वह संयमी भी हो। ऐसा बहुत संभव है कि कोई मनुष्य बुद्धिमान् हो और संयमी न हो तथा कोई मूर्ख हो किन्तु संयमी हो। परन्तु ज्ञानयोग तो उसी को प्राप्त होता है जो बुद्धिमान् भी हो और संयमी भी।

संगति— इस श्लोक से यह निश्चय होता है कि समाधि अवश्य कर्त्तव्य है। उसके लिए जिसका प्रयत्न शिथिल है उसकी क्या गति होगी—यह बात अर्जुन पूछता है।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।३७।।

भावार्थ— श्रीकृष्ण! जो पुरुष श्रद्धासम्पन्न तो है परन्तु यत्नशील नहीं है और जिसका मन योग से चलायमान हो गया है वह योग की सम्यक् सिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होता है?

व्याख्या— जिस पुरुष की शास्त्र और गुरु में श्रद्धा है उनके उपदेश के अनुसार जो तत्त्व का भले प्रकार निश्चय भी कर चुका है, परनतु जीवन्मुक्ति का अभ्यास नहीं करता, अथवा कोई विघ्न आने पर अभ्यास छोड़ देता है और प्रमादवश फिर अभ्यास नहीं करता, ऐसी स्थिति में यदि उसका देह छूट जाय तो उसकी क्या गति होती है। इस प्रकार की अकर्मण्यता अच्छे-अच्छे लोगों में होती है और यह बहुत बड़ा विघ्न भी है। यत्नशील न होने पर ही चित्त चलायमान होता है। जो विघ्नों से बचने का यत्न नहीं करता और यथाविधि वर्णाश्रम धर्मों का भी पालन नहीं करता वही योग से चलायमान हो जाता है।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढ़ो ब्रह्मणः पथि।।३८।।

भावार्थ— हे महाबाहो! ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में प्रतिष्ठित (स्थिर) न रहने वाला यह विमूढ़ साधक छिन्न-भिन्न हुए बादल के समान (लोक-परलोक) दोनों ओर से भ्रष्ट होकर कहीं नष्ट तो नहीं हो जाता।

व्याख्या— मूढ़ जो अज्ञानवश बुरा काम करे और विमूढ़—जो जान-बूझकर बुराई करे। अप्रतिष्ठः—ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में यथोचित न चलने वाला। जिसका उसमें अनुराग नहीं हुआ, जिसे ब्रह्मप्राप्ति

न होने के कारण योगभ्रष्ट कहा जाता है। जिस प्रकार बादल के टुकड़ों को वायु आपस में नहीं मिलने देता और वे नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार ऐसा तो नहीं होता कि वह इहलोक और परलोक दोनों के सुख से वञ्चित होकर बीच ही में नष्ट हो जाता हो।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।।३९।।

भावार्थ— हे श्रीकृष्ण! मेरे इस संशय को पूर्णतया छेदन करने में आप ही समर्थ हैं। आपसे भिन्न इसे छेदन करने वाला कोई और नहीं हो सकता।

व्याख्या— आप पूर्ण ब्रह्म हैं। आपने कहा भी है कि मैं सबका आदि कारण हूँ, सबको जानता हूँ, सबका आदि मध्य और अन्त हूँ। तथा आप बड़े मेधावी, संशयशून्य और सर्वज्ञ हैं, अतः आपके सिवाय मेरे इस संशय को छेदन करने में और कोई समर्थ नहीं है।

श्री भगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।।४०।।

भावार्थ— हे पार्थ! इस लोक और परलोक में कहीं भी उसका नाश नहीं होता। हे तात! कल्याण का साधन करने वाला कोई भी पुरुष दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।

व्याख्या— शम-दमादि साधन-सम्पन्न होने पर भी निष्ठा की कमी के कारण यदि वह मार्ग से च्युत भी हो जाय तो भी श्रद्धावान् होने के कारण उसका नाश नहीं होता। जड़भरतादि के समान उसका पुनर्जन्म हो सकता है, परन्तु उसे ज्ञान की विस्मृति नहीं होगी।

अर्जुन के लिये यहाँ 'तात' सम्बोधन दिया है। 'तनोतीति तात' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'तात' का अर्थ होता है विस्तार करने वाला। अर्जुन के द्वारा ब्रह्मविद्या का विस्तार होगा, इसलिए वह तात है।

प्रश्न— ठूँठ का ज्ञान होने पर जब भूत का भय नहीं रहता तो उसके लिये जैसे कोई कर्त्तव्य नहीं रहता उसी प्रकार स्वरूप का

ज्ञान होने पर फिर ध्यान की क्या आवश्यकता है? ध्यान तो एक क्रिया है और क्रिया बिना कर्तृत्व के नहीं होती। इसलिए कर्तृत्व रह जाने के कारण उसे ज्ञान भी नहीं होगा। अतः ज्ञानी के लिए ध्यान की कोई आवश्यकता नहीं, इसमें अनेकों सद्ग्रन्थों के प्रमाण हैं—'तस्य कार्यं न विद्यते', 'नैवस्ति किञ्चित् कर्त्तव्यमस्तिचेन्न स तत्त्ववित्' और 'ब्रह्मविदः कर्त्तव्याभावः' इत्यादि।

उत्तर—ऐसा भी तो प्रमाण है—'आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' यदि कहो कि यह जिज्ञासु के लिये है तो यहाँ पहले 'द्रष्टव्यः' कहा है और फिर निदिध्यासितव्यः' आया है। यदि नित्यानित्य वस्तु का विवेक न करें तो निदिध्यासन कैसे करेंगे क्योंकि तब वस्तु का बोध तो होगा नहीं। इससे भी सिद्ध होता है कि बोधवान्

Bodhavan / knower of Brahman should attain samadhi

को समाधि प्राप्त करनी चाहिये। कहा भी है—'तमेव धीरो विज्ञान प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः', 'तमेवेकं विजानीयादात्मानमन्या वाचो विमुञ्चयः' तथा 'ओमित्येवं ध्यायेथ आत्मानम्' इत्यादि।

संगति— यदि उसकी दुर्गति नहीं होती तो वह वहाँ जाता है इसी का उत्तर अगले श्लोक में देते हैं—

प्राप्य पृण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।४१।।

भावार्थ— योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानों के लोकों को प्राप्त होकर और वहाँ बहुत समय तक रहकर फिर पवित्र और श्रीमानों के घर में जन्म लेते हैं।

व्याख्या—प्रश्न— योगभ्रष्ट का क्या अर्थ है? क्या योगाभ्यास करते-करते जिससे कोई बुरा कर्म हो जाय उसे योगभ्रष्ट कहते हैं?

उत्तर— योग पूरा होने से पहले ही शरीर छूट जाय तो उसे योगभ्रष्ट कहते हैं। इस श्लोक से ही यह सिद्ध होता है कि उसने कोई बुरा कर्म नहीं किया, प्रमादवश अभ्यास पूरा नहीं हुआ, यही उसका दुष्कर्म है। यदि कोई पाप कर्म किया होता तो पुण्यवानों के लोक में जाकर फिर श्रीमानों के घर कैसे जन्म लेता? जिस कुल में वह जन्म

Meaning of taking birth in Srimanta / Sriman home by yogabrashta

लेता है वह पवित्र और श्रीमान् दोनों गुणों से सम्पन्न होना चाहिये। धनी तो प्रायः अपवित्र होते हैं। यदि धनी के घर में जन्म लेगा तो और भी भ्रष्ट हो जायगा। अतः श्रीमान् का अर्थ यहाँ तपोधनसम्पन्न समझना चाहिये। अतः जो तपस्वी और शुचि (शिलोञ्छादि पवित्र जीविका वाले) हों वे अकिञ्चन तपोवन ही यहाँ शुचि श्रीमान् कहे गये हैं।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥४२॥

भावार्थ— अथवा वह बुद्धिमान् योगियों के ही कुल में उत्पन्न होता है। लोक में जो ऐसा जन्म है वह बहुत दुर्लभ है।

व्याख्या— 'योगी' शब्द से यहाँ हठयोगी नहीं, अपितु ऋतु-कालाभिगामी गृहस्थ समझना चाहिये। जैसे महर्षि याज्ञवल्क्य, जो शिलोञ्छवृत्ति से सन्तुष्ट रहते थे और स्त्री-धन आदि में जिनकी कोई ममता नहीं थी। ऐसे विवेक-वैराग्यसम्पन्न आत्मनिष्ठ गृहस्थों के कुल को ही योगियों का कुल कहा है। परम्परा की दृष्टि से भी अनेक प्रकार के कुल होते हैं। जिन कुलों में भक्त अधिक होते हैं वे भक्त-कुल कहे जाते हैं, जिनमें ज्ञानी अधिक होते हैं वे ज्ञानी-कुल कहलाते हैं और जिनमें योगी अधिक होते हैं वे योगी-कुल कहे जाते हैं।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥४३॥

भावार्थ— हे कुरुनन्दन! वहाँ वह योगभ्रष्ट अपने पूर्वजन्म की बुद्धि का संयोग प्राप्त करता है और फिर सम्यक् सिद्धि के लिये पुनः प्रयत्न करता है।

व्याख्या— कुछ लोगों का विचार है कि ज्ञानमात्र से पूर्णता प्राप्त हो जाती है। यदि ऐसा होता तो भगवान 'बुद्धिसंयोगं लभते,' इतना कहकर ही समाप्त कर देते; 'यतते च ततो भूयः' यह कहने की आवश्यकता नहीं थी। पुनः प्रयत्न की बात कही है, इससे जान पड़ता है कि ज्ञान हो जाने पर भी सम्यक् सिद्धि (जीवन्मुक्ति) के लिये अभ्यास की आवश्यकता है। इसी की पुष्टि अगले श्लोक में भी करते हैं—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।४४।।

भावार्थ— अपने उस पूर्व जन्म के अभ्यास के कारण वह विवश होकर उसी ब्रह्माभ्यास की ओर खिंच जाता है तथा ज्ञानयोग का जिज्ञासु होने पर भी वह शब्द-ब्रह्म अर्थात् वेद की मर्यादा का अतिक्रमण कर जाता है।

व्याख्या—प्रश्न— ऐसा कहते हैं कि सम्पूर्ण शास्त्रों का अवगाहन कर उनके तात्पर्य को ग्रहण कर इसी प्रकार शास्त्रों को त्याग दे जैसे चावल पाने की इच्छा वाला पुरुष उनकी भूसी को त्याग देता है। यह बात ज्ञान होने के पीछे की है या ज्ञान की ही कोई अवस्था है।

उत्तर— शस्त्र ही कहते हैं —

वर्णाश्रमाभिमानेन श्रुतेर्दासो भवेन्नरः।
वर्णाश्रम विहीनो यो वर्तते श्रुतिमूर्धनि।।

अर्थात् वर्णाश्रम का अभिमान होने पर ही श्रुति का दास रहता है। जब वह वर्णाश्रम की मर्यादा का उल्लङ्घन कर जाता है तो श्रुति के सिर पर सवार हो जाता है। क्योंकि वेद-शास्त्र भी व्यवहार ही है और दृश्य के अन्तर्गत है। शास्त्र जिज्ञासु के लिये हैं, बोधवान् के लिये नहीं, क्योंकि समस्त वेद-शास्त्रों की उत्पत्ति तो उससे ही हुई है, उस पर शस्त्र का क्या बन्धन हो सकता है।

प्रश्न— इसमें तो अभिमान की झलक है, ऐसा होने पर तो ज्ञानी बड़ा अभिमानी हो जायगा।

उत्तर— ज्ञानी में तो अभिमान नाम को भी नहीं रहता। अपने को कुछ मानना ही अभिमान है और यही अज्ञान है। ज्ञानी अपने को कुछ नहीं मानता। वह तो अपनी पृथक् सत्ता ही स्वीकार नहीं करता। सचमुच पूर्ण निरभिमानी तो ज्ञानी ही है। भक्तों में सेवक होने का सूक्ष्म अभिमान रहता है किन्तु ज्ञानी में अभिमान का अत्यन्ताभाव होता है।

प्रश्न— वेद तो त्याज्य नहीं हैं, उन्हें वह कैसे त्याग देता है?

उत्तर— पूर्व-संस्कार से और ब्रह्माभ्यास में तत्पर रहने से कर्मों का स्वतः त्याग हो जाता है। यदि जिज्ञासु पूर्वजन्म में श्रवणादि किये होता है तो इस जन्म में पैदा होते ही वह ब्रह्माभ्यास में लग जाता है तथा जिसने श्रवणादि नहीं किये, किन्तु वैराग्यवान् था और देहपात हो गया वह इस जन्म के आरम्भ से श्रवणादि में ही लगता है।

संगति— अब अगले श्लोक में विशेष अभ्यास का फल बतलाते हैं।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥४५॥

भावार्थ— अत्यन्त यत्नपूर्वक अभ्यास करने वाला योगी सम्पूर्ण पापों से छूटकर अनेक जन्मों में सम्यक् सिद्धि प्राप्त करके परम गति को प्राप्त होता है।

व्याख्या— अभ्यासी को ऐसा नहीं होना चाहिए कि कभी साधन किया कभी छोड़ दिया। इस प्रकार के शिथिल प्रयत्न का निषेध करने और पूर्ण उत्साह एवं लगन के साथ प्रयत्न करने वालों की उत्कृष्टता दिखाने के लिये यहाँ 'तु' अव्यय का प्रयोग हुआ है।

प्रश्न— 'संशुद्धकिल्बिषः' का यहाँ क्या तात्पर्य है?

उत्तर— अज्ञान और अज्ञान का कार्य ही 'किल्बिष' हैं उनका नाश। अथवा चञ्चलता और पाप-पुण्य ही किल्बिष हैं।

प्रश्न— 'अनेकजन्मसंसिद्धः' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर— 'अनेक जन्म' का तात्पर्य यहाँ तीन जन्म है। उत्तम अधिकारी को तीन वर्ष में सिद्धि मिल जाती है, मध्यम अधिकारी को छः वर्ष लग जाते हैं और कनिष्ठ अधिकारी को बारह वर्ष। परन्तु भगवान् ने 'अनेक जन्म' कहा है, अतः तीन समझने चाहिये।

'परां गतिम्' का तात्पर्य है ब्रह्म की प्राप्ति क्योंकि वही साधक का परम पुरुषार्थ है।

अतः निश्चय हुआ कि मोक्ष के लिये प्रयत्न करने वाले पुरुष का अज्ञान अपने कार्य सहित निवृत्त हो जाता है। इस श्लोक से यह भी सिद्ध होता है कि अभ्यास नष्ट नहीं होता।

संगति— यहाँ जीवन्मुक्त के ध्यान योग का प्रसंग चल रहा है। अतः अगले श्लोक में ध्यान की विशेषता दिखलाते हैं। ज्ञान होने पर तो विक्षेप रह जाता है, परन्तु ध्यान से उसकी निवृत्ति होती है, अतः ध्यान ज्ञान से भी श्रेष्ठ है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥४६॥
6.46

भावार्थ— योगी (ब्रह्माभ्यास करने वाला ध्यान योगी) तपस्वियों से श्रेष्ठ है, ज्ञानियों (शास्त्रज्ञानियों) से भी श्रेष्ठ माना गया है और कर्मियों से भी श्रेष्ठ है। अतः अर्जुन! तुम योगी हो जाओ।

व्याख्या— पहले यह कहा जा चुका है कि 'योग' शब्द गीता में चौंसठ बार आया है और बारह प्रकार का योग है। उनमें ज्ञानयोग, मन्त्रयोग, हठयोग और राजयोग – ये चार मुख्य हैं। अब विचार यह करना है कि यहाँ भगवान् किस योग की प्रशंसा कर रहे हैं? यह प्रसंग ब्रह्माभ्यास का है, अतः यहाँ ज्ञानयोगी को ही सबसे श्रेष्ठ बतलाया गया है। इसलिये जब तक विदेहमुक्ति न हो तब तक ब्रह्माकार वृत्ति करते रहना चाहिये।

प्रश्न— आपने ज्ञानयोग को सबसे श्रेष्ठ बतलाया। मैं इसमें जो आसनादि का क्रम है उसके विषय में विशेष रूप से जानना चाहता हूँ। सुना है कि बिना निर्विकल्प समाधि हुए ज्ञान नहीं होता और आप कहते हैं कि ज्ञान के साथ समाधि का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः इस रहस्य को समझाने की कृपा करें तथा यह भी बतावें कि ज्ञान और मोक्ष में क्या अन्तर है?

उत्तर— मोक्ष और ज्ञान एक बात नहीं है। मोक्ष तो समाधि होने पर भी हो जाता है, परन्तु समाधि होने पर ज्ञान होना आवश्यक नहीं है। जीव का बन्धन वासना है और समाधि निर्वासनिक पुरुष को ही होती है। परन्तु समाधि होने पर भी वृत्ति की सत्ता बनी रहती है, अवश्य ही वह निरुद्ध रहती है, परन्तु सत्ताशून्य नहीं होती। इसलिये उसे ज्ञान नहीं कह सकते। समाधिमान् की क्रममुक्ति होती

है। वह ब्रह्मलोक में जाता है और वहाँ उसे ज्ञान होता है तब उसकी सद्योमुक्ति होती है।

अब रही आसन की बात। हमें यथासम्भव आसन स्थिर रखना चाहिये आसन और चित्तवृत्ति दोनों ही स्थिर रहें। जब तक आसन न दुखे उसे बदलना नहीं चाहिये। यहाँ तक कि अन्य कार्य करते हुए भी स्थिर आसन से ही बैठना चाहिये। मैं सम्पूर्ण प्रपञ्च से भिन्न हूँ—ऐसी भावना रखने से ही चित्त की साम्यावस्था हो जाती है। यही चित्त की निर्विशेष स्थिति है। इसका काल अधिक बढ़ने पर चित्त लीन हो जाता है। आसन पर बैठकर मनोराज्य होगा तो चार घण्टे में ही गर्मी बढ़ जायेगी। किन्तु चित्त लीन हो जाय तो छः घण्टे बैठने पर भी गर्मी नहीं बढ़ेगी। इसका कारण यह है कि मनोराज्य में चित्त को काम करना पड़ता है, किन्तु लीन हो जाने पर उसे कोई काम नहीं करना पड़ता।

यदि आँखें खोलकर ध्यान करना हो तो पलकों पर पूरा ध्यान रखो। वे हिलें नहीं। आँखों से ही संसार का आरम्भ होता है। जब ध्यान के लिये सीधे होकर बैठो तो शरीर को ढीला छोड़ दो तथा श्वास को खींचने और छोड़ने का भी प्रयत्न मत करो। शरीर हिले नहीं। इससे अनायास कुम्भक हो जाता है। ध्यान का अभ्यास परिपक्व हो जाने पर निद्रा कम हो जाती है, क्योंकि ध्यान से ही निद्राजनित विश्राम मिल जाता है। इसीसे ध्यानाभ्यासी पुरुष एक-डेढ़ घण्टा सोकर भी रह सकता है। जब ध्यान स्वाभाविक हो जाता है तो सोने की इच्छा नहीं रहती। जब चित्त से विक्षेप निकल जाय तभी ध्यान की पूर्णता समझो। ध्यान के समय यदि मन स्थिर न हो तो भी शरीर को हिलाना नहीं चाहिये। शरीर स्थिर रहने से चित्त भी स्थिर हो जायगा। पहले तो जाग्रत और समाधि दो अवस्थाएँ ही होती थी। पीछे स्वप्न और सुषुप्ति भी बढ़ गयीं। यदि कोई आठ घण्टे समाधिस्थ रह सके तो सोलह घण्टे जाग्रत् रह सकता है। उसे सुषुप्ति की आवश्यकता नहीं होगी। छः घण्टे से कम समाधि होने पर तो सुषुप्ति भी होगी। जहाँ

तक बने ब्रह्माकार वृत्ति को ही बढ़ाना चाहिए। वृत्ति के बढ़ने से निद्रा–तन्द्रा आदि दोष स्वयं नष्ट हो जाते हैं और वृत्ति की स्थिरता होने से आसन भी स्थिर हो जाता है।

परन्तु समाधि हमारा लक्ष्य नहीं होना चाहिये। समाधि में परमार्थ–बुद्धि होना भी अज्ञान का ही चिह्न हैं। चिन्तन करते–करते समाधि स्वयं होगी। न हो तब भी कोई चिन्ता की बात नहीं है। परन्तु ब्रह्म–चिन्तन को छोड़कर समाधि पर मुख्य दृष्टि देना असदभिनिवेश है। चिन्तन बढ़ने पर आसनादि से बैठने की प्रवृत्ति होना भी स्वाभाविक है और उसका बढ़ना भी अच्छा है। परन्तु आसन या समाधि का संकल्प नहीं होना चाहिये। संकल्प तो ब्रह्माकार वृत्ति का ही होना चाहिये। चिन्तन के समय असंगता की भावना भी रहनी चाहिये। संसार की असत्यता तो विचार से ही सिद्ध है, उसकी भावना करने की आवश्यकता नहीं है।

What is Param yoga and Jivanmukti

चेतनत्व की भावना–पूर्वक प्रतिदिन दस मिनट ध्यान करने से अभ्यास का फल प्रतीत होगा। तीस मिनट के अभ्यास से विशेष अवस्था प्रतीत होगी। एक घण्टा के अभ्यास से सर्वत्र ध्येय ही दिखायी देगा तथा एक घण्टा पैंतीस मिनट के अटूट अभ्यास से देहानुसन्धान की निवृत्ति होकर समाधि हो जायगी। यही परमयोग है।

अभ्यासी को प्रथम इष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है, तत्पश्चात् भाव होता है, फिर प्रेम की प्राप्ति होती है। प्रेम ही को समाधि कहते हैं। उस समाधि के पश्चात् जो अखण्ड स्मृति रहती है वही जीवन्मुक्ति है। अनात्मचिन्तन का अभाव ही आत्मस्थिति है, क्योंकि संसार की विस्मृति और परमात्मा की स्मृति एक साथ होती है।

संगति— अगले श्लोक में भगवान् यह बतलाते हैं कि योगियों में भी सर्वश्रेष्ठ वही है जो श्रद्धापूर्वक मेरे भजन में लगा हुआ है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।४७।।

6.47

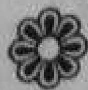
भावार्थ— सब योगियों में श्रेष्ठतम योगी मेरे मत में वही है जो श्रद्धापूर्वक मुझमें मन लगाकर मेरा भजन करता है।

व्याख्या— गीता में 'युक्ततम' शब्द दो जगह ही आया है, यहाँ और अध्याय १२ श्लोक २ में। यहाँ केवल ब्रह्मज्ञान को महत्त्व न देकर ब्रह्मनिष्ठा की प्रशंसा की है। अत: निरन्तर समाधि का अभ्यास करना चाहिये। यही बात अध्याय १२ श्लोक १२ में 'ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते' इन शब्दों द्वारा कही है।

यह श्लोक मुख्य भक्तिपरक है, क्योंकि यहाँ सम्मुख खड़े भगवान् 'मद्गतेनान्तरात्मना मां भजते' ऐसा मानों अपनी ओर अंगुली से निर्देश करके कह रहे है। 'माम्' और 'भजते' का प्रयोग होने से भी यह बात स्पष्ट होती है।

अब सातवें अध्याय में ब्रह्म के स्वरूप और ब्रह्मनिष्ठा का वर्णन करेंगे तथा शरणागति की विधि भी बतलायेंगे।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्याय:॥६॥



ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

अथ सप्तमोऽध्यायः

संगति— इस अध्याय में ब्रह्म के स्वरूप तथा ब्रह्मनिष्ठा का प्रतिपादन करेंगे। तथा यह भी बतायेंगे कि किस प्रकार ईश्वर के शरणापन्न हुआ जाता है और किस प्रकार वे संसार-सागर से तारते हैं।

श्री भगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥१॥

भावार्थ— भगवान् श्री कृष्ण बोले— हे पार्थ! मेरे में चित्त लगाकर मेरे आश्रित योगाभ्यास करते हुए जिस प्रकार तुम निःसन्देह पूर्णतया मुझे प्राप्त कर लोगे, वह सुनो।

व्याख्या— भगवान् के दो रूप हैं सविशेष और निर्विशेष। सविशेष रूप ध्यान-प्राप्य है और निर्विशेष ज्ञान या विचार-प्राप्य। सविशेष भावमय है तथा उसमें भेद या द्वैत है और निर्विशेष ज्ञानस्वरूप है तथा उसमें अभेद या अद्वैत है।

प्रश्न— आपने सविशेष में भेद और निर्विशेष में अभेद बतलाया। यह ठीक समझ में नहीं आया। कृपया बतलाइये कि अद्वैत की सिद्धि किस प्रकार होती है।

उत्तर—अद्वैत की सिद्धि क्या की जाय, वह तो सिद्ध ही है। वास्तव में (वस्तु-दृष्टि से) द्वैत और अद्वैत में कोई भेद नहीं है। जिसमें द्वैत है उसीमें अद्वैत है और जिसमें अद्वैत है उसीमें द्वैत है। सुवर्ण दृष्टि जो अद्वैत है आभूषण दृष्टि से उसी में द्वैत है। केवल दृष्टियों का ही भेद है, वस्तुओं का नहीं। कार्य-दृष्टि द्वैत है और कारण दृष्टि अद्वैत। व्यवहार-दृष्टि से जहाँ द्वैत है परमार्थ-दृष्टि से वहीं अद्वैत है।

ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं—कार्य, कारण और शुद्ध। शुद्ध- ब्रह्म-निर्विशेष है तथा कार्य-ब्रह्म और कारण-ब्रह्म सविशेष है। कार्य-ब्रह्म

साकार है और कारण-ब्रह्म निराकार है। शुद्ध-ब्रह्म साकार-निराकार दोनों से परे है। साधक जब तक सविशेष या निर्विशेष ब्रह्म में चित्त नहीं लगावेगा तब तक 'मय्यासक्तमनाः' नहीं हो सकेगा और न वह मेरे समग्र रूप को ही जान सकेगा। मेरे तत्त्व को जानना ही समग्र रूप को जानना है। जो भूत-भविष्य को जानता है वह सर्वज्ञ नहीं है, सर्वज्ञ तो वही है जो मेरे तत्त्व को जानता है।

प्रश्न— क्या ज्ञानी सर्वज्ञ होता है?

उत्तर— ज्ञान होने पर तो सर्व रहता ही नहीं, फिर सर्वज्ञ कैसे होगा? ईश्वर के ज्ञान से भक्त को और योगाभ्यास से योगी को सर्वज्ञता प्राप्त होती है।

प्रश्न— जब अर्जुन के सामने भगवान् स्वयं खड़े हैं तब उन्हें समग्र रूप से जानने में क्या रह गया?

उत्तर—जब तक भगवान् में चित्त आसक्त नहीं होता तब तक साधक की दृष्टि में हेय-उपादेय रहता है। किन्तु भगवान् में चित्त आसक्त होने पर भेद नहीं रहता। सभी संसार दृश्यमात्र या भगवत्स्वरूप हो जाता है। इसलिये तभी वह समग्र तत्त्व को जानता है। हेयोपदेय-बुद्धि रहते हुए वह समग्र ब्रह्म को नहीं जान पाता। जो पहले सगुणोपासना करते हैं उन्हीं को ऐसा ज्ञान होता है।

यहाँ 'मय्यासक्तमनाः' और 'मदाश्रयः' दो विशेषण आये हैं। अतः यह श्लोक सगुणोपासना का प्रतिपादन करता है।

संगति— अब उस ज्ञान का महत्व बतलाते हैं—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥२॥

भावार्थ— मैं तुमसे पूर्णतया यह विज्ञान के सहित ज्ञान कहूँगा, जिसे जानने पर संसार में तुम्हें और कुछ भी जानना शेष नहीं रहता।

व्याख्या— सुनकर निश्चय कर लेना ज्ञान है तथा सुनकर प्रत्यक्ष देख लेना (अपरोक्ष अनुभव कर लेना) विज्ञान है।

प्रश्न— जिसको जानने पर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता उसको जानने का यत्न सभी क्यों नहीं करते?

उत्तर— भगवान् की भक्ति करने पर उनके अनुग्रह से सद्गुरु की प्राप्ति होती है, फिर श्रवणादि द्वारा ज्ञान होता है। किन्तु जिस प्रकार सूर्य सर्वत्र है किन्तु अन्धकार से अत्यन्त दूर है उसी प्रकार भगवान् सर्वत्र हैं, किन्तु कामी से अत्यन्त दूर हैं।

संगति— अब अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि ज्ञान कितना कठिन है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।३।।

भावार्थ—हजारों मनुष्यों में से कोई एक सिद्धि (तत्त्वज्ञान) के लिये प्रयत्न करता है और उन प्रयत्न करने वाले सिद्धों में से कोई बिरला ही मुझे तत्त्वतः जान पाता है। अर्थात् ज्ञाननिष्ठा प्राप्त करता है।

व्याख्या—प्रश्न—यहाँ 'मनुष्याणां' क्यों कहा 'प्राणिनां' क्यों नहीं कहा?

उत्तर— ज्ञान में मनुष्यों का ही अधिकार है, उनमें भी मुख्यतया ब्राह्मणों का अधिकार माना जाता है। ज्ञानप्राप्ति के लिये निष्कामता अपेक्षित है, उसमें वासनाहीन का ही प्रवेश हो सकता है। यह गुण ब्राह्मणों में विशेष रूप से होता है। अतः ज्ञान के मुख्य अधिकारी ब्राह्मण हैं; अन्य वर्णों की गौणता है। परन्तु ब्राह्मण वास्तव में वही है जिसकी भेद-दृष्टि निवृत्त हो गयी है।

यहाँ 'सिद्धि' शब्द से तत्त्वज्ञान और 'मां वेत्ति' से ज्ञाननिष्ठा समझनी चाहिये। भगवान् का ज्ञान तो प्रायः उपदेशकाल में ही हो जाता है, परन्तु उन्हें तत्त्वतः तो कोई-कोई ही जानता है। सामान्य ज्ञान तो भक्ति न होने पर भी हो जाता है परन्तु तत्त्वतः ज्ञान तो अनन्य भक्ति होने पर ही होता है। यही बात अध्याय १८ के श्लोक ५५ में

भी 'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः' इस वाक्य द्वारा कही गयी है।

प्रश्न— भगवान् को तत्त्वतः जानना क्यों कठिन है?

उत्तर— भगवान् का एक स्वरूप नहीं है। यदि एक स्वरूप होता तो ज्ञान सुगम होता। परन्तु सब रूप तो भगवान् के ही हैं, तथा उनका कोई भी रूप नहीं है। इस प्रकार उनमें सम्पूर्ण विरुद्ध धर्मों का समन्वय होता है। इसीसे उन्हें जानना कठिन है।

संगति— यहाँ पहले सिद्धान्त कहा गया। अब आगे भगवान् का सविशेष बतलाया जायगा। उनका स्वरूप जानने के लिये प्रकृति का ज्ञान आवश्यक है; अतः पहले अपरा प्रकृति का वर्णन करते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धि रेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥४॥

भावार्थ— भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—यह मेरी आठ प्रकार के भेदों वाली अपरा प्रकृति है।

व्याख्या— इन आठों के कारण क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द तन्मात्राएँ तथा समष्टि अन्तःकरण हैं।

संगति— यह आठ प्रकार की अपरा प्रकृति बतलाकर अब परा प्रकृति बतलाते हैं—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥५॥

भावार्थ— हे महाबाहो! यह अपरा प्रकृति है। इससे भिन्न तुम जीवरूपा मेरी परा प्रकृति जानो, जिससे कि यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया हुआ है।

संगति— अब यह बतलाते हैं कि यह प्रकृति ही सबका कारण है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥६॥

भावार्थ— सम्पूर्ण भूतों का उत्पत्ति-स्थान यह [दोनों प्रकार की] प्रकृति ही है, तथा मैं सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का कारण हूँ--ऐसा तुम जानो।

व्याख्या— 'अहम्' शब्द से यहाँ मायाविशिष्ट ईश्वर कहा गया है। प्रकृति के दो भेद परा और अपरा में हम कार्य-कारण रूपा अपरा प्रकृति को तो जान सकते हैं। किन्तु परा को नहीं जान सकते, क्योंकि वह ईश्वर की शक्ति है और ईश्वर से भिन्न भी नहीं है। वह परा शक्ति ही जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करने वाली है और आत्मा का वहपरमाशक्ति है और उसमें स्वभाव से ही स्थित है—'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च'।

ये दोनों प्रकृतियाँ ब्रह्मा से लेकर कीड़ी पर्यन्त सभी का कारण हैं और आत्मा शुद्ध साक्षीमात्र है। इन प्रकृतियों की अपनी कोई सत्ता नहीं है। सब कुछ मेरी सत्ता से ही हो रहा है। मैं स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत् तथा उसके अभिमानी विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर का भी अधिष्ठान हूँ—ऐसा समझो। जो लोग प्रकृति को भगवान् से भिन्न और नित्य मानते हैं उनका खण्डन करते हुए कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥७॥

भावार्थ— हे धनञ्जय! मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है। सूत में सूत के दानों के समान यह सब मुझमें ही ओत-प्रोत है।

व्याख्या— भेद की सत्ता न होने के कारण केवल मैं ही हूँ। यहाँ दिखाया है कि सृष्टि भगवान् से ही होती है और वे ही वास्तव में सम्पूर्ण सृष्टि हैं। दृश्य तो केवल प्रतीतिमात्र है, वास्तव में तो द्रष्टा और दृश्य सब कुछ वे ही हैं। अतः वे कहते हैं कि सब मुझमें ही ओत-प्रोत है तथा मेरा ही स्वरूप है।

संगति— यहाँ से बारहवें श्लोक तक विराट् का वर्णन है। अगले श्लोक में विभूति रूप से अपनी उपासना बतलाते हैं और यह प्रतिपादन करते हैं कि सब कुछ मैं ही हूँ।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥८॥

भावार्थ— हे कुन्तिनन्दन! जल में मैं रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ, सब वेदों में प्रणव हूँ और पुरुषों में पुरुषार्थ हूँ।

व्याख्या— रस से जल ओत-प्रोत है, अतः वह रस से भिन्न नहीं। प्रकाश से सूर्य और चन्द्रमा ओत-प्रोत हैं, अतः वे प्रकाश से भिन्न नहीं हैं। इसी प्रकार प्रणव से वेद, शब्द से आकाश और पौरुष से पुरुष भिन्न नहीं हैं। जैसे कि मिट्टी से घट और दाहिका शक्ति से अग्नि भिन्न नहीं हैं उसी प्रकार मुझसे चराचर जगत् भिन्न नहीं है। अर्थात् इन सबका निमित्त और उपादान कारण मैं ही हूँ।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥९॥

भावार्थ— मैं पृथ्वी में पवित्र गन्ध, अग्नि में तेज, समस्त प्राणियों में जीवन और तपस्वियों में तप हूँ।

व्याख्या— सबका जीवन अन्न है। अन्न चार प्रकार का होता है—पृथ्वी, जल, तेज और प्राण। पृथ्वी (स्थूल भोग) जो सभी का अन्न है। जल मछली का अन्न है, क्योंकि वह जल के बिना जीवित नहीं रह सकती। तेज चकोर का अन्न है और प्राण समाधिनिष्ठ का। समाधि में प्राण लीन हो जाता है, उस समय ध्यान ही उसका अन्न होता है। अतः अन्न रूप से इन सभी की उपासना होती है। गर्मी सर्दी और वर्षा को सहना तथा चन्द्रायण आदि व्रत तप कहे जाते हैं। तप का फल भी मुझ से ही प्राप्त होता है।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥१०॥

भावार्थ—हे पार्थ! तुम मुझे सब प्राणियों का सनातन बीज जानो। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज (ओज, प्रभाव) हूँ।

व्याख्या— सनातन बीज अर्थात् आदि कारण, क्योंकि मेरा कारण कोई नहीं, क्योंकि श्रुति कहती है—'न चास्य कश्चिज्जनिता न

चाधिपः' (श्वे० ६/९) अर्थात् न उसको कोई उत्पन्न करने वाला है न उसका कोई स्वामी है।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्मविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।११।।

भावार्थ — हे भरत श्रेष्ठ! मैं बलवानों का काम और राग से रहित बल हूँ तथा समस्त प्राणियों में धर्मानुकूल काम हूँ।

व्याख्या— काम-राग से रहित बल अर्थात् स्वार्थ बुद्धि से रहित बल या योग्यता, जैसे मालवीयजी आदि की योग्यता अथवा उन महापुरुषों की शक्ति जो सब प्रकार की सिद्धियाँ होने पर भी भिक्षा माँग कर खाते हैं। धर्मानुकूल काम (स्वभार्या में ऋतुगमन) भी मेरा ही स्वरूप है। काम के समान ही धर्मानुकूल क्रोध, लोभ, मोहादि भी समझने चाहिए। अतः धर्मानुकूल होने पर सन्तानोत्पादन, अर्थोपार्जन और युद्धादि भी मेरी ही उपासना हैं, यदि उनमें स्वार्थ बुद्धि न हो।

संगति— श्लोक ७ से ११ तक कार्य सहित अपनी विभूतियों का वर्णन किया। अब १२वें श्लोक से अपना समग्र रूप बताना आरम्भ करते हैं।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।१२।।

भावार्थ— जो भी सात्त्विक, राजस और तामस पदार्थ हैं उन्हें मुझ से ही उत्पन्न हुए जानो। मैं उनमें नहीं हूँ वे ही मुझ में हैं।

व्याख्या— जैसे सारे लोक-लोकान्तर आकाश में हैं किन्तु आकाश उनसे भिन्न है, जिस प्रकार अपनी कोई सत्ता न होने के कारणस्वप्न स्वप्नदृष्टा में ही है, किन्तु स्वप्न-दृष्टा स्वप्न में नहीं तथा जैसे बादल आकाश में होते हैं आकाश बादलों में नहीं वैसे ही ब्रह्माणादि सत्वगुणी, खटाई-मिर्च आदि रजोगुणी तथा लहसुन-प्याज आदि तमोगुणी पदार्थ सब मुझ से ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि मुझ

से भिन्न उनकी सत्ता नहीं है। इस प्रकार भगवान् अपने सविशेष स्वरूप का प्रतिपादन कर रहे हैं कि तीनों गुण मुझ में हैं मैं उनमें नहीं हूँ क्योंकि वे सत्ता शून्य हैं। जिस प्रकार रज्जु से सर्प का कोई सम्बन्ध नहीं उसी प्रकार चराचर दृश्य का मुझ से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि मैं सब का अधिष्ठान हूँ।

'मैं उनमें नहीं, वे मेरे में हैं' यह अनुभव बार-बार निषेधाकार वृत्ति का अभ्यास करने से होता है। निषेध करने में आर्य समाजियों की हम से भिन्नता है। वे सबका निषेध करके उनकी अलग सत्ता स्वीकार करते हैं और हम निषेध करके केवल अधिष्ठान की ही सत्ता से उनकी सत्ता मानते हैं। वास्तव में देखा जाय तो आर्यसमाजियों का ईश्वर एक पुरुष विशेष ही है, क्योंकि उन्हें योग दर्शन का सिद्धान्त ही मान्य है और उसका लक्ष्य ईश्वर नहीं, समाधि है। किन्तु दृष्टा की स्वरूप में स्थिति तो ईश्वर-प्राप्ति नहीं, समाधि ही है। यह भगवदानन्द नहीं योगानन्द है। यह चित्त की ही एक स्थिति है। इसे तत्पद का शोधन या पञ्चकोश के साक्षी में स्थिति कह सकते हैं। इससे साक्षी की ही सिद्धि होती है, ईश्वर की नहीं। जैसे राज्य के बिना राजा नहीं होता वैसे ही ऐश्वर्य के बिना ईश्वर नहीं होता। ईश्वर से ऐश्वर्य या प्रकृति को अलग कर दें तो शुद्ध चेतन ही रह जाता।

आर्यसमाजी ईश्वर को व्यापक और प्रकृति को भिन्न सत्ता मानते हैं। किन्तु सत्य दो नहीं हो सकते, क्योंकि दो सत्यों का विभाजक रेखा कोई नहीं मिलती और न दो सत्यों का एक आधार ही मिलता है।

प्रश्न— आपके सिद्धान्तानुसार तो उत्पत्ति है ही नहीं, फिर सबको उत्पन्न कैसे मानते हैं?

उत्तर— सबकी उत्पत्ति माया के द्वारा सविशेष ब्रह्म से होती है। जहाँ भी उत्पत्ति का प्रसङ्ग हो वहाँ माया के सहित सविशेष ब्रह्म ही समझना चाहिये।

प्रश्न— 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय' से लेकर 'बलं बलवतां चाहम्' तक इन श्लोकों धर्माविरुद्ध कामादि को भी भगवान् ने अपना रूप

कहा है। और भगवान् के रूपों की उपासना करने का विधान है। तो क्या जिनमें ये गुण हों उनकी उपासना की जाय?

उत्तर— नहीं, जिनमें ये गुण हैं वे स्वयं ही भगवान के उपासक हैं। अर्थात् इन गुणों को धारण करना भी भगवान की ही उपासना है। श्रुतियाँ तो जातवाद और अजातवाद दोनों का ही प्रतिपादन करती हैं। किन्तु जहाँ जातवाद या उत्पत्ति का वर्णन हो वहाँ उपासना समझनी चाहिये और जहाँ अजातवाद हो वहाँ ज्ञान का प्रकरण जानना चाहिये। इसी की पुष्टि अगले श्लोक में करते हैं —

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥१३॥

भावार्थ— [यह संसार त्रिगुणमय है, इसलिये] इन तीनों गुणों से मोहित होने के कारण यह सारा संसार इन गुणों से अतीत मुझ अविनाशी को नहीं जानता।

व्याख्या— अनात्मा में आत्म बुद्धि हो जाना ही मोह है। अतः स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में आवृत पुरुष मुझको नहीं जानते और मुझे न जानना ही सन्तप्त होना है। ऐसे लोग उपस्थ और रसना के अधीन होकर मुझ नित्य शुद्ध में भी विपरीत भावना कर लेते हैं कि मैं देह हूँ। वे यह नहीं जान सकते कि मैं गुणों से परे हूँ।

संगति— इस श्लोक में भगवान् ने अपने स्वरूप का लक्षण कहा। अब अगले श्लोक में माया से तरने का उपाय बतलाते हैं अर्थात् यह बताते हैं कि पदार्थों की आसक्ति कैसे छूटती है —

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥१४॥

भावार्थ— यह मेरी गुणमयी दैवी माया बड़ी कठिनाई से तरी जाती है। परन्तु जो मेरी शरण ले लेते हैं वे इस माया को तर जाते हैं।

व्याख्या— दैवी—देव सम्बन्धी अर्थात् जो बुद्धिगम्य नहीं अलौकिकी है। यह श्लोक एक सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।

भगवान् अर्जुन के सामने खड़े हैं और स्वयं अपनी माया को दुस्तर बताकर यह निर्णय देते हैं कि जो मेरी शरण ले लेता है वही इस माया को पार कर सकता है। तेरहवें श्लोक में तो वे कह चुके हैं कि इस त्रिगुणमयी माया से मोहित पुरुष मुझ अविनाशी को नहीं जान सकते।

यह माया दो प्रकार की है— आसुरी (रजस्तमोमयी) और दैवी (सत्त्वमयी)। इनमें आसुरी माया को तो दैवी माया (भगवद्भक्ति) से तर जाते हैं, किन्तु सत्त्वमयी दैवी माया को तरना बहुत कठिन है। जिस प्रकार काई जल से उत्पन्न होकर जल को ढक लेती है उसी प्रकार दैवी माया (भक्ति निष्ठा या भगवदासक्ति) ईश्वर को ढक लेती है। इसलिये इसके पार जाना बहुत कठिन है। परन्तु बिना भक्ति के ज्ञान भी नहीं होता। अतः इसको तरना बड़ा दुष्कर है। इसे तो कोई तत्त्ववेत्ता ही पार कर सकता है, क्योंकि माया गुणमयी है और स्वरूप गुणातीत है। परन्तु बोध बड़ी कठिनाई से होता है। इसके लिये दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार के पदार्थों को त्यागना पड़ता है। फिर यम-नियमादि साधन करने पड़ते हैं और ईश्वरार्पण-बुद्धि से निष्काम कर्म और उपासना करनी होती है। तब अन्तःकरण शुद्ध होने पर ईश्वर और गुरुदेव की कृपा से बोध होकर स्वरूप में स्थिति होती है। तभी माया से पार होता है।

अध्याय १० श्लोक ९, १० और ११ के अनुसार 'मच्चित्ता मद्गतप्राणा' से लेकर 'नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता' पर्यन्त जो कुछ कहा है उससे भी यही सिद्ध होता है कि पहले निष्काम कर्म और उपासना से अहैतुकी भक्ति होती है। तब भगवान् प्रसन्न होकर वैराग्य करा कर अपनी जिज्ञासा जाग्रत् कर देते हैं। तब गुरुदेव के उपदेश से ज्ञान होने पर साधक माया से पार होता है।

अतः निर्विशेष तत्त्व की प्राप्ति हुए बिना कोई दैवी माया को पार नहीं कर सकता। परन्तु इसके साधन कठिन हैं, इसलिये सब इसके अधिकारी नहीं हैं।

संगति— भगवत्प्राप्ति का प्रयत्न सब लोग क्यों नहीं करते— इस पर भगवान् कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।१५।।

भावार्थ— जिनका ज्ञान माया द्वारा हर लिया गया है और जो आसुरी भाव को आश्रित किये हुए हैं वे पाप कर्म में तत्पर, मनुष्यों में अधम मूढ पुरुष मुझे प्राप्त नहीं कर सकते।

व्याख्या— दुष्कृति—जन्म-मरण के चक्र को पैदा करने वाले सकाम कर्मों में लगे हुए पुरुष, अथवा शास्त्रविरुद्ध कर्म करने वाले विधर्मी या अधर्मरत पुरुष ही दुष्कृति हैं। वे ही नराधम अर्थात् मनुष्यों में अधम तथा मूढ हैं, क्योंकि शास्त्रविरुद्ध कर्म करने से उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है। अथवा विवेकशून्य कर्मकाण्डी ही मूढ हैं, क्योंकि माया द्वारा उनकी सदसद्विवेकवती बुद्धि हर ली गयी है। ऐसी आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य से भजन नहीं बनता। इसलिये वे मुझ सच्चिदानन्द को प्राप्त नहीं कर सकते। यदि इस प्रकार के लोग मुझे प्राप्त नहीं कर सकते तो कौन प्राप्त कर सकेंगे—यह बात अगले श्लोक में बतलाते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।१६।।

भावार्थ— हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! मुझे आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी चार प्रकार के सुकृति लोग भजते हैं।

व्याख्या— जिसे संसार में कोई सहारा दिखायी नहीं देता वह 'आर्त्त' कहलाता है। अथवा द्रौपदी की भाँति जो किसी विपत्ति से आतुर होकर उससे छुटकारा पाने के लिए भगवान् को पुकारता है वह आर्त्त है जिज्ञासु का वास्तविक अर्थ तो यह है कि जो ज्ञान-प्राप्ति का इच्छुक है, अर्थात् जिसे तत्त्वज्ञान की अभिलाषा है, जो भगवान् के तात्त्विक या सर्वश्रेष्ठ स्वरूप को जानना चाहता है। किन्तु यहाँ भक्ति का प्रसङ्ग है, इसलिए प्रह्लाद के समान भगवान् के सगुण स्वरूप का

जिज्ञासु ही समझना चाहिये। जो इहलोक या परलोक के पदार्थ अथवा भोग चाहता है, वह अर्थार्थी है, जैसे ध्रुव। ज्ञानी—जो भगवान् से कुछ भी नहीं चाहता तथा सर्वत्र उन्हें ही देखता है, जैसे सनकादि। इसी से श्लोक १८ में भगवान् उसे अपना आत्मा ही कहेंगे। यहाँ ज्ञानी को भक्त बतलाया गया है अतः जो भगवात्तत्त्व को जानकर भगवान् में अनुरक्त है ऐसी ज्ञानमिश्रा भक्ति वाला महापुरुष समझना चाहिये।

'माम्' का अर्थ यहाँ सगुण ब्रह्म है, क्योंकि भक्तों का इष्ट वही होता है। वर्णाश्रम धर्म का पालन करने से और श्रौतस्मार्त्त कर्म करने से जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है वे शुभ कर्म करने वाले भजनानन्दी पुरुष ही सुकृति हैं। जो भजनानन्दी हैं उनसे कभी पाप कर्म नहीं होता और जो शुभ कर्म करते हैं वे ही भजनानन्दी होते हैं। ऐसे लोग ही अधर्मभीरु कहे जाते हैं।

उक्त चार प्रकार के भक्तों में तीन तो सगुणोपासक होते हैं और ज्ञानी निर्गुण भक्ति करता है, इसे ही श्री शङ्कराचार्य जी ने स्वस्वरूपानुसंधान कहा है। वे कहते हैं—

ज्ञानसाधनसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते।।

अर्थात् ज्ञान की साधन-सामग्री में भक्ति सर्वश्रेष्ठ है। तथा अपने स्वरूप का अनुसन्धान ही भक्ति कही गयी है।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।१७।।

भावार्थ— उन भक्तों में नित्ययुक्त और अनन्य भक्ति वाला ज्ञानी सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय होता हूँ और मुझे भी वह प्रिय होता है।

व्याख्या— ऊपर कहे हुए उन भक्तों में ज्ञानी नित्ययुक्त है। उसकी अनित्य पदार्थों में आसक्ति नहीं होती तथा सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि होती है। इसी से वह एक-भक्ति (अनन्य भक्त) भी है, क्योंकि अन्य

तीन तो कुछ निमित्त लेकर भजन करते हैं, किन्तु ज्ञानी बिना किसी निमित्त के ही निरन्तर भजन करता है। यदि उसमें कोई वासना होती या कोई विशेष निमित्त होता तो उसकी एक भक्ति नहीं हो सकती थी। अथवा मैं अन्य हूँ तथा भगवान् अन्य है— यह भक्ति है और अभेद दृष्टि जिसमें जीव जगत् और भगवान् में कोई भेद नहीं रहता, एक-भक्ति है। इसके सिवाय आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी भक्तों में तो कर्त्तापन रहता है, किन्तु ज्ञानी कर्तृत्व-भोक्तृत्व का बाध कर देता है। वह सबसे अभिन्न होकर भी सबसे असङ्ग होता है— यही उसकी एक-भक्ति है। ज्ञानी से भिन्न जो तीन प्रकार के भक्त हैं वे नित्ययुक्त भी नहीं हो सकते, क्योंकि उनकी पहले इदमाकार वृत्ति होती है और फिर भगवदाकार। इस प्रकार उनमें भेद-दृष्टि रहने के कारण भगवान् से उनका नित्य योग नहीं होता। ज्ञानी का तो भगवान् से भेद नहीं है, इसलिये कभी वियोग न होने के कारण वह नित्ययुक्त है। वह 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा चिन्तन भी नहीं करता, क्योंकि उसे कभी भेद की अनुमति नहीं होती। श्रीअष्टावक्रजी कहते हैं—

येन दृष्टं परं ब्रह्म सोऽहं ब्रह्मेति चिन्तयेत्।
किं चिन्तयति निश्चिन्तो द्वितीयं यो न पश्यति॥

यहाँ भक्ति 'भज् सेवायां' इस अर्थ में नहीं, प्रत्युत अपने-आप में वृत्ति का लगना ही समझना चाहिये। 'नित्ययुक्तः' यह ज्ञानी का विशेषण है। ज्ञान होने पर भी उसमें भक्ति है—यही उसकी विशेषता है।

संगति—यदि नित्ययुक्त होने के कारण ज्ञानी ही श्रेष्ठ है तो क्या अन्य तीन प्रकार के भक्त श्रेष्ठ नहीं हैं? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः सहि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥१८॥

भावार्थ— ये सभी उदार हैं, किन्तु ज्ञानी को तो मैं आत्मा मानता हूँ क्योंकि उस युक्तचित्त ज्ञानी की मुझ अनुत्तम (सर्वश्रेष्ठ) गति परमात्मा में ही आस्था है।

व्याख्या—प्रश्न—अनुत्तम गति क्या है?

उत्तर—मेरा सगुण स्वरूप भी उत्तम है, परन्तु वह अवाधित नहीं है। मेरा शुद्ध स्वरूप अबाधित है, अतः वही अनुत्तम है उससे श्रेष्ठ और कोई नहीं है, इसी से उसे अनुत्तम कहा है। वही ज्ञानियों की गति है, इसलिये ज्ञानी को अनुत्तमगति कहा है। ज्ञानी को आत्मा इसलिये कहा है क्योंकि उसमें और मुझमें कोई भेद नहीं है। जल और तरङ्ग के समान तत्त्वतः हम अभिन्न ही हैं। इसके सिवाय आत्मानन्द में दुःख का भी सर्वथा अभाव है, क्योंकि इसमें दीनता नहीं रहती। ज्ञानी का अपने इष्ट से नित्य संयोग है— दोनों एक ही हैं, अतः ज्ञानी को कभी वियोग का दुःख नहीं होता। उपासना में तो संयोग-वियोग दोनों ही होते हैं, इसलिये दुःख है। आत्मा को लाना नहीं पड़ता, भक्त तो भगवान् को लाता है और वे फिर चले भी जाते हैं। इसलिए अन्य भक्तों की अपेक्षा ज्ञानी श्रेष्ठ है। भगवान् ने यहाँ भक्त तो तीन ही माने हैं, क्योंकि ज्ञानी को तो वे अपना आत्मा कहते हैं—

संगति— इस प्रकार चार प्रकार के भक्तों का वर्णन करके अब अगले श्लोक में विदेह-कैवल्य का स्वरूप बतलाते हैं और यह भी कहते हैं कि यह स्थिति अनेक जन्मों में प्राप्त होती है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।१९।।

भावार्थ— बहुत जन्मों के पश्चात् अन्तिम जन्म में ज्ञानी पुरुष 'सब वासुदेव ही है' इस प्रकार मुझे जानता है। ऐसा महात्मा बहुत दुर्लभ ही है।

व्याख्या— 'बहुत जन्म' का तात्पर्य कम से कम तीन जन्म है। इसके पश्चात् अन्तिम या चरम जन्म ब्राह्मण का होता है। और ब्राह्मण (ब्रह्मवित्) की ही मुक्ति होती है। जब निरन्तर ब्रह्माकार वृत्ति रहे और सम्पूर्ण दृश्य आत्म-सत्ता से भिन्न नहीं है— ऐसा अनुभव हो तब समझना चाहिए कि यह मेरा अन्तिम जन्म है और मैं विदेह-कैवल्य का अधिकारी हो गया हूँ।

जिस प्रकार घट मृत्तिका से भिन्न नहीं है उसी प्रकार तत्त्ववेत्ता को आत्मा से भिन्न कोई सत्ता नहीं भासती। जिस प्रकार घट का नाश होने से घटाकाश महाकाश से भिन्न नहीं है उसी प्रकार शरीर का बाध होने पर जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं है। 'वासुदेवः सर्वम्' कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ जड़ कुछ भी नहीं है, सब चेतन ही है, जैसे कि मिट्टी का ज्ञान होने पर अनेकों पात्र होने पर भी वे सब मिट्टी ही हैं। यही ज्ञान है और ऐसा जानने वाला ही ज्ञानी भक्त है। यह अनुभव आर्त्त, जिज्ञासु या अर्थार्थी भक्त को नहीं होता। इसीलिये यह दुर्लभ है। महात्मा वही है जिसकी बुद्धि की वृत्ति कभी अनात्माकार नहीं होती। ऐसा महात्मा ही अत्यन्त दुर्लभ है। शुकदेव, वामदेव, जडभरत के समान तो कोई बिरले ही सन्त होते हैं। महात्मा के लक्षण अध्याय ८ श्लोक १५, अध्याय ९ श्लोक १३ तथा अध्याय ११ श्लोक ३७ में भी आये हैं। वे सब ठीक ही हैं।

प्रश्न— शुकदेवादिके समान सब महात्मा क्यों नहीं होते?

उत्तर— पन्द्रहवें श्लोक में भगवान् ने कहा ही है कि दुष्कृति और मूढ पुरुष मुझे नहीं पा सकते। मेरी माया से उनका ज्ञान नष्ट हो गया है, इसलिए वे किसी-न-किसी कामना के वशीभूत होकर इन्द्रादि देवताओं की उपासना में लगे रहते हैं और उनसे अपने अभीष्ट भोग पाकर अपने को उतने से ही कृतकृत्य मान लेते हैं। वे मुझे प्राप्त नहीं कर पाते। इसी की पुष्टि अगले श्लोक में करते हैं—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥२०॥

भावार्थ— उन-उन भोगों की कामनाओं से जिनकी विवेक-शक्ति नष्ट हो गयी है वे सकाम पुरुष तत्तत् नियम में आस्था रखकर अपने स्वभाव से प्रेरित हो अन्य देवताओं की उपासना करते हैं।

व्याख्या— जिनकी विवेकशक्ति अर्थात् सत्-असत् का प्रार्थक्य करने वाली बुद्धि की सामर्थ्य नष्ट हो गयी है वे मीमांसक आदि सकाम

पुरुष दूसरे देवताओं की उपासना करते हैं। इस मोह में ही उनके अनेकों जन्म बीत जाते हैं। वे मुझे प्राप्त नहीं होते। उन उपासनाओं के भी दो परिणाम होते हैं—इन्द्रादि देवता तो उनकी कामना पूरी कर देते हैं, किन्तु ब्रह्मा विष्णु आदि उन्हें अपना-अपना धाम दे देते हैं।

संगति— यह श्लोक कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करता है तथा आगामी श्लोक उपासना का है।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।२१।।

भावार्थ— जो-जो भक्त श्रद्धापूर्वक जिस-जिस देव-विग्रह की पूजा करना चाहता है, उसकी उसी-उसी श्रद्धा को मैं पुष्ट कर देता हूँ [क्योंकि मैं अन्तर्यामी हूँ]।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।।२२।।

भावार्थ—उस श्रद्धा से युक्त होकर वह उस देवता की उपासना करता है और मेरे द्वारा ही दिये हुए उन भोगों को वह उस देवता से प्राप्त करता है।

व्याख्या— तात्पर्य यह कि मैं ही उस देवता में उसका प्रेम कराता हूँ और मैं उसे उसके अभीष्ट फल देता हूँ। किन्तु वे फल नाशवान् ही होते हैं—यही बात भगवान् आगे कहते हैं।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।।२३।।

भावार्थ— परन्तु उन अल्प बुद्धि वालों का वह फल नाशवान् ही होता है। देवताओं का पूजन करने वाले देवताओं को और मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं।

व्याख्या— जहाँ मोक्ष का प्रकरण हो वहाँ 'भक्त' शब्द अर्थ जिज्ञासु करना चाहिये और जहाँ भक्ति का प्रकरण हो वहाँ भक्त। यह श्लोक निष्काम उपासना का प्रतिपादन करता है। भगवान् के दर्शन

से भी भगवान् का तत्त्वज्ञान श्रेष्ठ है और उससे भी प्रेम बड़ा है। यहाँ 'यान्ति मामपि' का भाव है कि मेरे भक्त और सब वस्तुएँ तो प्राप्त करते ही हैं, मुझे भी प्राप्तकर लेते हैं। अर्थात् उन्हें दो गुना लाभ होता है। जैसे एक राजा-रानी का दृष्टान्त है। एक बार एक राजा ने विदेश जाते समय अपनी रानियों से पूछा कि वहाँ से लौटते समय मैं उनके लिए क्या लाऊँ। सभी ने अपनी-अपनी इच्छित वस्तुएँ बतला दीं। किन्तु छोटी रानी ने कुछ भी न माँगकर कहा कि मैं तो कुछ नहीं चाहती, आपको ही चाहती हूँ। राजा ने लौटते समय सब चीजें दोगुनी मात्रा में लीं और उन्हें अलग-अलग बँधवा लिया। जब राजधानी में आया तो सब रानियों को उनकी मँगायी हुई वस्तुएँ भिजवा दीं और शेष आधी वस्तुओं को लेकर स्वयं छोटी रानी के महल में आया। अन्य रानियों ने अपने-अपने महल में चलने को कहा तो उनसे कह दिया कि तुमने जो-जो वस्तुएँ मँगायी थीं वे तुम्हें मिल गयीं, छोटी रानी ने और कुछ न माँगकर मुझे ही माँगा था इसलिये मैं वहीं जाऊँगा। इस प्रकार छोटी रानी को और सब वस्तुएँ तो प्राप्त हुईं ही स्वयं राजा भी प्राप्त हुआ। इसी प्रकार जो भगवान् से कुछ न माँगकर निष्काम प्रेम करते हैं उन्हें और सब वस्तुएँ तो मिलती ही हैं, स्वयं भगवान् भी मिल जाते हैं। यही 'मद्भक्ता यान्ति मामपि' का तात्पर्य है। इस श्लोक के एक ही चरण में साधन और साध्य दोनों बता दिये गये हैं। इनमें 'मद्‌भक्ताः' साधन है और 'यान्ति मामपि' साध्य या फल है।

सम्पूर्ण गीता में भक्ति को ही ज्ञान का साधन बतलाया है क्योंकि सब जगह 'भक्ति' शब्द का 'भक्त्या' यह तृतीयान्त ही प्रयोग है, केवल यहीं 'मद्‌भक्ताः' ऐसा प्रथमान्त प्रयोग हुआ है। इस प्रकार भक्ति को स्वतन्त्र साधन यहीं माना है। श्रीरामचरितमानस में भी 'भक्ति स्वतन्त्र सकल गुन खानी' कहकर एक जगह ही भक्ति को स्वतन्त्र कहा है।

संगति—अगले श्लोक में भगवान् अपना स्वरूप बतलाते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।।२४।।

भावार्थ—बुद्धिहीन लोग ही मेरे परस्वरूप को न जानने के कारण सम्पूर्ण प्राणियों के महान् ईश्वर मुझ अव्यक्त को व्यक्त मानते हैं।

व्याख्या— मेरे परभाव अर्थात् शुद्ध स्वरूप को न जानने के कारण मुझे व्यक्त (साकार) या अव्यक्त (निराकार) मानते हैं, क्योंकि मेरा वास्तविक स्वरूप बुद्धि का अविषय है तथा साकार-निराकार दोनों ही बुद्धिगम्य हैं, वेदान्त की दृष्टि में ये दोनों भाव अध्यस्त और नाशवान् हैं। ईश्वर या आत्मा में देह-देही भाव भी नहीं है, अतः वह ध्यान का विषय भी नहीं है, कहा भी है—'देहिदेहविभागोऽयमीश्वरे न प्रवर्तते।'

प्रश्न— 'परंभाव' का क्या अर्थ है?

उत्तर— जो मन-बुद्धि के विषय हैं वे अपर भाव हैं; जैसे— देवभाव, जीवभाव, ईश्वरभाव आदि। और जो सब प्रकार के भावों से परे तथा मन-बुद्धि का अविषय है वह परंभाव है। व्यक्त-अव्यक्त दोनों को एक सत्ता में लाकर परमार्थ वस्तु को दोनों से ही विलक्षण, देखना परभाव है।

जो लोग भगवान् के साकार और निराकार रूपों को अलग-अलग मानते हैं वे भी बुद्धिहीन हैं क्योंकि जैसे पत्थर ही मूर्ति है उसी प्रकार निराकार ही साकार है। हनुमानजी की मूर्ति को भक्त तो हनुमानजी मानते हैं, किन्तु आर्यसमाजी पत्थर ही कहते हैं तथा विचारवान् पत्थर में हनुमानजी और हनुमानजी में पत्थर देखते हैं। 'अबुद्धि' का तात्पर्य बुद्धिहीन नहीं अपितु विवेकहीन है। अध्याय ९ श्लोक ११ में जो 'परं भावभजानन्तो' आया है उसका भी यही आशय है।

संगति— श्लोक २१ से भक्ति का प्रसंग चल रहा है। अब अगले श्लोक में भगवान् यह बतलाते हैं कि लोग मुझे क्यों नहीं जानते—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।।२५।।

भावार्थ—अपनी योगमाया से ढका हुआ मैं सबका प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः मूढ़ लोग मुझ अजन्मा और अविनाशी को नहीं जानते।

व्याख्या— मैं सबके देखने में नहीं आता हूँ। जिस पर ईश्वर, गुरु, शास्त्र और आत्मा की कृपा है वही मुझे देख पाता है। जो इन सबकी कृपा से शून्य है वह मुझे नहीं देख सकता, क्योंकि जो मेरी योगमाया से ढके हुए हैं वे स्वरूप को नहीं जानते, जैसा कि ऊपर श्लोक १४ में भी कहा है।

प्रश्न— आपने जो चार कृपाएँ बतायीं उनका क्या स्वरूप है?

उत्तर—शास्त्र में चार कृपाएँ बतायी हैं—ईश्वरकृपा, शास्त्रकृपा, गुरुकृपा और आत्मकृपा। जो लोग ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा से भगवान् की भक्ति करते हैं भगवान् उन्हें ऐसी बुद्धि देते हैं कि उनके सगुण स्वरूप से उन्हें वैराग्य हो जाता है—यही ईश्वरकृपा है। शास्त्र का तात्पर्य बुद्धि में बैठने लगे— यह शास्त्रकृपा है। योग्य अधिकारी देखकर गुरुदेव स्वीकार कर लें—यह गुरुकृपा है। गुरुदेव जो भी उपेदश करें वह समझ में आ जाय तथा ज्ञान का अभिमान न हो—यह आत्मकृपा है।

मायिक वस्तुओं में प्रीति होना ही माया से ढकना है। यहाँ यह कहा है कि मेरे स्वरूप को मूढ नहीं जानते इससे सिद्ध होता है कि विवेकी जानते हैं। न जानने का एक कारण यह भी है कि जो कुछ दीखता है वास्तव में है नहीं। आत्मा है, परन्तु वह दीखता नहीं। सारा संसार तथा सगुण व निर्गुण ईश्वर परोक्ष है तथा आत्मा अपरोक्ष है। परन्तु हमारे लिये परोक्ष अपरोक्ष और अपरोक्ष परोक्ष बना हुआ है। जो वस्तु अपने से भिन्न है वह तो वस्तुतः सत्ताशून्य है। जो वस्तु आकाश (अभाव) में होती है, वह आकाश रूप ही है। इसी प्रकार भावदृष्टि में तो भगवान् हैं, परन्तु विचार करने पर तो ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता। प्रकाश जिस प्रकार अंधकार का ही विरोधी है और किसी का नहीं, उसी प्रकार ज्ञान से केवल अज्ञान की निवृत्ति होती है; ज्ञान होने पर भी व्यवहार तो बना ही रहता है। अतः ज्ञान हो जाने

पर भी ईश्वर, जीव और माया आदि सभी व्यवहार पूर्ववत् भासता है, परन्तु उसकी सत्ता अपने से भिन्न नहीं होती। यही वेदान्त है। जो इनका अभाव मानते हैं वे तो नास्तिक हैं, वेदान्ती नहीं। अतः स्वस्वरूप होने के कारण ही तत्त्ववेत्ता को ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि ईश्वर से वियोग न होने के कारण उसे ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा भी नहीं होती। एक कारण यह भी है कि ईश्वर की प्राप्ति जीव को ही होती है, आत्मा को नहीं। इसीसे भगवान् को कोई जान भी नहीं पाता—'मां तु वेद न कश्चन'।

संगति— अगले श्लोक में इसी की पुष्टि करते हैं—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥२६॥

भावार्थ— अर्जुन! मैं भूत, भविष्य और वर्तमान को भी जानता हूँ, परन्तु मुझे कोई नहीं जानता।

व्याख्या—प्रश्न—भगवान् ने श्लोक २५ में तो कहा था कि मुझे अविवेकी नहीं जानते। इससे इतना आश्वासन था कि विवेकी तो जानते होंगे। परन्तु यहाँ तो दो टूक बात कह रहे हैं कि मुझे कोई नहीं जानता। इससे तो बड़ा दोष आता है। यदि कोई नहीं जानता तो क्या उपासना व्यर्थ ही है?

उत्तर— 'कश्चन' शब्द का अर्थ यही करना चाहिए कि मेरे भक्तों के अतिरिक्त और कोई नहीं जानता। अथवा शरीर, मन, बुद्धि, प्राण आदि दृश्यमात्र हैं, अतः जड़ होने के कारण ये कोई मुझे नहीं जान सकते।

प्रश्न— भगवान् को कोई भी क्यों नहीं जान सकता?

उत्तर— भगवान् तीनों कालों से परे हैं तथा मनुष्यादि सब काल के अन्तर्गत हैं, क्योंकि जानना तो किसी न किसी काल में ही होता है। अतः काल के अन्तर्गत होने के कारण देहाभिमानी उन्हें कैसे जान सकते हैं। विवेकी देश-कालातीत होता है, इसलिये वही उन्हें

जान सकता है। जब तक 'मैं कुछ हूँ' ऐसा अभिमान रहता है तब तक उन्हें कोई नहीं जान सकते, भले ही वह साक्षात् ब्रह्मा ही हो।

प्रश्न— इससे तो यह सिद्ध हुआ कि जिसमें कुछ भी होने का अभिमान है वह आत्मा को नहीं जान सकता। यदि जान लेता तो भगवान् का यह वाक्य कि 'मुझे कोई नहीं जानता' झूठा हो जायगा। भगवान् के कथन से तो यही ध्वनित होता है कि उन्हें कभी किसी ने नहीं जाना।

उत्तर— बस, यही अर्थ ठीक है कि भगवान् को किसी ने नहीं जाना। अर्थात् आत्मा का ज्ञान न किसी को हुआ, न है और न होगा। जो चीज जानी जाती है वह तो दृश्य होती है। यदि आत्मा का ज्ञान होगा तो वह भी दृश्य हो जायगा और जीव उसका द्रष्टा होगा। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा का ज्ञान होने की चीज नहीं है, वह अनुभवमात्र है—ऐसा जिसे अनुभव है वही उसे जानता है। अतः संसार में तत्त्ववेत्ता कोई नहीं। 'त्तत्त्ववेत्ता' यह शब्द ही नहीं बनता, क्योंकि इससे सिद्ध होता है कि एक तत्त्व है और एक उसे जानने वाला है। यदि दो हों तो 'तत्त्ववेत्ता' सिद्ध हो सकता है। किन्तु शास्त्र तो कहता है—

दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः।
यस्तिष्ठति स तु विद्वन् ब्रह्म न ब्रह्मवित्स्वयम्॥

अर्थात् जो दर्शन (ज्ञान) और अदर्शन (अज्ञान) को त्यागकर स्वयं केवली भाव से स्थित है वह स्वयं ब्रह्म ही है, ब्रह्म को जानने वाला नहीं।

संगति— अब न जानने का कारण बतलाते हैं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥२७॥

भावार्थ— हे शत्रुदमन भरतनन्दन! सृष्टि के आरम्भ से ही इच्छा और द्वेष से होने वाले द्वन्द्व और मोह के द्वारा सम्पूर्ण प्राणी मोह को प्राप्त हो रहे हैं।

व्याख्या— संसार में ब्रह्मा से लेकर चींटीपर्यन्त सभी प्राणियों को इच्छा होती है, इसलिए ज्ञान का कोई अधिकारी नहीं है। इच्छा

से राग, राग से द्वेष और द्वेष से मोह होता है। तथा इच्छा पदार्थों में रमणीयत्व, सत्यत्व और सुखत्व-बुद्धि से होती है। अथवा यों समझो कि मुख्य कारण तो इच्छा है, उसका विरोध करने पर द्वेष होता है। इस प्रकार इच्छा और द्वेष का द्वन्द्व होने पर मोह होता है। शब्दादि पाँच विषय और सुख-दुःख ये सात द्वन्द्व हैं। अथवा सुख-दुःख, मान-अपमान और राग-द्वेष इत्यादि ही द्वन्द्व हैं। इनसे ही मोह होता है।

किन्तु तुम्हें मोह नहीं होगा, क्योंकि तुम परन्तप (इन्द्रियरूपी शत्रुओं का दमन करने वाले) हो। यहाँ अर्जुन को 'भारत' और 'परन्तप' दो विशेषण देकर सम्बोधित किया है। अर्थात् तुम भी—ज्ञान में रत और इन्द्रियजित् हो। इसलिये तुम इस मोह में नहीं पड़ोगे और तुम रहस्य जानने के अधिकारी भी हो।

संगति— अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि कौन साधक मोहमुक्त रहकर भगवान् का भजन कर सकते हैं—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।।२८।।

भावार्थ— जिन पुण्यकर्मा लोगों के पाप समाप्त हो चुके हैं वे ही द्वन्द्व और मोह से छूटकर दृढ़व्रती होकर मुझे भजते हैं।

व्याख्या— जगत् की वासनाएँ ही पाप हैं तथा निष्काम कर्मपुण्य है। जिनके पापों का पुण्य कर्मों के द्वारा अन्त हो गया है वे द्वन्द्व और मोह से मुक्त होकर ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् दृढव्रतपूर्वक मुझे भजते हैं। अर्थात् जीवन्मुक्ति के लिये ब्रह्माकारवृत्ति करते हैं, क्योंकि निर्द्वन्द्व भजन तो बोध के पश्चात् ही हो सकता है। ज्ञान होने से पूर्व तो वे जिज्ञासा के कारण तपते रहते हैं।

मोह विचार से दूर होता है और द्वन्द्व ज्ञाननिष्ठा से दूर होते हैं। इसलिये पहले मोह दूर होगा और फिर द्वन्द्व समाप्त होंगे, क्योंकि द्वन्द्वों की उत्पत्ति मोह से ही होती है। द्वन्द्व-मोह से मुक्ति, दृढ़व्रत और भजन—ये तीनों बातें एक साथ ही होनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि

विवेक होने के पश्चात् जो भजन करता है उसे द्वन्द्व चलायमान नहीं कर सकते क्योंकि विवेक द्वारा उसने अपनी असंगता का अनुभव कर लिया है।

प्रश्न— आप ब्रह्माकार वृत्ति की आवृत्ति पर बहुत जोर देते हैं। अत: यह बतलाने की कृपा करें कि वृत्तियों का स्वरूप क्या है तथा ब्रह्माकार वृत्ति किसे कहते हैं?

उत्तर— वृत्ति का अपना कोई रूप नहीं है। अपने से पृथक् प्रतीत होता ही उसका स्वभाव है। वह जिस विषय में जाती है उसी का रूप धारण कर लेती है और उसी के अनुसार उसका रूप भी देशकालावच्छिन्न जान पड़ता है। वृत्ति के द्वारा विषय का आवरण भंग होता है। इसे वृत्तिव्याप्ति कहते हैं। और चिदाभास से वस्तु का स्फुरण होता है। इसे फलव्याप्ति कहते हैं। किन्तु यह नियम इदंरूप (प्रत्यक्ष रूप) से स्फुरित होने वाले पदार्थों के विषय में है। आत्मा तो कोई परिच्छिन्न और परप्रकाश्य पदार्थ नहीं है। अत: जब सब अनात्मवर्ग का निषेध करके वृत्ति अहमर्थ में पहुँचती है तो उसका कोई परिच्छेद न होने के कारण उससे किसी आकार विशेष का स्फुरण नहीं होता। अनात्म-वस्तुओं का निषेध करते-करते जब वृत्ति अभावाकार होती है तो उसे ही श्रुतिप्रतिपादित शुद्ध बुद्धि कहते हैं। उसी के द्वारा गुरु कृपा से बोध होता है। तत्त्वबोध होते ही फिर अनात्म वस्तु कुछ नहीं रहती। फिर तो समुद्र से तरङ्ग, सूर्य से किरण और मृत्तिका से घट-शरावादि के समान उसे कोई भी वस्तु अपने से भिन्न नहीं जान पड़ती।

प्रश्न—बोध और बोधवृत्ति में क्या अन्तर है?

उत्तर— संसार सत्ताशून्य है— ऐसा अनुभव होना बोध है तथा सत्ताशून्य अनुभव होने पर भी जो उसकी प्रतीति होती है यह बुद्धिवृत्ति है। इस बुद्धिवृत्ति को दूर करने के लिये ही ब्रह्माकार वृत्ति या बोधवृत्ति की आवृत्ति की जाती है।

प्रश्न— ब्रह्माकार वृत्ति कैसे करनी चाहिये?

उत्तर— प्रतीति को अपने से अलग देखना ही ब्रह्माकार वृत्ति है। जहाँ अहंवृत्ति के सहित इष्टाकार वृत्ति रहती है वह उपासना है। परन्तु जहा; केवल अहंवृत्ति है वह बोध है, क्योंकि केवल अहंवृत्ति ही कर्ता के अधीन नहीं होती। इदंवृत्ति कर्ता के अधीन है। देश, काल और वस्तु के साथ अपना कोई सम्बन्ध न हो—यही ब्रह्माकार वृत्ति है। यहाँ से उठकर कहीं अन्यत्र वृत्ति जाय तो वह ब्रह्माकार वृत्ति नहीं। अथवा विवेक-अवस्था में जो अभावाकार वृत्ति है वही ब्रह्माकार-वृत्ति है।

प्रश्न— यदि यह ब्रह्माकार वृत्ति है तो अभावाकार वृत्ति किसे कहेंगे? ब्रह्म तो वृत्ति का अविषय है, वृत्ति से परे है, उसे वृत्ति किस प्रकार ग्रहण करेगी? और यदि ऐसा मानें कि वृत्ति उसे ग्रहण नहीं कर सकती तो उसका ज्ञान कैसे होगा?

उत्तर— अभावाकार वृत्ति से प्रपञ्च सत्ताशून्य भासता है। उससे आवरण भङ्ग हो जाता है। आवरण भङ्ग के पश्चात् स्वयं ही रह जाता है, अत: वही ब्रह्माकार वृत्ति है और उसी से बोध होता है।

प्रश्न— वृत्ति तो कर्ता के अधीन है उससे ज्ञान कैसे होगा?

उत्तर— जब तक अज्ञान है तब तक वृत्ति कर्ता के अधीन है। जब कर्तृत्व-भोक्तृत्व समाप्त हो जाते हैं तो वृत्ति स्वतन्त्र है। जब तक कर्तृत्व-भोक्तृत्व है तभी तक जीवसंज्ञा है, अत: तब तक वृत्ति भी कर्ता के अधीन रहती है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व न रहने पर जो स्वतन्त्र वृत्ति होती है वही ब्रह्माकार वृत्ति है। यह वृत्ति प्रारब्ध समाप्त होने तक रहती है, फिर ब्रह्मस्वरूप हो जाती है। अथवा यों समझो कि जब हम किसी विषय को ग्रहण करते हैं तो वृत्ति विषयाकार होती है। उस समय देह में अहन्ता होती है। किन्तु जब सम्पूर्ण दृश्य को एक सत्ता में देखते हैं तो देह में अहंबुद्धि नहीं रहती, क्योंकि शरीर और कर्ता-भोक्ता भी दृश्य के अन्तर्गत हो जाते हैं तथा अहन्ता देहातीत और कर्तृत्व-भोक्तृत्वशून्य होती है। इसलिये इसको भी ब्रह्माकार वृत्ति ही कहेंगे।

अभावाकार वृत्ति कर्ता के अधीन है, किन्तु ब्रह्माकार वृत्ति कर्ता के अधीन नहीं, क्योंकि वह वृत्ति सार्वभौम अकर्ता-अभोक्ता की है। ब्रह्माकार वृत्ति कर्ता के अधीन नहीं क्योंकि वह स्वयं ब्रह्म है। उस वृत्ति को करने वाला भी ब्रह्म है और उसका विषय भी ब्रह्म है। भेद का द्रष्टा ही कर्ता-भोक्ता होता है। जहाँ द्रष्टा और दृश्य का भेद नहीं रहता वहाँ वह अकर्ता-अभोक्ता होता है। जिस प्रकार ईश्वर की माया ईश्वर से भिन्न नहीं, किन्तु भिन्न जान पड़ती है उसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति ब्रह्म से भिन्न नहीं, किन्तु 'वृत्ति' कहने से भिन्न-सी जान पड़ती है।

संगति— अब अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि वे किस लिए भजन करते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।२९।।

भावार्थ— जो लोग जरा-मरणादि दुःखों से छूटने के लिये मेरा आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं वे उस ब्रह्म, सम्पूर्ण अध्यात्म तथा सम्पूर्ण कर्म को जान लेते हैं।

व्याख्या—जरा-मरण से जन्म, बाल्य, युवा, जरा और मरण—ये पाँचों अवस्थाएँ समझनी चाहिए। इस श्लोक में 'माम्' शब्द सगुण-साकार स्वरूप का ही परामर्श करता है, क्योंकि आगे 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग हुआ है। यदि निर्गुणपरक होता तो 'माम्' शब्द से ही काम चल जाता। यहाँ भगवान् ने केवल भजन से ही ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म की प्राप्ति दिखायी है। इससे जान पड़ता है कि भगवान् के भजन और आश्रय से सभी कुछ मिल जाता है।

संगति— भक्तों को भगवान् के सिवा और कुछ जानने की इच्छा नहीं होती—यह बात अगले श्लोक में बतायी जाती है—

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः।।३०।।

भावार्थ— जो लोग अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के सहित मुझे जानते हैं, निरन्तर संयत-चित्त रहने के कारण वे प्रयाणकाल में भी मुझे जान ही लेते हैं।

व्याख्या— जानना दो प्रकार का है। पहला स्वरूप को जानना और दूसरा सगुण–साकार रूप को जानना। इस श्लोक के पहले चरण में जो 'माम्' शब्द है वह स्व–स्वरूप की ओर संकेत करता है तथा दूसरा 'माम्' सगुण स्वरूप भगवान् का वाचक है। जो अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म को, तीनों गुणों को, तीनों कालों को तथा जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं को अर्थात् सम्पूर्ण त्रिपुटियों को ब्रह्मस्वरूप देखते हैं, वे ही अन्त–काल में ऐसा अनुभव करते हैं कि सम्पूर्ण दृश्य मैं ही हूँ। वे ही युक्तचित्त हैं। यह पहले 'माम्' का अर्थ है। दूसरे 'माम्' का अर्थ स्वयं भगवान् कृष्ण है। इसका तात्पर्य यह है कि जो श्रीकृष्ण को भजते हैं उन्हें ऐसा अनुभव होता है कि सब कुछ मैं ही हूँ। अथवा अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ मैं हूँ—यह पहले 'माम्' का अर्थ है तथा सम्पूर्ण दृश्य मैं हूँ—यह दूसरे 'माम्' का अर्थ है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
ज्ञान–विज्ञान–योगो नाम सप्तमोऽध्यायः॥७॥



ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

अथ अष्टमोऽध्यायः

संगति— पिछले अध्याय के अन्त के श्लोक २९ और ३० में भगवान् ने युक्तचित्त सिद्ध पुरुष के लिए जो सात बातें जानने योग्य बतलायी हैं उन्हीं के अनुसार अगले दो श्लोकों में अर्जुन भगवान् से सात प्रश्न करते हैं।

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।।१।।

भावार्थ—अर्जुन बोले—हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, कर्म क्या है, अधिभूत क्या है और अधिदैव क्या कहलाता है?

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।।२।।

भावार्थ— मधुसूदन! इस शरीर में अधियज्ञ कौन और किस प्रकार है तथा नियतात्मा (इन्द्रियनिग्रहवान् अथवा निरन्तर भजन करने वाले पुरुषों) के लिये आप किस प्रकार जानने योग्य हैं?

श्रीभगवान उवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।।३।।

भावार्थ— श्रीभगवान् ने कहा— परम अक्षर ब्रह्म है, स्वभाव अध्यात्म है भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाला विसर्ग (श्रौत-स्मार्त यज्ञ) कर्म नाम वाला है।

व्याख्या— ब्रह्म भगवान् को भी कहते हैं, परन्तु यहाँ तो शुद्ध ब्रह्म ही को कहा गया है, क्योंकि—'ब्रह्म' शब्द से एक शुद्ध अविनाशी

सत्ता ही सूचित होती है। फिर जैसे एक बीज से वृक्ष, फल आदि होते हैं। वह एक शुद्ध चैतन्य ही उपाधि-भेद से भगवान्, ईश्वर, जीव आदि अनेक नामों से कहा जाता है। सम्पूर्ण रूपों में भी वही है। वही परम अविनाशी है और वह अविनाशी विनाशी नाम रूपों में भी भास रहा है। अर्थात् असत् जड़ दुःख रूप चराचर दृश्य होकर भी वही भास रहा है। किन्तु विचार दृष्टि से सम्पूर्ण भूत क्षर (नाशवान) हैं और स्वस्वरूप साक्षी अक्षर है। पञ्च कोशों का बाध होने पर वही परम अक्षर ब्रह्म रूप से जाना जाता है। परन्तु आनन्दमय कोश के रहने पर भी ज्ञाता और ज्ञेय का भेद रहता है। इस भेद की निवृत्ति आनन्दमय कोश का भी निषेध करने पर होती है। परन्तु वास्तविक त्याग तो त्याग के अभिमान का भी त्याग करने पर होता है। यदि निर्विकल्प समाधि का भी अभिमान रहे तो जीव भाव की निवृत्ति नहीं होती। अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोशों का बाध होने पर भी कर्ता-भोक्तापन रहता है, क्योंकि इनका निषेध करने वाली अविद्यावृत्ति (जीवभाव) है। जब मायावृत्ति से अविद्यावृत्ति का निषेध होता है तो विज्ञानमय कोश का बाध होने पर कर्तापन तो नहीं रहता, किन्तु भोक्तापन रहता है। यह भोक्तापन आनन्दमय कोश का निषेध होने पर निवृत्त होता है, तब स्वरूप-स्थिति होती है।

प्रश्न— माया-वृत्ति से तो विज्ञानमय कोश का निषेध होता है फिर आनन्दमय कोश की निवृत्ति किस वृत्ति से होती है तथा कर्ता-भोक्तापन एक ही हैं या भिन्न-भिन्न?

उत्तर— कर्ता-भोक्तापन तो एक वृत्ति के दो रूप हैं। रजोगुण की प्रधानता के कारण क्रियात्मक होने पर वह कर्ता कही जाती है तथा सत्त्वगुण की प्रधानता के कारण शान्त एवं संवेदनामयी होने पर उसे ही भोक्ता कहा जाता है। जब क्रिया शान्त हो जाती है तो एकाग्रता होने से आनन्द प्रवाहित होने लगता है। उसमें कोई हलचल नहीं होती, इसलिये कर्तृत्व न रहने पर भी भोक्तृत्व रहता है क्योंकि उस

आनन्द का भोक्ता तो रहता ही है। जब आनन्द का भी निषेध होने पर ब्रह्माकार वृत्ति होती है तब स्वरूपस्थिति कही जाती है।

प्रश्न— आनन्द का निषेध करने वाली तो निषेधाकार वृत्ति होगी, उसे ब्रह्माकार वृत्ति क्यों कहते हैं?

उत्तर— सबका निषेध करने पर जान पड़ता है कि जिसका निषेध किया है वह सब असत्, जड़ और अनित्य है तथा निषेध करने वाला सत्-चित् और नित्य तत्त्व है। तब गुरुदेव कहते हैं 'तत्त्वमसि' अर्थात् वह तत्त्व ही तू है। तब शिष्य को अनुभव होता है 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ। यही ब्रह्माकार वृत्ति है और यह एक बार ही होती है, बार-बार नहीं। बार-बार तो निषेधाकार वृत्ति ही की जाती है जिसका लक्ष्य जीवन्मुक्ति का विलक्षण सुख है। पञ्चभूत के साक्षी का भेद बना रहता है। इस भेद की निवृत्ति गुरुदेव द्वारा महावाक्य का उपेदश पाने पर ही होती है। अतः उसे ब्रह्माकार वृत्ति कहा जाता है और यही बोधवृत्ति है। इससे सब प्रकार के भेद की निवृत्ति हो जाती है। यह वृत्ति एक बार ही उदित होती है।

स्वभाव का अर्थ है स्वसत्ता। स्व (अपना) भाव (संकल्प) अर्थात् जिसमें अपनेपन की भावना हो। इसी को जीव या अपनी प्रकृति भी कहते हैं। अर्थात् जो वास्तव में तो अपना-आप नहीं है, किन्तु अपना-आप जान पड़ता है। इस प्रकार आत्मा और अनात्मा की एकता हो जाना ही जीवत्व है। तथा इनका अलग-अलग हो जाना ही विवेक है। दूध और जल को अलग-अलग करने वाला जैसे हंस होता है वैसे ही जड़ और चेतन को अलग-अलग करने वाला 'परमहंस' कहलाता है, कपड़े रंगने वाला नहीं। विवेकी ही परमहंस है और विवेक ही अध्यात्म विद्या है।

पञ्चभूतों से शरीर बनता है और शरीर के उद्‌भव (उत्पत्ति) के लिये विसर्ग (यज्ञादि द्वारा त्याग) किया जाता है। इसी का नाम 'कर्म' है। अर्थात् पहले को बिगाड़ कर नया बनाना ही कर्म है; जैसे नवीन भोजन बनाना, नवीन वस्त्र धारण करना, स्नान करना अथवा

सन्तानोत्पत्ति के लिये यज्ञादि करना। जहाँ भी 'करना' होगा वहाँ कुछ ग्रहण करना और कुछ त्यागना ही होगा। इसी का नाम 'कर्म' है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥४॥

भावार्थ— हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! शरीरादि नाशवान् पदार्थ ही अधिभूत हैं, पुरुष ही अधिदैव है और इस देह में 'मैं' ही अधियज्ञ हूँ।

व्याख्या— यहाँ जीव को ही पुरुष कहा है और वही अधिदैव (बड़ा देवता) है। सबका अन्तर्यामी जो मैं हूँ वही अधियज्ञ है। अर्थात् स्थूल शरीर और विराट् तो अधिभूत है, सूक्ष्म शरीर और हिरण्यगर्भ अधिदैव है तथा कारण शरीर और अन्तर्यामी ईश्वर (अव्याकृत) ही अधियज्ञ है। इनसे पृथक् तुरीय (चौथा) शुद्ध ब्रह्म है; जो इन सबका अधिष्ठान है। अर्जुन को देहधारियों में श्रेष्ठ इसलिये कहा, क्योंकि उसने बहुत बड़ा प्रश्न किया है।

प्रश्न— यहाँ तक छः प्रश्नों के उत्तर हो गये अब अगले श्लोक में सातवें प्रश्न का उत्तर देते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥५॥

भावार्थ— तथा जो अन्तकाल में मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है वह मेरे भाव को ही प्राप्त होता है—इसमें सन्देह नहीं।

व्याख्या— इसी प्रकार जो संसार का चिन्तन करते हुए शरीर छोड़ते हैं उन्हें संसार की प्राप्ति होती है। अध्याय ७ श्लोक २३ के अनुसार जो जिसका चिन्तन करते हैं उन्हें उसी की प्राप्ति होती है। इस श्लोक में जो 'मद्भाव' शब्द है उसका अर्थ 'ब्रह्मभाव' नहीं है, क्योंकि शुद्ध-ब्रह्म भाव की वस्तु नहीं है। भाव या चिन्तन तो सगुण का ही होता है। अतः भगवान् कहते हैं कि मेरा चिन्तन करने वाले भृङ्ग-कीट न्याय से मेरे स्वरूप को ही प्राप्त होते हैं।

संगति— इसी की पुष्टि अगला श्लोक करता है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥६॥

भावार्थ— हे कुन्तीपुत्र! पुरुष अन्तकाल में जिस-जिस भी भाव का स्मरण करते हुए [अर्थात् जिस वासना को भी लेकर] शरीर छोड़ता है उसी भाव में भक्ति होने के कारण उसी को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— मरणकाल में उसी क्षण किसी वस्तु का विशेष चिन्तन करने से वासनावश वही सामने आ जाती है, जैसे विद्युत-केन्द्र में सञ्चित विद्युत हजारों मील से बटन दबाते ही तत्काल आ जाती है।

प्रश्न— क्या जिसमें हमारा राग अधिक है हम मर कर वही हो जाते हैं?

उत्तर— हाँ, जिसमें हमारा राग होता है उसी की हमें प्राप्ति होती है। परन्तु यदि राग पूर्ण हो तो आकृष्ट करके उसे भी अपने अनुरूप बनाया जा सकता है; जैसे उच्चकोटि के भक्तगण जिस रूप में भगवान् की भावना करते हैं उसी रूप में भगवान् उनके सामने प्रकट हो जाते हैं।

प्रश्न— राग क्या है और उसकी निवृत्ति कैसे होती है?

उत्तर— परिणाम को न सोचकर किसी भी वस्तु या व्यक्ति में सुख की लालसा से अत्यन्त आकृष्ट हो जाना ही राग है। संसार में मुख्य रोग यही है। इसीके कारण मनुष्य में अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इस राग की निवृत्ति भी राग से ही होती है। यदि श्री भगवान् में राग (प्रेम) हो जाय तो स्वयं ही संसार का राग निवृत्त हो जाता है।

प्रश्न— क्या भक्त और ज्ञानी में भी राग-द्वेष रहते हैं?

उत्तर— जो भक्त भगवत्प्रेम में मग्न रहते हैं उनकी सांसारिक वस्तुओं में उपेक्षा रहती है। संसार की उन्नति या अवनति की ओर उनकीदृष्टि ही नहीं जाती। वे तो निरन्तर भगवत्प्रेम में मस्त रहते हैं।

संसार में उनका न राग होता है न द्वेष। वे दुःख को भी भगवान् की देन ही मानते हैं और उसे प्रसन्नता से सहन करते हैं। उनका भोजनादि व्यवहार भी भगवत्प्रेम के लिए ही होता है।

ज्ञानी में तो राग-द्वेष की सत्ता ही नहीं रहती, क्योंकि जहाँ अहन्ता-ममता रहती हैं वहीं राग-द्वेष रहते हैं। जब अहन्ता-ममता नहीं तो राग-द्वेष कैसे रहेंगे। जिसमें राग-द्वेष हों उस ज्ञानी को तो दूर से ही नमस्कार करो। राग-द्वेष का सर्वथा अभाव तो ज्ञानी में ही होता है। किन्तु आजकल तो राग-द्वेष को रखते हुए भी लोग ज्ञानी बने रहते हैं। राग-द्वेष तीन प्रकार के होते हैं। उनकी उपमा तीन प्रकार की लकीरों से दी जाती है; जैसे— पत्थर की लकीर, बालू की लकीर और पानी की लकीर। संसारी मनुष्यों के राग-द्वेष पत्थर की लकीर के समान होते हैं। वे जन्मभर दूर नहीं होते। उपासकों के राग-द्वेष बालू की लकीर की भाँति होते हैं; जब प्रेम की आँधी चलती है तो वह लकीर मिट जाती है। तथा ब्रह्मवेत्ता के राग-द्वेष पानी की लकीर के समान होते हैं। पानी की लकीर तो उसी समय मिट जाती है। इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता का राग-द्वेष तो दूसरे क्षण तक भी नहीं ठहरता।

प्रश्न— सुना है राग-द्वेष तो मन के धर्म हैं, इसलिए यह आवश्यक नहीं कि ज्ञानी के राग-द्वेष निवृत्त हो ही जायँ।

उत्तर— 'राग-द्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन' इस वाक्य का तात्पर्य है कि मन तुमसे पृथक् है। किन्तु यदि उसकी पृथक्ता का ठीक-ठीक अनुभव हो तो मन निःसत्त्व हो जायगा। तब तो उसमें राग-द्वेष होंगे ही नहीं। ये तो अविवेक से ही होते हैं। राग-द्वेष तो न भक्त को होते हैं न ज्ञानी को। भक्त प्रत्येक विधान में भगवान् का हाथ देखता है और ज्ञानी उसे प्रारब्ध भोग समझता है। इसलिये दोनों ही में राग-द्वेष की सत्ता नहीं होती है।

प्रश्न— राग-द्वेष की निवृत्ति का उपाय क्या है? क्या विवेक से ही इनकी निवृत्ति हो जाती है?

उत्तर— राग-द्वेष की सर्वथा निवृत्ति केवल विवेक से नहीं होती। विवेक से तो राग-द्वेष-निवृत्ति की कुञ्जी मिलती है। इनकी पूर्ण निवृत्ति तो भगवत्प्रेम या आत्मरति से ही होती है। परन्तु द्वेष को जीतना उतना कठिन नहीं जितना राग को जीतना है। निन्दा को जीतना उतना कठिन नहीं है जितना स्तुति को जीतना है। स्तुति भी सामने की जीतनी उतनी कठिन नहीं जितनी पीछे की कठिन है। कोई हमारी स्तुति कर रहा है और हम आ गये। तब उसको सुनकर सावधान रहना कठिन है। इनको जीतने का उपाय अपने इष्ट में प्रीति होने के सिवा और कोई नहीं है। राग-द्वेष से बुरा और कुछ नहीं है। यह वास्तविकता का ज्ञान भी नहीं होने देते। जिसमें हमारा राग होता है उसके दोष भी गुण दिखायी देते हैं और जिसमें द्वेष होता है उसके गुणों में भी दोषों का भास होता है। इस प्रकार इनके कारण गुण अवगुण और गुण दिखायी देने लगते हैं। अतः इनसे निस्तार पाने के लिये हमें निरन्तर भगवत्प्रेम या आत्मनिष्ठा को बढ़ाने का ही प्रयत्न करना चाहिए। यही बात अगले श्लोक से कही जाती है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।।७।।

भावार्थ— अतः हर समय निरन्तर मेरा ही स्मरण करो और युद्ध करो। मन और बुद्धि को मुझमें अर्पित कर देने पर तुम निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होगे।

व्याख्या— प्रश्न— भक्त तो काम करते हुए भगवान् का स्मरण कर सकता है, परन्तु ज्ञानी किस प्रकार चिन्तन करता है? क्या वह असङ्ग वृत्ति करता रहता है?

उत्तर— बोधवान् असङ्ग वृत्ति नहीं करता, क्योंकि असंगता का तो उसने पहले ही अनुभव कर लिया है। अतः बार-बार उसे करने की आवश्यकता नहीं है। उसे तो यही दृढ़ अनुभव रहना चाहिए कि सम्पूर्ण प्रपञ्च और उसका व्यापार मुझसे भिन्न नहीं है, सब मेरी ही दृष्टि का विलास है।

प्रश्न— मन और बुद्धि का अर्पण क्या है?

उत्तर— यह निश्चय कर लेना कि मेरा इष्ट यही है—बुद्धि का अर्पण है और हर समय इष्ट का ही चिन्तन करना मन का अर्पण है।

संगति— अगले श्लोक में इसी की पुष्टि करते हैं तथा अपनी प्राप्ति का साधन भी बतलाते हैं।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।८।।

भावार्थ— हे पार्थ! साधक अभ्यास और योग से युक्त कहीं अन्यत्र न जाने वाले निश्चल चित्त से मेरा निरन्तर चिन्तन करता हुआ परम दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— किसी एक काम को लगन के साथ बार-बार करना ही अभ्यास है। अभ्यास से बड़े-बड़े दोषों का भी सुधार हो जाता है, अतः निश्चल चित्त से अव्यभिचारिणी भक्ति करे। ऐसा नहीं कि दो माला एक मन्त्र की जपी और दो दूसरे की। निरन्तर एक ही प्रकार का चिन्तन होना चाहिये। अभ्यास और योगयुक्त चित्त से लगातार अनुचिन्तन होने पर ही परम पुरुष की प्राप्ति होती है। इस श्लोक में अभ्यास पर बहुत जोर दिया है। इसके लिए तीन बातें कही गयी हैं—'योगयुक्तेन', 'नान्यगामिना' और 'अनुचिन्तयन्'।

'दिव्य पुरुष' शब्द से यहाँ सगुण, निर्गुण और शुद्ध तीनों ब्रह्म लिये जा सकते हैं। अपनी-अपनी निष्ठा के अनुसार तीनों ही दिव्य हैं। यदि कोई एक को परम पुरुष मानता है और अन्य को भावनामात्र समझता है तो यह उसकी भूल ही है। स्वप्न की सृष्टि में जड़-चेतन या सत्य-असत्य में तात्त्विक भेद नहीं होता, सब स्वप्न द्रष्टा का ही दृष्टि-विलास होता है। या तो सभी दिव्य हैं या सभी भावनामात्र हैं।

यह श्लोक किसी मत का बाधक नहीं है। अगले श्लोक में इस परम पुरुष का लक्षण बतलाते हैं—

कविं पुराणमनुशासितार–
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप–
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।।९।।
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।१०।।

भावार्थ— जो पुरुष प्राण-प्रयाण के समय प्राणों को भले प्रकार भ्रूमध्य में स्थापित कर भक्तिपूर्वक और योगबल से एकाग्र मन से उस कवि (सर्वज्ञ), पुरातन, सबके अनुशासक, अणु से भी अणु सबको धारण करने वाले, अचिन्त्य रूप, सूर्य के समान प्रकाशस्वरूप और अज्ञानान्धकार से अतीत परम पुरुष का निरन्तर स्मरण करता है, वह उस दिव्य पुरुष को ही प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या— कवि-सब ओर से देखने वाला अथवा प्राणिमात्र के हृदय में विराजमान होकर उनके शुभाशुभ कर्मों को जानने वाला। पुराण-सबका आदिकारण। अनुशासिता—सबका अनुशासन करने वाला, जिसके भय से सूर्य चन्द्रमा आदि भी अपने-अपने व्यापारों में लगे हुए हैं तथा सब के शुभाशुभ कर्मों का फल देने वाला है। अणोरणीयान्—इसके साथ 'महतो महीयान्'—भी समझना चाहिए। अर्थात् जो अणु से अणु और महान् से महान् है। धाता-सबका धारण-पोषण करने वाला। अचिन्त्यरूप—निर्विशेष होने के कारण जिसके स्वरूप का चिन्तन नहीं हो सकता। आदित्यवर्ण-सूर्य के-से वर्णवाला, अर्थात् प्रकाश स्वरूप। तमसः परस्तात्—अन्धकार या अज्ञान से परे। भगवान् अचिन्त्य क्यों है? क्योंकि चिन्तन भाव या अभाव का हो सकता है और वे इन दोनों के आधार हैं, इसलिये अचिन्त्य हैं, किन्तु सगुण रूप में वे चिन्त्य भी हैं। श्री गोसाई जी कहते हैं—

अगुण अनाम अलेख एक रस। राम सगुन भये भगत प्रेम बस।।

उस परम पुरुष का जो स्मरण करता है तथा अन्तकाल में योग बल से इन्द्रियों को वश में करके भोहों के बीच में प्राणों को भले प्रकार स्थित करके निश्चल मन से ध्यान करता है वह उसी को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार का चिन्तन वही कर सकता है जिसने प्राण, बुद्धि को अपने अधीन कर लिया है।

प्रश्न— भ्रूमध्य में प्राण रोकने का क्या आशय है?

उत्तर— यह चित्त को एकाग्र करने की एक प्रक्रिया है। प्राण को रोक कर तो सभी बैठ सकते हैं। परन्तु यहाँ भक्ति-समन्वित योग का वर्णन है। दीर्घकाल से अभ्यास करने वाले का प्राण तो सिद्धासन लगाकर बैठने से ही सुषुम्ना में चला जाता है। उसके पूर्व और पश्चिम दो मार्ग हैं। पश्चिम मार्ग में वायु खुल जाने से तीव्र वैराग्य की जागृति होती है और फिर षट्चक्र भेदन करे समाधि की प्राप्ति होती है। किन्तु पूर्व मार्ग में वायु खुलने से वैराग्य ढीला पड़ जाता है। परमार्थ के तीन मार्ग हैं—योग, भक्ति और ज्ञान। किसी में ये तीनों मार्ग पाये जाते हैं, किन्हीं में दो और किन्हीं में एक ही मार्ग खुलता है।

संगति— उपर्युक्त श्लोकों में भक्ति और योग दो मार्गों का वर्णन हुआ है। अब अगले श्लोक में ज्ञान का वर्णन है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।।११।।

भावार्थ— वेद को जानने वाले जिसे अक्षर (अविनाशी) ब्रह्म कहते हैं वीतरागी यति जिसमें अभेद भाव से प्रवेश करते हैं, और जिसकी प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस पद का मैं तुमसे संक्षेप में वर्णन करूँगा।

व्याख्या— 'वीतरागा विशन्ति' अर्थात् निरन्तर अभ्यासी और वैराग्यवान् ही उस परम पुरुष में प्रवेश पा सकते हैं। ब्रह्मचर्य का आचरण इसलिए करते हैं जिससे उस परम पद को ग्रहण करने की शक्ति बनी रहे।

संगति— अब हठयोगी के प्राण त्याग की प्रक्रिया बतलाते हैं—

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।१२।।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।१३।।

भावार्थ— जो सम्पूर्ण इन्द्रिय-द्वारों को रोक कर, मन को हृदय में स्थापित कर, प्राणों को मूर्धा में ठहरा कर तथा योग-धारणा में स्थित होकर ॐ इस एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण करते तथा मेरा निरन्तर स्मरण करते हुए देह को त्याग कर जाता है, वह परम गति को प्राप्त होता है।

व्याख्या— यह प्रक्रिया उनके लिये है जो योग-मार्ग से देहत्याग करते हैं। यहाँ मन, प्राण और शरीर का निरोध बतलाया है। इसमें ध्यान योग की ही प्रधानता है। 'व्याहरन्'-बोलते हुए और 'अनुस्मरन्'- निरन्तर स्मरण करते हुए —इन दोनों शब्दों का प्रयोग होने से जान पड़ता है कि वह जप और ध्यान दोनों करता है।

प्रश्न— क्या जप और ध्यान दोनों एक साथ हो सकते हैं?

उत्तर— हाँ, जैसे हम तुमको देख भी रहे हैं और बातें भी कर रहे हैं।

संगति— यहाँ योग का विषय समाप्त हुआ। यह बहुत कठिन मार्ग है। अब आगे भगवान् सुगम मार्ग बतलायेंगे।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।१४।।

भावार्थ— हे पार्थ! जो पुरुष अनन्यचित्त से मेरा निरन्तर स्मरण करता है उस नित्ययुक्त योगी को मैं सुलभ हूँ।

व्याख्या— अनन्यचित्त का भाव है एकनिष्ठ होकर अथवा सच्चिदानन्द से भिन्न अन्य सत्ता का अभाव देखते हुए। 'सुलभ' शब्द गीता में यहाँ के सिवाय और कहीं नहीं आया। इससे सिद्ध होता है कि भगवान् को सुलभता से प्राप्त करने का एकमात्र साधन नित्य निरन्तर अभेद भाव से भजन करना ही है।

संगति— अगले श्लोक में इसकी फल-प्राप्ति बतलाते हैं—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥१५॥

भावार्थ— मुझको प्राप्त होकर वे महात्मा दुःखालय और अनित्य संसार में पुनः जन्म ग्रहण नहीं करते, क्योंकि वे परमा सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त हो जाते हैं।

व्याख्या— जो दैवी सम्पत्ति सम्पन्न होते हैं वे ही महात्मा कहे जाते हैं। दैवी सम्पत्ति के आश्रय से ही वे मुझे प्राप्त करते हैं। ऐसे महापुरुष पुनः जन्म नहीं लेते, क्योंकि वे वासनाशून्य होते हैं। 'महात्मा' शब्द अध्याय ७ श्लोक १९ में, अध्याय ९ श्लोक १३ में और अध्याय ११ श्लोक ३७ में भी आया है। वहाँ इसका प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है। जन्म न होना सिद्धि है और मुझे प्राप्त हो जाना परम सिद्धि है। दुःखालय और अशाश्वत शब्दों से व्यक्त होता है कि वे मर्त्यलोक में नहीं आते, तो ऐसी शङ्का हो सकती थी कि यदि इस लोक में नहीं आते तो अन्य लोकों में घूमते रहते होंगे। इसी का निवारण भगवान् अगले श्लोक में करते हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥१६॥

भावार्थ— हे अर्जुन! ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी लोकों से पुनः लौटना पड़ता है। किन्तु हे कौन्तेय! मुझे प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता।

व्याख्या— इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में सकाम भक्ति का फल दिखाया है और उत्तरार्द्ध में निष्काम भक्ति का। यदि लोकादि की भावना रहेगी तो अन्त में लौटना ही पड़ेगा, चाहे कितना ही समय लग जाय। किन्तु तत्त्वज्ञान या भगत्वप्राप्ति होने पर नहीं लौटना पड़ता। निष्काम भक्ति ज्ञानी में ही हो सकती है। ज्ञान से पूर्व जो निष्काम कर्म या निष्काम उपासना की जाती है वह वास्तविक नहीं होती। उनमें तो निष्कामता का भाव ही रहता है। ज्ञान होने पर जब सब कुछ अपना या भगवान् का स्वरूप ही हो जाता है तब कुछ भी अप्राप्त नहीं रहता। और जिसे कुछ भी अप्राप्त नहीं है वह कामना किसकी करेगा?

संगति— अगले श्लोक में ब्रह्मा के दिन–रात्रि का परिमाण बताते हैं–

सहस्त्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्त्रान्तं तेऽहोरात्रविदो जनाः॥१७॥

भावार्थ— जो लोग एक सहस्त्र युगपर्यन्त ब्रह्मा का दिन और [इतनी ही] रात्रि जानते हैं वे ही दिन–रात्रि को जानने वाले हैं।

संगति— अगले श्लोक में सृष्टि के उत्पत्ति और प्रलय बतलाते हैं–

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥१८॥

भावार्थ— सम्पूर्ण व्यक्त ब्रह्मा का दिन आने पर अव्यक्त (प्रकृति) से उत्पन्न हो जाते हैं। तथा रात्रि आने पर सब उस (माया) में लीन हो जाते हैं।

व्याख्या— जो वस्तु अभाव से उत्पन्न होती है वह वास्तव में होती नहीं, क्योंकि वह अभावरूप ही होती है। वेदान्त में ब्रह्मा के अज्ञान या अपने स्वरूप को न जानने से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानी गयी है। अतः वह वास्तव में है नहीं। यद्यपि शुद्ध ब्रह्म, ईश्वर और माया तीनों ही 'अव्यक्त' कहलाते हैं। परन्तु यहाँ तो इसका अर्थ 'माया' ही

है। माया, कारण, प्रकृति अव्याकृत, अविद्या और अज्ञान—ये सभी शब्द पर्यायवाची हैं।

संगति—यही भाव अगले श्लोक में अधिक स्पष्ट किया गया है—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥१९॥

भावार्थ— हे पार्थ! यह भूत-समुदाय से उत्पन्न हो-होकर रात्रि आने पर विवश-सा होकर उसी में लीन हो जाता है। तथा दिन आने पर पुनः उत्पन्न हो जाता है।

व्याख्या— प्रश्न— सोलहवें श्लोक पर्यन्त मुक्ति का प्रसंग चला आ रहा था। फिर बीच में ब्रह्मा के दिन आदि का व्यर्थ वर्णन क्यों करने लगे?

उत्तर— यह वर्णन इसलिये किया गया है कि जब इतनी बड़ी आयु वाला ब्रह्मा भी अन्त में लीन हो ही जाता है तो हम जैसे क्षुद्र मनुष्यों की तो बात ही क्या है। इस प्रकार वैराग्य बढ़ाने के लिये ही ये बीच के वर्णन किये गये हैं, क्योंकि संसार से वैराग्य होने पर ही भगवान् में अनुराग होता है। इसीसे अठारहवें श्लोक में अव्यक्तसे ही संसार की उत्पत्ति बतायी है। 'अव्यक्त' का अर्थ ब्रह्म भी है, परन्तु यहाँ तो माया ही समझना चाहिये। माया से उत्पन्न होना ऐसा ही है जैसे आकाश से बादलों का उत्पन्न होना। अतः यदि संसार अभाव-रूपा माया से उत्पन्न हुआ है तो अभाव रूप होने के कारण वास्तव में है नहीं।

संगति— अब यह दिखलाते हैं कि इस भावाभावरूप संसार से अतीत जो ब्रह्म है वही अविनाशी है—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥२०॥

भावार्थ— उस [संसार-कारणरूप] अव्यक्त से परे जो [ब्रह्मरूप] अन्य अव्यक्त भाव है वह सनातन (सदा रहने वाला) है। वह सम्पूर्ण भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। वह कार्य-कारण से अतीत है अथवा सब वही है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।२१।।

भावार्थ— जो अव्यक्त (शुद्ध ब्रह्म) अक्षर (अविनाशी) कहा गया है उसी को परम गति कहते हैं, जिसे प्राप्त होने पर फिर नहीं लौटते और वही मेरा परम धाम है।

व्याख्या— श्लोक १८, १९ और २० में तो 'अव्यक्त' शब्द से माया या प्रकृति कही गयी है किन्तु इस श्लोक में 'अव्यक्त' का अर्थ शुद्ध ब्रह्म है। वस्तु को प्राप्त करने वाला वस्तु से भी उत्कृष्ट होता है, जैसे राज्य को प्राप्त करने वाला राजा राज्य से बड़ा होता है। अतः परमात्मा को प्राप्त करने वाला यद्यपि परमात्मा से भी बड़ा है तथापि उसमें बड़प्पन का अभिमान तनिक भी नहीं होता।

प्रश्न— ब्रह्म को 'अव्यक्त' कहकर फिर 'अक्षर' क्यों कहा?

उत्तर— अव्यक्त तो प्रकृति भी है। अतः उससे अलग बताने के लिये ब्रह्म को 'अक्षर' कहा गया है।

परमात्मा चिन्मात्र हैं, अतः उन्हें प्राप्त होने पर फिर नहीं लौटता, क्योंकि फिर वह भी चिन्मात्र हो जाता है। संसार में तो कामना या वासना वाला जीव ही लौटता है। इस लोक में जैसे जीवन्मुक्त आभास मात्र ही रहते हैं; वैसे ही उपासक इष्टदेव के धाम में रहते हैं।

संगति—अगले श्लोक में परमात्मा का स्वरूप बतलाया गया है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्तया लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।।२२।।

भावार्थ— हे पार्थ! वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से ही प्राप्त हो सकता है, जिसमें कि सम्पूर्ण भूत स्थित हैं और जिससे यह सम्पूर्ण प्रपञ्च व्याप्त है।

व्याख्या— जैसे खाँड के खिलौने में खाँड ही खाँड होती है वैसे ही यह प्रपञ्च परमात्ममय ही है। अथवा 'ततम्' का अर्थ विस्तार किया जाय तो वह तात्पर्य समझना चाहिये कि जैसे बीज से वृक्ष का

विस्तार होता है तो वास्तव में वह बीज से भिन्न नहीं होता उसी प्रकार ब्रह्म से उत्पन्न हुआ यह प्रपञ्च ब्रह्म से भिन्न नहीं है। किन्तु यहाँ परिणामवाद नहीं समझना चाहिये, क्योंकि रज्जु से सर्प के समान परमात्मा से प्रकृति की सत्ता भिन्न नहीं है। बोध से पहले तो संसार की उत्पत्ति माया से बतलायी जाती है, किन्तु बोधवान् की दृष्टि में तो सब कुछ वासुदेव ही है।

संगति— यहाँ भक्ति का प्रसङ्ग समाप्त होता है। आगे देवयान और धूमयान मार्गों का वर्णन है।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतवर्षभ।।२३।।

भावार्थ— हे भरतश्रेष्ठ! जिस काल या मार्ग से जाने वाले योगी देहत्याग के पश्चात् फिर नहीं लौटते और जिससे फिर लौट आते हैं उस काल का वर्णन करूँगा।

व्याख्या— इस प्रसङ्ग का सम्बन्ध मुख्यतया कर्मकाण्ड से है। यहाँ ज्ञान और प्रेम की चर्चा चल रही थी, इसलिये इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। परन्तु जब तक श्रुत और इष्ट प्रपञ्च से वैराग्य नहीं होता तब तक ज्ञान और प्रेम में प्रवृत्ति भी नहीं होती। मार्गों के विषय में सुना तो है ही। यदि उनका चिन्तन करेंगे तो उन्हीं की प्राप्ति होगी, परमात्मा की प्राप्ति से वञ्चित रह जायेंगे। अतः उनसे वैराग्य कराने के लिये यहाँ उनका वर्णन किया जाता है। ज्ञानयोगी और भक्तियोगी इनके मोह में नहीं पड़ते—यह बात आगे २७ वें श्लोक में कही भी है।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।२४।।

भावार्थ—जिस काल में ज्योतिर्मय अग्नि–अभिमानी देवता, दिवसाभिमानी देवता, शुक्लपक्षाभिमानी देवता और उत्तरायण के छःमासों के अभिमानी देवता रहते हैं उसमें मरकर गये हुए कृतोपासक ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं।

व्याख्या— यहाँ 'काल' शब्द का अर्थ मार्ग है, आगे २७ वें श्लोक में इसके लिये मार्गवाची 'सृती' शब्द का प्रयोग किया भी है। 'ब्रह्म' शब्द से भी यहाँ कारण-ब्रह्म या कार्य-ब्रह्म ही समझना चाहिए क्योंकि उपासना निर्गुण या सगुण ब्रह्म की ही होती है, शुद्ध या निर्विशेष ब्रह्म की नहीं।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।।२५।।

भावार्थ—तथा जिस काल में धूम, रात्रि कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के छः मासों के देवता रहते हैं उसमें मरकर गये हुए कर्म-काण्डी चन्द्रलोक को प्राप्त होकर [भोग समाप्त होने पर] लौट आते हैं।

संगति— अगले श्लोक में इन मार्गों से जाने वालों का पुनरागमन और अपुनरागमन इनसे वैराग्य करने के लिये बताया गया है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः।।२६।।

भावार्थ— जगत् के दो ये शुक्ल (देवयान) और कृष्ण (धूमयान) मार्ग सनातन माने गये हैं। इनमें एक के द्वारा अपुनरावृत्ति (पुनः न लौटने को) प्राप्त होता है और दूसरे के द्वारा गया हुआ फिर लौट आता है।

व्याख्या— अर्जुन को दृष्ट और श्रुत भोगों से वैराग्य कराना है, क्योंकि उसकी आस्था कर्मकाण्ड में ही अधिक थी, इसलिए यहाँ उपासकों को प्राप्त होने वाले शुक्ल मार्ग का और कर्मकाण्डियों को प्राप्त होने वाले कृष्ण मार्ग का वर्णन किया गया है। ये दोनों मार्ग अज्ञानियों के लिये ही हैं, ज्ञानी तो कहीं जाता-आता नहीं।

प्रश्न— जब एक मार्ग से गया हुआ लौटता है और दूसरे से जाने वाला नहीं लौटता तो दोनों मार्ग अज्ञानियों के लिये कैसे हुए?

उत्तर— ज्ञान में तो कहीं जाना-आना नहीं है, वहाँ तो सृष्टि ही नहीं है, फिर कौन कहाँ जायगा? इसलिये ज्ञानदृष्टि से यह सब अज्ञान ही है।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥२७॥

भावार्थ— हे पार्थ! इन दोनों मार्गों को जानने वाला कोई योगी (ज्ञानी) मोह को प्राप्त नहीं होता। अतः हे अर्जुन! तुम हर समय योगयुक्त रहो अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति का अभ्यास करो।

वेदेषु यज्ञेषु तपः सु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥२८॥

भावार्थ— योगी (ब्रह्मनिष्ठ) इस रहस्य को जानकर वेद, यज्ञ, तप और दानादि के द्वारा जो फल बताया है उस सबको पार कर जाता है तथा जो सबसे श्रेष्ठ और सबका आदिकारण है उस (परब्रह्मरूप) स्थान को प्राप्त होता है।

व्याख्या— अर्थात् लौकिक अलौकिक सभी प्रकार के भोगों से विरक्त होकर परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। यहाँ उसी योगी से तात्पर्य है जिसे अध्याय ६ श्लोक ४६ में तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी सभी से बढ़कर बताया है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः॥८॥

ॐ
श्री परमात्मने नमः
श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

अथ नवमोऽध्यायः

संगति— श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में नवम अध्याय बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें कर्म, ज्ञान और भक्ति सभी विषयों का विशद वर्णन है। अतः इसके प्रत्येक प्रकरण का बहुत ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिये।

इस अध्याय में कर्म और उपासना के साधन बतलाते हुए तत्त्वज्ञान को उसका फल बतलाया है। पहले फल और फिर साधन का वर्णन करेंगे। आठवें अध्याय में अर्जुन ने सात प्रश्न किये थे। उनका उत्तर भगवान् ने पूर्णरूप से दे दिया और कहा कि ज्ञान देश-काल-वस्तु से अतीत है, इसलिये बहुत कठिन है। अर्जुन श्रीभगवान् के उत्तर से तृप्त हो गया और जब उसका कोई प्रश्न शेष न रहा तो अहैतुकी कृपा करने वाले भगवान् स्वयं कहने लगे।

श्री भगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१।।

भावार्थ— श्रीभगवान् ने कहा— तुम अदोषदर्शी हो। मैं तुम्हारे प्रति यह सबसे अधिक गोपनीय विज्ञान के सहित ज्ञान कहूँगा, जिसे जानकर तुम [जन्म-मरणरूप] अशुभ से मुक्त हो जाओगे।

व्याख्या— भगवान् कहते हैं कि अर्जुन! तुम असूया रहित हो। दूसरों के गुणों में दोषारोपण करने वाले नहीं हो। अर्थात् किसी के निन्दक या किसी से ईर्ष्या करने वाले नहीं हो। इसलिये मैं तुमसे गोपनीय ज्ञान कहूँगा, क्योंकि तुम इसके अधिकारी हो। भगवान् के इस कथन का आशय यह है कि यह रहस्य किसी अनधिकारी को नहीं सुनाना चाहिये। इसी की पुष्टि अध्याय १८ के ६७ वें श्लोक द्वारा की जायगी। वहाँ भगवान् कहेंगे कि मेरा यह ज्ञान, तप और भक्तिहीन

पुरुष को तथा जो गुरुजनों की सेवा न करता हो अथवा मेरे सगुण रूप की निन्दा करता हो ऐसे व्यक्ति को नहीं सुनाना चाहिये। ऐसे लोगों को सुनाने से इसका विपरीत ही फल होगा, वे इसका यथार्थ रहस्य समझ नहीं सकेंगे। ऐसे मलिन अन्तःकरण वाले अनधिकारी एवं सवासनिक पुरुषों के लिये ही यह ज्ञान गुह्यतम है। जो निर्वासनिक और शुद्ध अन्तःकरण वाले हैं उनके लिये तो यह प्रत्यक्ष और सुसुख है– यही बात अगले श्लोक में कही जाती है।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।।

भावार्थ– यह राजविद्या, राजगुह्य, पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाली धर्मानुकूल, सुगमता से आचरण में आने वाली और अविनाशी है।

व्याख्या– यह विद्याओं की राजा अथवा राजाओं के पास रहने वाली विद्या है। राजा लोग इसे पाकर निर्भय हो जाते थे तथा सहज ही में रणस्थल में प्राण होम देते थे। पीछे यह ब्राह्मणों के पास आयी क्योंकि उनमें वैराग्य स्वभाव से ही रहता है। अतः इसका अधिकारी वैराग्यवान् पुरुष ही है। कहा भी है –

अरण्यनिष्ठस्य जितेन्द्रियस्य सर्वेन्द्रियप्रीतिविवर्जितस्य।
अध्यात्मचिन्तास्थितमानसस्य ध्रुवा ह्यनावृत्तिरुपेतकस्य।।

अर्थात् जो वनवासी हो, जितेन्द्रिय हो, जिसे किसी भी इन्द्रिय का राग न हो और जिसका चित्त अध्यात्म-चिन्तन में लगा हो उसका अपुनरागमन निश्चित है। अर्थात् वह मुक्ति का पूर्ण अधिकारी है।

विद्याओं में सबसे बड़ी होने के कारण इसे राजविद्या कहा है। भले ही कोई सम्पूर्ण विद्याओं में पारङ्गत हो तथापि इसके बिना उसे शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये यह सब विद्याओं की राजा है। यह राजविद्या अत्यन्त गोपनीय है। जैसे राजा को किले और सेना के बीच में सुरक्षित रखते हैं उसी प्रकार इस विद्या को विषयी, मूर्ख और अविचारी लोगों से छिपाकर रखना चाहिये। किन्तु अधिकारी

के प्रति प्रकट कर देनी चाहिये, क्योंकि—'गूढ़हु तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं।'

अथवा यह विद्या गुरुपरम्परा से ही जानी जाती है, इसलिये गुह्य है। अथवा इसलिये गुह्य है कि कोई राजा या वीर ही इसे छिपाकर रख सकता है। जो शम-दमादि साधनों से सम्पन्न और जितेन्द्रिय हो वही वीर है। अर्जुन भी इन्द्रियजित है, इसीलिये अगले श्लोक में भगवान् ने उसे 'परन्तप' कहकर सम्बोधन किया है।

यह विद्या पवित्र और अति उत्तम है, क्योंकि संसार में इससे अधिक पवित्र कुछ भी नहीं है। यह बात अध्याय ४ श्लोक ३८ में 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' इन शब्दों में कही गयी है।

यह प्रत्यक्ष फल देने वाली है। यज्ञादि कर्मों का फल तो कालान्तर में मिलता है, परन्तु इसका फल तत्काल प्रत्यक्ष अनुभव में आ जाता है। बोध-काल में ही उसकी अनुभूति हो जाती है। सम्पूर्ण दृश्य तो भ्रांतिजन्य प्रतीतिमात्र है। उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं है किन्तु आत्मा तो स्वयं आप ही है। वह साक्षात् अपरोक्ष है और स्वतः सिद्ध है, किन्तु मूर्ख लोग संसार को प्रत्यक्ष मानते हैं और आत्मा को परोक्ष। वे सत्य को बाहर ढूँढ़ते हैं।

यह विद्या धर्म्य-धर्मानुकूल है और 'कर्तुं सुसुखम्' अर्थात् आचरण में सुगम है। जो वस्तु साधन से प्राप्त हो वह कठिन होती है—'यत्सुखं साधनाधीनं तत्सुखं दुःखमेव हि।' यह विद्या साधनसाध्य नहीं है केवल विचारसाध्य है, इसलिये सुसुख है। यह अव्यय—अविनाशी है। एक बार प्राप्त हो जाने पर इसका नाश नहीं होता। लौकिक सुख तो नष्ट हो जाता है, यह तो अलौकिक है। भगवान् ने भी कहा है—'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव'।

संगति— यदि यह विद्या इतनी महत्वपूर्ण है तो इसे प्राप्त करने की इच्छा सभी को क्यों नहीं होती? इसका उत्तर अगले श्लोक में देते हैं।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।।३।।

भावार्थ—हे परंतप! इस [ज्ञानरूप] धर्म में श्रद्धा न रखने वाले पुरुष मुझे प्राप्त न होकर मृत्युरूप संसार-मार्ग में लौट आते हैं।

व्याख्या— जो लोग आसुरी सम्पत्ति वाले होते हैं उनकी इसमें प्रवृत्ति नहीं होती। वे श्रद्धाहीन होने के कारण इस धर्म को प्राप्त न कर जन्म-मरणरूप संसार-चक्र में घूमते रहते हैं। वे इससे मुक्त नहीं हो पाते और न उन्हें मेरी ही प्राप्ति होती है। मेरी प्राप्ति तो निर्वासनिक और श्रद्धा-सम्पन्न पुरुषों को ही होती है। ये लोग स्त्री, पुत्र और धनादि में आसक्त रहते हैं, इसलिये मुझ में इनकी श्रद्धा नहीं होती।

संगति— अब अगले दो श्लोक में अन्वय-व्यतिरेक द्वारा तत्त्व बोध कराते हैं। परन्तु जो आचार्य निषेध या व्यतिरेक के द्वारा तत्त्व अनुभव होने से पहले ही अन्वय का उपदेश कर देते हैं वे तो शिष्य का गला ही काटते हैं, क्योंकि वास्तव में विधि या अन्वय उपदेश करने की वस्तु नहीं है। इसका बोध होने पर स्वयं ही अनुभव होता है। आगे के दोनों श्लोक बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। जिसने उन्हें समझ लिया उसे मानो पूरा वेदान्त आ गया।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।४।।

भावार्थ— अव्यक्तस्वरूप मुझसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। सम्पूर्ण भूत मुझमें ही स्थित हैं किन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।

व्याख्या— जैसे बर्फ में जल ही जल होता है वैसे ही इस दृश्य-प्रपञ्च में मैं ही मैं हूँ, मुझसे भिन्न इसमें कुछ भी नहीं है। किन्तु जैसे स्वप्न तो स्वप्न-द्रष्टा से भिन्न नहीं होता किन्तु स्वप्न-द्रष्टासम्पूर्ण स्वप्न से पृथक् ही होता है, इसी प्रकार मैं इस प्रपञ्च से पृथक् हूँ।

यहाँ जो दृश्य में मेरी व्याप्ति है वह दूध में चीनी के समान संयोग-सम्बन्ध से नहीं है, प्रत्युत ऐसी है जैसे आकाश में नीलिमा, आभूषणों में सुवर्ण बर्फ में जल अथवा घट-शराबादि में मृत्तिका।

इसी प्रकार ब्रह्मा से लेकर कीड़ी-पर्यन्त सब भूत मुझ में ही स्थित हैं, परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ। मुझ में तो जगत् का अत्यन्ताभाव है।

इस श्लोक से यह सिद्ध हुआ कि सब मैं ही हूँ, अतः किसी को भी मेरी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि प्राप्ति तो किसी अन्य अप्राप्त वस्तु की हुआ करती है।

'अव्यक्त' का अर्थ ब्रह्म, ईश्वर और माया हैं। प्रसङ्ग के अनुसार इसके विभिन्न अर्थ होते हैं। यहाँ इसका अर्थ शुद्ध ब्रह्म ही है।

संगति— इस श्लोक में भूत-प्राणियों में अपनी स्थिति का निषेध किया है। अब अगले श्लोक में यह दिखलाते हैं कि न तो भूत मेरे में स्थित हैं और न मैं उनमें हूँ।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥५॥

भावार्थ— सम्पूर्ण भूत भी मुझ में स्थित नहीं हैं। मेरा यह ऐश्वर्य-योग (चमत्कार) देखो। भूतों की उत्पत्ति करने वाला मेरा स्वरूप भूतों का भरण (धारण) करने वाला होने पर भी भूतों में स्थित नहीं है।

व्याख्या— श्लोक ४ के पूर्वार्द्ध में कहा था कि मैं सब में हूँ। फिर उत्तरार्द्ध में कहा कि सब मुझ में हैं, परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ, क्योंकि मैं अधिष्ठान हूँ और अधिष्ठान अध्यस्त में नहीं होता। वह तो सर्वथा उससे असङ्ग ही रहता है।

इस श्लोक में कहते हैं कि संसार की उत्पत्ति मुझसे इसी प्रकार है जैसे मिट्टी से घट की उत्पत्ति। किन्तु अन्तर इतना है कि घट के तो निमित्त और उपादान कारण भिन्न-भिन्न होते हैं और यहाँ मैं ही निमित्त हूँ और मैं ही उपादान। अतः यह दृष्टान्त भी पूर्णतया लागू नहीं होता। यदि मायावी का दृष्टान्त दें तो वह भी किसी वस्तु का ही रूपान्तर करके दिखाता है, किन्तु यहाँ तो कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं। अतः वास्तव में यहाँ न कोई उपादान है न निमित्त। किन्तु नियम ऐसा है कि कार्य की उत्पत्ति किसी कारण से ही होती है और यहाँ न कोई कारण है न कर्त्ता। अतः बिना कर्त्ता के ही सृष्टि की उत्पत्ति हो गयी—

यही मेरा ऐश्वर्य योग (चमत्कार) है। इसी से श्लोक ४ में कहा है कि मैं सबमें व्याप्त हूँ, क्योंकि सर्वरूप मैं ही हूँ। सब भूत मुझ में ही स्थित हैं, क्योंकि मैं सबका आधार हूँ।

किन्तु यहाँ कहते हैं कि सम्पूर्ण भूत मुझ में नहीं हैं। जैसे पृथ्वी पर रखे हुए घट का आधार पृथ्वी है तो पृथ्वी घट से भिन्न भी है और अभिन्न भी। भिन्न दिखाई देने पर भी तत्त्वतः वह अभिन्न है और वस्तुतः पृथ्वी में घट का अत्यन्ताभाव है। इसी प्रकार वास्तव में यह सारा प्रपञ्च हुआ ही नहीं। इसीसे कहा है—'न च मत्स्थानि भूतानि' क्योंकि वास्तव में ये भूत हैं नहीं, मेरे स्वरूप में इनका अत्यन्ताभाव है। परन्तु सर्वथा न होने पर भी इनकी प्रतीति होती है— यही मेरा चमत्कार है। यही बात संकेत करते हुए अर्जुन से कहते हैं कि तुम इसे देखो अर्थात् अनुभव करो कि मेरा आत्मा (स्वरूप) सब भूतों को उत्पन्न और पोषण करने वाला होने पर भी अर्थात् सब को सत्ता देने वाला होने पर भी उनमें स्थित नहीं है। वह उन सबसे सर्वथा असङ्ग है।

यहाँ भगवान् सम्पूर्ण भूतों का अत्यन्ताभाव दिखला कर यह सूचित करते हैं कि मैं सब करते हुए भी निर्लेप हूँ, शुद्ध हूँ और अव्यक्त हूँ क्योंकि सबका साक्षीमात्र हूँ। मुझमें भूतों की उत्पत्ति हुई ही नहीं, तथापि सब मेरे में हैं, सब मैं ही हूँ और मेरे स्वरूप में सबका अत्यन्ताभाव है। जैसे आकाश निर्मल है, तथापि वायु आदि सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति उसीसे हुई है। सब भूत आकाश में ही हैं, परन्तु फिर आकाश सब भूतों से असंग है। जिस प्रकार आकाश वायु आदि को उत्पन्न नहीं करता, वे स्वयं ही उत्पन्न होते हैं तथा इनके उत्पन्न होने पर भी वह इनसे निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार सब सृष्टि स्वयं ही उत्पन्न हुई है और यह सारी क्रिया होने पर भी मैं निष्क्रिय रहता हूँ। यही मेरा ऐश्वर्य-योग चमत्कार या माया है। जो वस्तु वस्तुतः उत्पन्न नहीं होती वह अधिष्ठान रूप ही होती है। अतः सारा संसार परमात्म स्वरूप ही है। यह आकाश की नीलिमा के समान परमात्मा से अभिन्न होने पर भी भिन्नवत् भासता है।

संगति— अगले श्लोक में सम्पूर्ण भूतों की स्थिति अपने में बतलाते हैं—

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।।६।।

भावार्थ— जिस प्रकार सर्वत्र गमन करने वाला वायु सर्वदा आकाश में रहता है वैसे ही सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं।

व्याख्या— जिस प्रकार आकाश में वायु कभी शान्त और कभी गतिशील हुआ निरन्तर सदा ही स्थित रहता है, किन्तु निर्मल आकाश उससे निर्लिप्त ही रहता है, कभी मलिन नहीं होता, उसी प्रकार पञ्चकोशों के रहने पर भी आत्मा कभी उनसे लिप्त नहीं होता तथा जिस प्रकार निर्विकार आकाश से चंचल वायु की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार निर्विकार आत्मा से इस दृश्य-प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है। श्रुति भी कहती है 'अजायमानो बहुधा व्यजायते' 'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' इत्यादि।

संगति— भगवान् ने श्लोक ४ और ५ में जो सिद्धान्त कहा था उसी को इस श्लोक में दृष्टान्त द्वारा समझाया है। किन्तु जब देखा कि अभी अर्जुन यह नहीं समझ सका कि यह संसार आत्मा से ही उत्पन्न हुआ तो पुनः अगले श्लोकों द्वारा उसकी पुष्टि करते हैं—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।७।।

भावार्थ— हे कौन्तेय! कल्प का अन्त होने पर सम्पूर्ण भूत मेरी प्रकृति में लीन हो जाते हैं। उन्हें कल्प के आरम्भ में मैं पुनः उत्पन्न करता हूँ।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।।८।।

भावार्थ— अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर मैं प्रकृति के अधीन होने के कारण अस्वतन्त्र उन समस्त भूत समुदाय को पुनःपुनः रचता रहता हूँ।

व्याख्या— सिद्धान्ततः तो प्रकृति की सत्ता है नहीं, किन्तु जिज्ञासु को समझाने के लिये व्यावहारिक रूप से उसका आरोप कर लिया जाता है। भगवान् से सृष्टि की उत्पत्ति वास्तव में तो होती नहीं, किन्तु जिज्ञासु की दृष्टि से दृश्य-प्रपञ्च की सत्ता अकस्मात् भी नहीं होती। इसलिये प्रकृति की व्यावहारिकी सत्ता स्वीकार करके उसे बोध कराने का प्रयत्न किया जाता है। इस बात को दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं। जैसे सूर्योदय होने से कमल खिल जाता है, किन्तु सूर्य स्वयं उसे खिलाने की क्रिया नहीं करता। तथापि यह स्वीकार किया जाता है कि सूर्य की शक्ति ही कमल को खिलाती है। उसी प्रकार यद्यपि भगवान् सृष्टि-प्रलय आदि कुछ नहीं करते, फिर व्यवहार में सृष्टि-प्रलय आदि देखे जाते हैं; अतः ऐसा आरोप किया जाता है कि ये भगवान् की शक्ति या प्रकृति के द्वारा ही होते हैं। इस प्रकार सृष्टि तो प्रकृति के अधीन है किन्तु प्रकृति भगवान के अधीन है। इसका उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यही बात अगले श्लोक से कहते हैं।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ।।९।।

भावार्थ— किन्तु हे धनञ्जय! उन [सृष्टि और प्रलय के] कर्मों में उदासीन के समान रहने वाले मुझको वे कर्म बाँध नहीं पाते।

व्याख्या—भगवान् यहाँ उदासीन के समान अपनी तटस्थता दिखला रहे हैं। वे स्वयं तो तटस्थ साक्षी के समान हैं। उनकी सत्तामात्र से प्रकृति के ये सब कार्य होते रहते हैं। वे स्वयं कर्तृत्वाभिमान से शून्य और त्रिपुटी से रहित हैं, इसलिये इन कर्मों से वे बन्धायमान नहीं हो सकते।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ।।१०।।

भावार्थ—हे कुन्तिनन्दन! मेरी अध्यक्षता में यह प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है और इसी कारण जगत् परिवर्तित (उत्पन्न और नष्ट) होता रहता है।

व्याख्या— इस श्लोक द्वारा प्रकृतिवादियों के मत का खण्डन हो जाता है, क्योंकि इससे सूचित होता है कि संसार की रचना में

प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है। वह ये सारे व्यापार मेरी सत्ता से ही करती है। जैसे राजा स्वयं कुछ भी नहीं करता तो भी राज्य का सारा काम उसी की सत्ता से होता है, उसी प्रकार अधिष्ठान चेतन की सत्ता के बिना अध्यस्त प्रकृति कुछ नहीं कर सकती। इसमें अनेकों श्रुति और स्मृति भी प्रमाण हैं।

प्रश्न— यदि सृष्टि परमात्मा करता है तो उसी को पाप-पुण्य भी लगने चाहिये।

उत्तर— परमात्मा तो केवल अध्यक्ष है, रचना तो प्रकृति करती है।

प्रश्न— यदि प्रकृति ही रचना करती है तो परमात्मा को जानने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर— प्रकृति हमें जन्म-मरण के चक्र में डालती है और परमात्मा उससे छुड़ाता है, इसलिये उसे जानना आवश्यक है।

संगति— अब अगले दो श्लाकों से भगवान् यह बतलाते हैं कि सब लोग मेरे स्वरूप को क्यों नहीं जानते। अध्याय ७ श्लोक २४ में जो बात कही है उसी को पुन: कहते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावंजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।११।।

भावार्थ— सम्पूर्ण भूतों के महान् ईश्वर रूप मेरे परम भाव को न जानने के कारण मूढ़ पुरुष मुझे मनुष्य शरीर के आश्रित मानकर [अर्थात् यशोदानन्दन समझकर] मेरी अवज्ञा (अपमान) करते हैं।

व्याख्या— मुझे मनुष्य शरीर के आधीन वे ही मानते हैं जिनकी शरीर में ही आत्मबुद्धि है तथा जिन्हें जाति, कुल, विद्या, शील, धन और आश्रमादि का अभिमान है। जो निद्रा, तन्द्रा और आलस्य में ही सारा समय व्यतीत करते हैं, जो शास्त्रवासना और लोकवासना के अधीन हैं तथा शरीर के पालन-पोषण में ही जिनका सारा समय नष्ट होता है, वे ही मूढ़ कहे गये हैं। ऐसे लोगों का मोक्ष कभी नहीं हो सकता। कहा भी है—

न लोकचित्तग्रहणे रतस्य न भोजनाच्छादनतत्परस्य।
न शब्दशास्त्राभिरतस्य मोक्षो न चातिरम्यावसथप्रियस्य।।

अर्थात् जो लोगों का मन आकर्षित करने में लगा हुआ है, भोजन और वस्त्र की ही व्यवस्था में तत्पर है, शब्द-शास्त्र में ही जिनकी अभिरुचि है और जिसे बहुत रमणीक स्थान में रहने की रुचि है, उस व्यक्ति की मुक्ति नहीं होती।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।।१२।।

भावार्थ— वे मूर्ख पुरुष राक्षसी और आसुरी, मोहमयी प्रकृति के अधीन होते हैं तथा उनकी आशा, कर्म और ज्ञान भी व्यर्थ होते हैं।

व्याख्या— मेरे परम भाव को न जानने वाले उन मूर्खों के मनोरथ अनन्त और निष्फल होते हैं। उनके कर्म, भाषण और श्रवण भी व्यर्थ होते हैं तथा उनका ज्ञान भी निष्फल होता है। वे भौतिक ज्ञान के पीछे ही पड़े रहते हैं। उन्हें यही जानने की धुन रहती है कि रेल कैसे बनती है रेडियो और टेलीग्राफ कैसे काम करते हैं तथा वायुयान कैसे उड़ते हैं। ये भौतिक विज्ञानी वास्तव में विचेतस् हैं, इनका चित्त भ्रमित है, क्योंकि ये भगवान् को भूले रहते हैं तथा विवेकहीन होते हैं।

वे मोह में डालने वाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति के अधीन होते हैं। अतः मद्य-मांस का सेवन करने वाले, दयाहीन, अपवित्र, तमोगुणी और अकारण ही दूसरों को दुःख देने वाले होते हैं। प्रातःकाल देर तक सोते हैं और रात्रि में देर तक जागते रहते हैं। रजोगुण प्रधान होने के कारण स्वार्थसिद्धि पर ही उनकी दृष्टि रहती है।

संगति— यहाँ यह बतलाया कि आसुरी प्रकृति वाले मुझे नहीं जान पाते। अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि दैवी प्रकृति वाले मुझे जानकर मेरा ही भजन करते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।।१३।।

भावार्थ— परन्तु हे पार्थ! दैवी प्रकृति का आश्रय लेने वाले महात्मा मुझे सब भूतों का आदिकारण और अविनाशी जानकर अनन्य मन से मेरा भजन करते हैं।

व्याख्या— जो परमात्मा से प्रेम करने वाले, उदारचित्त, दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न, सबमें भगवद्दृष्टि रखने वाले, परदुःखकातर, स्वभाव से ही सहनशील, अहिंसक और किसी से भी द्रोह करने वाले नहीं होते, वे ही 'महात्मा' कहे गये हैं। वे भगवदीय गुणों से सम्पन्न होते हैं। वे अनन्य मन से अर्थात् संसार की सब इच्छाओं को छोड़कर, एकाग्रचित्त से अव्यभिचारिणी भक्ति द्वारा मुझे भजते हैं अर्थात् निरन्तर आत्माकार वृत्ति करते हैं। इस श्लोक में 'ज्ञात्वा' पद से बोध और 'भजन्ति' से ज्ञानाभ्यास समझना चाहिये। अर्थात् वे तत्त्वज्ञान के पश्चात् निरन्तर ब्रह्माभ्यास करते हैं।

प्रश्न— आप कहते हैं कि बोध होने के पश्चात् निरन्तर अभ्यास करते हैं सो अभ्यास या निदिध्यासन आत्मसाक्षात्कार से पहले किया जाता है या पीछे?

उत्तर— आत्मा को खोजना भी अभ्यास ही है और यह बोध से पहले किया जाता है। बोध होने पर जो ब्रह्माकार वृत्ति की आवृत्ति की जाती है वह तो जीवन्मुक्ति के आनन्द के लिए है आत्मप्राप्ति के लिए नहीं और यह कर्तृजन्य भी नहीं है।

प्रश्न— आप कहते हैं कि यह कर्तृजन्य नहीं है। यह कैसे हो सकता है? यह क्रिया है तो कर्तृजन्य ही होनी चाहिये।

उत्तर— जिस प्रकार ईश्वर सृष्टि का कर्ता होने पर भी अकर्ता है तथा सम्पूर्ण संसार उसी में होने पर भी वह अभोक्ता है, इसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष सब कुछ करते हुए भी अकर्ता, अभोक्ता और नित्यमुक्त है, क्योंकि बोधवान् की दृष्टि में उसकी स्वरूप-सत्ता से भिन्न कुछ भी नहीं होता।

संगति—अब अगले श्लोक में भजन करने की युक्ति बतलाते हैं—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।१४।।

भावार्थ— वे दृढ़वती भक्तजन निरन्तर मेरा कीर्तन करते मेरी प्राप्ति का प्रयत्न करते, मुझे नमस्कार करते और सदा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं।

व्याख्या— दृढ़व्रती वे हैं जो अपने इष्ट और मन्त्र का परिवर्तन नहीं करते, किसी की बातों से प्रभावित नहीं होते तथा गुरुवाक्य में दृढ़ आस्था रखते हैं। वे यत्नशील होकर भजन के विघ्नों से बचते हुए जार स्त्री के समान निरन्तर अपने इष्ट का चिन्तन करते हैं। अर्थात् सगुण या निर्गुण उपासना करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।।१५।।

भावार्थ— दूसरे लोग मुझ सर्वस्वरूप की ज्ञानयज्ञ द्वारा पूजन करते हुए एकत्व भाव से उपासना करते हैं और कोई भेददृष्टि से भी उपासना करते हैं।

व्याख्या— कोई ज्ञानयज्ञ द्वारा आत्मा-अनात्मा का विवेक करके अनात्मा को त्याग कर आत्माकार वृत्ति करते हैं। कोई मुझ अनन्तस्वरूप को एक सत्ता में लाकर अभेद भाव से अहंग्रह उपासना करते हैं और कोई राम, कृष्ण, दुर्गा आदि विभिन्न रूपों में मेरी प्रतीकोपासना करते हैं। इसी प्रकार साकार-निराकार आदि अनेकों भावों में मेरी उपासना की जाती है।

संगति— यहाँ भेद और अभेदरूप से भक्ति के दो भेद किये गये। अगले श्लोक में एकत्वेन और पृथक्त्वेन कहकर यह दिखलाते हैं कि यज्ञ के सब अङ्ग मेरे ही स्वरूप हैं। अतः सर्वरूप में मेरी ही उपासना होती है।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।।१६।।

भावार्थ— क्रतु (श्रोतकर्म) मैं हूँ, यज्ञ (स्मार्त्त-पञ्चयज्ञादि) मैं हूँ, स्वधा (पितरों के लिए हवन किया अन्न) मैं हूँ, औषधि मैं हूँ, मन्त्र

मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ तथा आहुति भी मैं ही हूँ। [इस प्रकार सम्पूर्ण चराचर मेरा ही स्वरूप है।]

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥१७॥

भावार्थ— इस सम्पूर्ण जगत् का धारण-पोषण करने वाला इसके माता, पिता और पितामह तथा जानने योग्य पवित्र ओंकार एवं ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ।

व्याख्या— सब भगवत्स्वरूप ही है अत: माता पिता और रोगी आदि की सेवा भी भगवान् की ही सेवा है। अत: भगवद्दृष्टि से हम किसी की भी सेवा करें उससे हमारा कल्याण ही होगा।

गतिर्भर्ता प्रभु साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥१८॥

भावार्थ— मैं ही गति (मुक्ति देने वाला), भर्ता भरण-पोषण करने वाला, प्रभु (स्वामी), साक्षी (शुद्ध चेतन) सबका निवास स्थान, शरण लेने योग्य सुहृद (प्रत्युपकार की इच्छा न रखकर हित करने वाला), उत्पत्ति और प्रलय का स्थान, आधार, निधान (प्रलय स्थान) और अविनाशी बीज (मूल कारण) हूँ।

संगति—अगले श्लोक में भी अपनी सर्वरूपता ही प्रकट करते हैं—

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥१९॥

भावार्थ— मैं (सूर्यरूप से) तपता हूँ, (मेघरूप से) वर्षा करता हूँ, मैं ही जल को आकर्षित करता और छोड़ता हूँ। और हे अर्जुन! मैं ही अमृत (मोक्ष) और मृत्यु हूँ तथा सत् और असत् भी मैं ही हूँ।

व्याख्या— सोलहवें श्लोक से यहाँ तक भगवान् अपनी सर्वरूपता का ही प्रतिपादन कर रहे हैं। वे ही सब हैं और वे ही सब में हैं। ब्राह्य दृष्टि से वे सर्वरूप हैं और आन्तर दृष्टि से तो केवल वे ही हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सब तत्त्ववेत्ता की आन्तर दृष्टि होती

है तो वह पूरा नास्तिक[1] होता है और जब बाह्य दृष्टि होती है तो पूरा आस्तिक[1] होता है। इसीसे भगवान् कहते हैं सत् भी मैं हूँ और असत् भी मैं हूँ। अर्थात् कोई वस्तु जड़ नहीं है, सब चेतन ही चेतन है। इससे मूर्ति पूजा की भी सार्थकता सिद्ध होती है। अध्याय १० के ४-५ और ६ वें श्लोकों में भी यही बात कही गयी है कि सब कुछ मुझसे ही हुआ है। अतः जो भी पूजा होती है वह मेरी ही है। सत् (भाव या सगुण) और असत् (अभाव या निर्गुण) भी मैं ही हूँ अर्थात् शून्य भी मैं ही हूँ। इसलिए किसी भी देवता की उपासना से द्वेष नहीं करना चाहिये। अपनी-अपनी दृष्टि से सभी मतवाद ठीक है, सब भगवान् के ही उपासक हैं। जो इस प्रकार सर्वरूप में भगवान् की उपासना नहीं करता वह अधूरा है।

संगति— जो कर्मकाण्डी उपासना तो स्वर्ग की करते हैं, परन्तु चाहते भगवद्प्राप्ति हैं, उनको क्या फल मिलता है, यह बात अगले दो श्लोकों में बताते हैं—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।२०।।

भावार्थ—ऋक्, साम, यजु—इन तीनों वेदों के ज्ञाता, सोमरस का पान करने वाले जो निष्पाप पुरुष यज्ञों द्वारा मेरा यजन करके स्वर्ग-प्राप्ति की कामना करते हैं वे उस पवित्र देवलोक में पहुँचकर वहाँ के देवोचित दिव्य भोगों को भोगते हैं।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते।।२१।।

---

[1]आन्तर दृष्टि में वह स्व-स्वरूप से भिन्न सबका अभाव देखता है, इसलिये नास्तिक है और बाह्य दृष्टि में वह स्वरूप से ही सबका सद्भाव देखता है, इसलिये आस्तिक है।

भावार्थ— उन विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर वे पुनः मर्त्यलोक में आ जाते हैं। इस प्रकार त्रयीधर्म का अनुसरण करने वाले वे भोग-कामी पुरुष आवागमन के चक्र में पड़े रहते हैं।

व्याख्या— तात्पर्य यह है किसी भी प्रकार की कामना रहते हुए शान्ति नहीं मिलती, शान्ति तो कामनाहीन पुरुष को ही मिलती है। किन्तु निष्कामता है कठिन। लोगों को लौकिक भोगों की कामना नहीं रहती तो अलौकिक भोग और सिद्धियों की कामना होने लगती है। वैराग्य तो ईश्वर और बोधवान् को भी नहीं होता।

प्रश्न— ईश्वर और बोधवान् को भी वैराग्य क्यों नहीं होता?

उत्तर— ईश्वर का यदि ऐश्वर्य में वैराग्य हो जाय और वह उसे त्याग दे तो ईश्वरता ही नहीं रहेगी। ऐश्वर्य के कारण ही तो ईश्वर की ईश्वरता है तथा बोधवान् की दृष्टि में किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं होती, फिर वह वैराग्य किससे करेगा? अथवा वह सबको अपना स्वरूप ही देखता है, इसलिये राग या वैराग्य का उसके लिए कोई प्रसङ्ग ही नहीं बनता। वास्तव में तो यहाँ वैराग्य का महत्व दिखलाया है, इस कथन से ईश्वर और बोधवान् की अवज्ञा नहीं की गयी।

संगति— अब अगले श्लोक द्वारा भक्ति की पुष्टि करते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।२२।।

भावार्थ— जो लोग अनन्य भाव से चिन्तन करते हुए सब प्रकार मेरी ही उपासना करते हैं उस निरन्तर समाहित चित्तवालों के योग-क्षेम का भार मैं स्वयं धारण करता हूँ।

व्याख्या— अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति का नाम योग है। साधक को तो भक्ति या आत्मरति ही अभीष्ट है अन्य वस्तुओं की तो उसे आवश्यकता ही नहीं होती। अतः भक्ति या आत्मरति की प्राप्ति करा देना ही 'योग' है। तथा प्राप्त वस्तु की रक्षा करना ही क्षेम है। अतः प्राप्त हुई भक्ति या आत्मरति को स्थायी रूप से बनाये रखना ही यहाँ 'क्षेम' समझना चाहिए।

यहाँ भगवान् का अभिप्राय यह है कि जो अनन्य भाव से मेरी उपासना करते हैं उन्हें मैं अपनी भक्ति देता हूँ। अथवा यदि वे आत्मनिष्ठ हैं तो उन्हें आत्माकार वृत्ति से च्युत नहीं होने देता। उनकी यह वृत्ति बढ़ती रहे यही मेरी कृपा है। भजन करने वालों को अधिक धन की तो इच्छा ही नहीं होती। यदि इच्छा हो भी तो मैं उन्हें अधिक धन नहीं देता। केवल निर्वाहमात्र की ही व्यवस्था करता हूँ, जिससे वे उसमें आसक्त न हों। बस यही मेरे द्वारा उनके योग-क्षेम का निर्वाह है।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।२३।।

भावार्थ—तथा जो भक्त श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओं का पूजन करते हैं उनका वह पूजन अविधिपूर्वक है, तथापि वे भी मुझे ही पूजते हैं।

व्याख्या— 'हरिदेव' जगज्जगदेव हरिः' इस उक्ति के अनुसार सब कुछ मेरा ही स्वरूप है, अतः जानकर अथवा बिना जाने जो भी पूजन किया जाता है वह मेरी ही पूजा होती है। जो बिना जाने पूजन करते हैं उनकी भेददृष्टि होती है, इसलिये उनकी पूजा अविधिपूर्वक है। और जो ब्रह्मार्पण ब्रह्म हवि (४/२४) के अनुसार सब में ब्रह्मदृष्टि रखकर पूजन करते हैं उनकी पूजा विधिपूर्वक होती है।

ये लोग देवताओं को पृथक् पृथक् मानकर पूजन करते हैं, इसलिये इन्हें उन देवताओं की ही प्राप्ति होती है। वे मुझे प्राप्त नहीं होते, क्योंकि उन्हें ऐसी बुद्धि तो होती नहीं कि ये सब भगवत्स्वरूप ही हैं। इसी से जन्म-मरण से मुक्त भी नहीं होते। अतः यदि अनुभव न हो तो भी शास्त्र और गुरुदेव के वचनों में विश्वास रखकर भगवद्बुद्धि से ही उपासना करनी चाहिये। धीरे-धीरे अनुभव भी हो जायगा।

संगति— अन्य देवताओं का पूजन करने से भी मेरा ही पूजन कैसे होता है—यह बात अगले श्लोक में स्पष्ट करते हैं—

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।।२४।।

भावार्थ— मैं ही सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और प्रभु हूँ। जो मुझे इस प्रकार नहीं जानते वे तत्त्व से च्युत हो जाते हैं।

व्याख्या— भगवान् को सर्वरूप में देखना—यही उन्हें तत्त्व से जानना है। किन्तु इस रूप में तो उन्हें कोई महापुरुष ही जानते हैं। तथापि वास्तविकता तो यही है कि ज्ञाता,ज्ञान, ज्ञेय त्रिपुटी के रूप में वे ही भास रहे हैं—'ज्ञाताज्ञानज्ञेयं त्रिविधं ब्रह्म एतत्'। 'च्यवन्ते' का तात्पर्य यह है कि सद्गति तो उनकी भी हो जाती है परन्तु उनका पुनर्जन्म होता है।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।।२५।।

भावार्थ— देवताओं के उपासक देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों के लोक जाते हैं ओर भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं। किन्तु मुझे पूजने वाले मुझ ही को पाते हैं।

व्याख्या— जो लोग स्त्री, पुत्र या धन आदि की कामना से भगवान् की उपासना करते हैं वे वास्तव में भगवान् के भक्त नहीं हैं। वे तो भगवान् की ओट में स्त्री–पुत्रादि के ही भक्त हैं। भगवान् के भक्त तो केवल भगवान् को ही चाहते हैं।

प्रश्न— भगवान् की उपासना कितने प्रकार की है?

उत्तर— यों तो सगुण–निर्गुण भेद से उपासना दो प्रकार है। निर्गुणोपासक योग–साधन के द्वारा परमात्मा की उपासना करते हैं। सगुणोपासना साकार–निराकार भेद से दो प्रकार की है। प्रधानतया आर्यसमाजी सगुण निराकारोपासक हैं। ईसाई–मुसलमान आदि भी इस कोटि में आ सकते हैं। ये लोग भगवान् में दया, कृपा, न्याय आदि दिव्य गुण तो मानते हैं परन्तु उसका कोई आकार नहीं मानते। साकारोपासना के इष्ट देव की लीला तथा स्वरूप आदि के भेद से अनेकों भेद हैं। किन्तु ये सभी उपासनाएँ मुख्यतया तीन भेदों में विभक्त की जा सकती हैं— वैधी, गौणी और अनुरागात्मिका। जो शास्त्रविधि या कुल परम्परा के अनुसार पूजनादि किये जाते हैं वह

वैधी उपासना कहलाती है। इसमें विधि-विधान की प्रधानता होती है इष्टदेव के गुण या भाव की प्रधानता नहीं होती। गौणी उपासना में इष्टदेव के गुण और प्रभाव पर दृष्टि रहती है। भगवान् के ऐश्वर्य को लक्ष्य करके उनकी भक्ति करना गौणी उपासना है। अनुरागात्मिका भक्ति में प्रेम की प्रधानता होती है। यहाँ न विधि-विधान का बन्धन होता है न ऐश्वर्य का आकर्षण। भगवान् अपने स्वजन होते हैं और स्वजन के समान ही उनमें सहज स्नेह होता है। भाव-भेद से यह पाँच प्रकार की है– शान्तभाव, दास्यभाव, सख्यभाव, वात्सल्यभाव और मधुर भाव। यह भगवान् में अत्यन्त अनुराग होने पर सबसे पीछे होती है। पहले तो ऐश्वर्य दृष्टि से ही भगवान् की भक्ति करनी चाहिए। जो आरम्भ से ही माधुर्य भक्ति करना चाहते हैं वे तो प्रायः संसार की ओर ही आकृष्ट हो जाते हैं। वे न तो माधुर्य को समझ सकते हैं और न उनका कल्याण ही होता है। माधुर्य तो शुद्ध प्रेम है। यह तो अनिर्वचीनय है–'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्'। वास्तव में तो यह भावभक्ति भी शुद्ध माधुर्य नहीं है। यह तो माधुर्य की साधन हैं। प्रेम में कोई बड़ा-छोटा नहीं होता। यदि ऐसी बात न होती तो गोपियाँ उनके कैसे गुलचा लगातीं और उन्हें नाँच नचातीं। वहाँ शुद्ध आत्मीयता रहती है, सुन्दर-असुन्दर दृष्टि भी नहीं रहती। कहा भी है–

असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा
गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात्करुणाम्बुधिर्वा
कृष्णः सः एवाद्य गतिर्ममायम्॥

प्रश्न– यह तो सगुण उपासना की बात हुई, निर्गुण उपासना किस प्रकार की जाती है?

उत्तर– यह प्रसंग तो बहुत बड़ा है, परन्तु मैं सूक्ष्म रूप से कहता हूँ। सुनो, घट-पट को अपने से अलग देखने पर बीच में जो संधि है वह तो स्थूल है। इसे स्थूल आकाश, भूताकाश या महाकाश कह सकते हैं। किन्तु जब नेत्र बन्द करके मनोराज्य करते हैं तो वहाँ

मानस सृष्टि दिखायी देती है। उस सृष्टि और मन के बीच में जो सन्धि है वह चित्ताकाश है। यह प्रतीत नहीं होता, अनुभव में आता है। उसमें स्थित होना ही निर्गुण उपासना है। इस उपासना को बोधवान् ही कर सकते हैं। अन्य निर्गुण उपासक तो अधिकतर स्थूल आकाश में ही अटक जाते हैं।

इसी प्रकार जाग्रत् भाव है और सुषुप्ति अभाव है इन दोनों की बीच की जो स्थिति है वह संधि है। संधि का जो साक्षी है वही स्वरूप है। संधि निर्विकल्प अवस्था है और साक्षी निर्विकल्प स्वरूप है। सन्धि स्वरूप नहीं है, वह तो निर्गुण वृत्ति है। जब घटाकार-पटाकार वृत्तियाँ होती हैं, तो ये 'सगुण वृत्ति' है और इन दोनों के बीच में निर्गुण वृत्ति रहती है। यह विषय अभ्यास का है, विचार का नहीं। श्री वशिष्ठ जी कहते हैं—

निद्रादौ जागरस्यान्ते यो भाव उपजायते।
तं भावं भावयन् राम सदा तिष्ठ गतव्यथः।।[१]

अथवा—

लयविक्षेपयोः सन्धौ मनस्तत्र निरामयम्।
सा सन्धिः साधिता येन स मुक्तो नात्र संशयः।।[२]

किन्तु यह सब निर्गुणोपासना है, आत्मा तो चिदाकाश है।

प्रश्न— स्वरूप को आकाश क्यों कहते हैं?

उत्तर— आकाश उसे कहते हैं जो सबको अवकाश दे। अर्थात् जिसमें सब रहें। आकाशादि जितना प्रपञ्च है वह स्वरूप के अन्तर्गत है, इसलिये उसे चिदाकाश कहते हैं।

प्रश्न— प्रेमी के क्या लक्षण हैं?

---

१. निद्रा के आरम्भ में और जागृति के अन्त में जो भाव रहता है, हे रामजी! उस भाव की ही भावना करते हुए निर्द्वन्द्व होकर रहो।

२. लय और विक्षेप की सन्धि में मन निर्विकार रहता है। जिसने उस सन्धि को साध लिया वह मुक्त ही है, इसमें सन्देह नहीं।

नयनप्रीतिः प्रथमं चिन्तासङ्गस्ततोऽथ संकल्पः।
जागरणं कृशता चाप्यरतिर्लज्जापरित्यागः उन्मादमूर्च्छामृत्युः।।

अर्थात् पहले नेत्रों में प्रीति होती है, फिर प्रियतम का चिन्तन और दूसरों से असंगता हो जाती है, तदन्तर प्रियतम सम्बन्धी संकल्प-विकल्प होने लगते हैं, नींद नहीं आती, शरीर कृश हो जाता है, विषयों में अरति हो जाती है, लज्जा छूट जाती है, पागल-सा हो जाता है, मूर्च्छा आने लगती है, यहाँ तक कि मृत्यु भी हो जाती है।

फारसी वालों ने प्रेमी के लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं—

आहे सर्दो रंगे ज़र्दो चश्मे तर।
इन्तज़ारी बेक़रारी बेसबर।।
कमखुर्दनो कमगुफ्तनो ख्वाबेहराम।
आशिकारां नौ निशाँ बाशद पिसर।।

हे पुत्र! प्रेमियों के ये नौ चिह्न हैं— ठण्डी आहें, पीला रङ्ग, सजल नयन, प्रतीक्षा, बेचैनी, असन्तोष, मिताहार, मितभाषण और नींद न आना।

प्रश्न— भक्ति का स्वरूप क्या है?

उत्तर— केवल भक्त और भगवान् रह जायँ तथा सृष्टि का अत्यन्ताभाव हो जाय—यही भक्ति का स्वरूप है।

प्रश्न— प्रेम बड़ा है या ज्ञान?

उत्तर— साधक दो प्रकार के होते हैं—हृदय-प्रधान और मस्तिष्क-प्रधान। हृदय-प्रधान के लिये प्रेम सुखसाध्य है और मस्तिष्क-प्रधान के लिये विचार श्रेयस्कर है।

प्रश्न— प्रेम किस प्रकार करना चाहिये?

उत्तर— प्रेम, योग और भोग के स्कूल नहीं होते। ये किसी के सिखाने की अपेक्षा नहीं रखते। ये स्वयं स्वभाव से ही प्राप्त होते हैं। प्रेम करने का कोई समय भी नहीं है और न इसकी कोई विधि है। केवल

निरन्तर स्मरण करते रहने तथा ईर्ष्या, घृणा, भय, लज्जा, कुल, शील, जाति और मर्यादा इन आठ विघ्नों से बचते रहने पर भगवान् की कृपा से प्रेम की प्राप्ति होती है। जार स्त्री जैसे परपुरुष का चिन्तन करती रहती है उसी प्रकार सब काम करते हुए स्नेहपूर्वक भगवान् का निरन्तर चिन्तन करता रहे।

प्रश्न— सकाम और निष्काम प्रेम में क्या अन्तर है?

उत्तर— भगवान् से कुछ चाहना सकाम प्रेम है और केवल भगवान् को चाहना निष्काम प्रेम है।

प्रश्न— प्रेम और ज्ञान में क्या अन्तर है?

उत्तर— प्रेम और ज्ञान दोनों साधन सोपाधिक भी हैं और निरुपाधिक भी। दोनों अद्वितीय हैं और दोनों ही अनिर्वचनीय भी हैं। परन्तु प्रेम होने से देहाध्यास स्वयं छूट जाता है और ज्ञान देहाध्यासन रहने पर ही होता है। देश–काल का अनुभव जिज्ञासु तो करते हैं पर ज्ञानी और प्रेमी नहीं करते। भक्त ध्यान से देश–काल को तोड़ता है और ज्ञानी विचार से। अतः सिद्धान्त दोनों का एक ही है, ज्ञानी आरम्भ में ही अपने को ब्रह्म कहता है किन्तु भक्त अन्त में अपने को खोकर अपने इष्ट को ही रखता है। वात एक ही है। प्रेम से माया के विक्षेपदोष की निवृत्ति होती है और ज्ञान से आवरण की, इसलिये दोनों ही की आवश्यकता है। प्रेम, ज्ञानी और भक्त दोनों ही के लिये आवश्यक है। अन्तर केवल यही है कि भक्त में संस्कार–रूप से द्वैत रहता है और वह भगवान् से प्रेम करता है तथा ज्ञानी की अद्वैत दृष्टि होती है और वह आत्मरति करता है। अन्तःकरण का धर्म मनन चिन्तन है और शरीर के रहने तक अन्तःकरण रहेगा ही। यदि भगवान् या आत्मा का चिन्तन नहीं किया जायगा तो विषय चिन्तन होगा उससे रजोगुण–तमोगुण की वृद्धि होगी। इसलिये भक्ति करना दोनों ही के लिये आवश्यक है।

संगति— अब अगले श्लोक में भगवान् यह कहते हैं कि उन्हें प्रेमपूर्वक जो कुछ अर्पण किया जाता है उसी को वे सप्रेम स्वीकार कर लेते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।२६।।

भावार्थ— भक्त मुझे भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल जो भी अर्पण करता है उस शुद्धान्तःकरण की उस भेंट की हुई वस्तु को मैं खा लेता हूँ।

व्याख्या— यह श्लोक सगुण पासना परक है। जो भगवान् का अनन्य भक्त है, जिसे सर्वत्र भगवान् ही भगवान् दीखते हैं, वह जो कुछ भी अर्पण करता है भगवान् उसे खाते हैं अर्थात् दृष्टि से भोग लगा लेते हैं। अथवा यह जिस इन्द्रिय का विषय हो उसी से उसका उपभोग करते हैं। अथवा अधिक प्रेमवश पत्र-पुष्पादि और जूठा भी खा लेते हैं। जैसे विदुरानी के केले के छिलके, शबरी के बेर और ग्वाल बालों का उच्छिष्ट बड़े आनन्द से खा गये। यह भाव राज्य ऐसा ही है।

संगति— अब जिसको भगवान् और संसार अथवा भगवान् और माया दोनों दीखते हैं, उसके लिये व्यापक निराकार स्वरूप की उपासना बतलाते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।२७।।

भावार्थ— हे कुन्तिनन्दन! तुम जो करते, जो खाते, जो हवन करते, जो दान देते और जो भी तप करते हो वह सब मुझे अर्पित कर दो।

व्याख्या— जो कुछ शुभाशुभ हो रहा है सबको भगवान् की लीला देखो। संसार को नाटकवत् समझो। सब कुछ तो भगवान् को अर्पण कर दिया, अतः शरीर से जो कुछ हो रहा है उसे साक्षी होकर देखो।

भगवान् की वस्तु भगवान् को सौंपकर दृश्य का चिन्तन न करना ही संन्यास है, और जो ऐसा करता है वही मुक्तात्मा है। यह समष्टि-साक्षी या निराकर की उपासना है।

संगति— इसका क्या लाभ होगा, सो आगे बतलाते हैं—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।२८।।

भावार्थ— इस प्रकार संन्यास से युक्त चित्त हो तुम शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धन से छूट जाओगे और मुक्त होकर मुझे ही प्राप्त होगे।

व्याख्या— संन्यासयोगयुक्तात्मा वही है जो क्रिया मात्र भगवान् को अर्पण कर देता हैं। अथवा सबको अध्यस्त देखता है। जिसकी ऐसी दृष्टि है कि सम्पूर्ण दृश्य मुझ से पृथक् है और उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार उसका दृश्य में तनिक भी राग नहीं रहता। तभी वह कर्मों के फलरूप बन्धन से छूट सकता है और मुझे प्राप्त कर सकता है, कोई अन्य नहीं।

यहाँ 'विमुक्त' शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि मुक्त (जैसे आर्यसमाजियों की मुक्ति वाले) तो लौट आते हैं, किन्तु विमुक्त कभी नहीं लौटते; क्योंकि उनकी परब्रह्म से एकता हो जाती है।

संगति— अब अगले श्लोक में भगवान् अपनी समता दिखलाते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।२९।।

भावार्थ— मैं सब भूतों में समान हूँ। मेरा न कोई द्वेष्य (द्वेष्यके योग) है, न प्रिय है। किन्तु जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझमें रहते हैं और मैं उनमें रहता हूँ।

व्याख्या— यहाँ भगवान् अपनी समता व्यक्त करते हुए भक्तों के साथ अपनी अभिन्नता प्रकट करते हैं। भगवान् तो शत्रुओं का भी मङ्गल करते हैं। उनका कोई शत्रु या मित्र नहीं है, किन्तु भक्तों के शत्रु ही उनके शत्रु हैं और भक्तों के मित्र ही उनके मित्र हैं। इसीसे वे सम और निर्विकार होने पर भी विषम और विकारी से जान पड़ते हैं।

प्रश्न— भगवान् को दयालु और न्यायकारी कहा जाता है। न्यायकारी तो अपराधी के प्रति दया नहीं कर सकता। फिर भगवान् इन विरुद्ध धर्मों का निर्वाह कैसे करते हैं?

उत्तर— दया भगवान् का गुण नहीं स्वभाव है। जैसे प्रकाश सूर्य का स्वभाव ही है। परन्तु बादल होने पर वह ढक जाता है और उससे शीत एवं अंधकार का दु:ख दूर नहीं होता। इसी प्रकार भगवान् की दया में कभी कोई कमी नहीं आती। किन्तु बादल रूप विषयासक्ति के कारण उसकी अनुभूति नहीं होती। जब भगवद्भक्तिरूप वायु से विषयासक्तिरूप बादल हट जाते हैं तब उसकी अनुभूति होने लगती है। अत: भगवान् स्वभावत: सम और दयामय होने पर भी लोगों को अपने विभिन्न आचरणों के कारण उनके अनुसार विषम और न्यायकारी जान पड़ते हैं। इससे उनके स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आता।

'सम' शब्द के अनेक अर्थ हैं। किन्तु यहाँ भगवान् ही सम हैं। जिस प्रकार दीपक शुभाशुभ अनेकों क्रियाएँ होने पर भी उनसे अलिप्त और सम रहता है, विषमता उसके विषयों में ही रहती है तथा विषयों के न रहने पर वह स्वयं सम रह जाता है, इसी प्रकार विषयों के त्यागने पर जीव भी सम रह जाता है। परमात्मा तो सम है ही, अत: शुद्ध साक्षी की परमात्मा से एकता हो जाती है। यही भक्त और भगवान् का मिलन है। इसीसे भगवान् कहते हैं कि वह मुझमें है और मैं उसमें हूँ।

संगति—अगले श्लोक में भगवान् भजन का प्रभाव दिखलाते है। अब अन्त तक यही प्रसंग चलेगा।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधरेव स मन्तव्य: सम्यग्व्यवसितो हि स:॥३०॥

भावार्थ— यदि कोई अत्यन्त दुराचारी भी अनन्य भाव से मेरा भजन करता है, तो उसे साधु ही मानना चाहिए, क्योंकि उसने यथार्थ निश्चय कर लिया है।

व्याख्या— पहले जो पापी होते हैं वे धीरे-धीरे भजन के प्रभाव से पुण्यात्मा हो जाते हैं; जैसे बाल्मीकि, बिल्वमंगल इत्यादि। वास्तव में दुराचारी ही को भजन करने की झूठे को ही सत्यभाषण की और अज्ञानी को ही शास्त्राध्ययन की आवश्यकता है। भजन इस

प्रकार करना चाहिये कि इष्टदेव के अतिरिक्त और किसी का सहारा न रहे। जैसे लड़की ससुराल में सेवा तो सबकी करती है परन्तु प्रेम तो निरन्तर पति ही में रहता है। इसी प्रकार जिसे सारा संसार प्रतीत होते हुए भी गन्धर्वनगरवत् जान पड़े, सबके बीच में रहते हुए भी कामादि विकार न हों और निरन्तर आत्माकार वृत्ति रहे, उसे साधु ही समझना चाहिए। वह तत्काल धर्मात्मा हो जाता है और परम शान्ति को प्राप्त होता है। यही बात अगले श्लोक में बतलाते हैं।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।३१।।

भावार्थ— वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और चिरस्थायिनी शान्ति प्राप्त करता है। कौन्तेय! तुम प्रतिज्ञा करो कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।

व्याख्या— विषयी पुरुष का विषयों में राग होता है। भगवत्कृपा से वही राग विषयों से छूटकर भगवान् में हो जाता है। इसलिये उसका जीवन पलटने में देर नहीं लगती। जिसमें राग हो ही नहीं वह सूखा ठूँठ भगवदनुरागी भी कैसे होगा।

प्रश्न— प्रतिज्ञा तो भगवान् को स्वयं करनी चाहिए थी, वे अर्जुन से क्यों करा रहे हैं?

उत्तर— भगवान् को तो कोई शङ्का नहीं थी, वे क्यों प्रतिज्ञा करते। इसके सिवा भगवान् तो भक्त के लिये अपनी प्रतिज्ञा तोड़ भी देते हैं, किन्तु भक्त की बात वे व्यर्थ नहीं होने देते।

संगति— अगले श्लोक में भगवान् बतलाते हैं कि उनके भजन के सभी अधिकारी हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।३२।।

भावार्थ— हे पार्थ! मेरा आश्रय लेने पर तो स्त्री वैश्य, शूद्र और जो पापयोनि वाले हैं वे भी परमगति को प्राप्त हो जाते हैं।

व्याख्या— चारों आचार्यों का विचार है स्त्री, वैश्य, शूद्र और पाप-योनि ये चारों अलग-अलग गिनाये गये हैं, और मेरा विचार भी यही है। परन्तु श्री शंकराचार्यजी का मत है कि भगवान् ने स्त्री, वैश्य और शूद्र को ही पाप-योनि कहा है। यह उनका पक्षपात ही जान पड़ता है, क्योंकि यदि स्त्री पाप-योनि है तो उसके हाथ का भोजन नहीं करना चाहिये, जबकि सभी करते हैं। तथा यज्ञ में भाग लेने का उसका अधिकार नहीं होना चाहिये, जबकि स्त्री के बिना कोई यज्ञ सम्पन्न ही नहीं होता। अतः स्त्री पाप-योनि नहीं हो सकती। पापयोनि तो वे हैं कि जिनकी स्वभाव से ही पाप में प्रवृत्ति होती है। किन्तु पाप-योनियों के साथ स्त्री को गिनाया इसलिये है कि उसमें लोभ, अशुद्धि और काम की अधिकता होती है। स्त्री की सब इच्छाएँ नष्ट हो जाने पर भी उसे पति-सुख की कामना बनी रहती है। साथ ही उसमें लोभ की मात्रा भी अधिक होती है। थोड़े से प्रलोभन से भी वह नीचसे नीच काम करने को तैयार हो जाती है।

वैश्य को पापयोनियों के साथ इसलिये गिनाया है कि उसका कर्म वाणिज्य है। वह वाणिज्य में झूठ बोलता है और व्याज लेता है। लोभ की इनमें प्रधानता होती है। इसी से शूद्र के साथ ही वैश्य को गिनाया है। वास्तव में यह शूद्र के समकक्ष नहीं है, क्योंकि शूद्र को तो यज्ञ मण्डप में जाने का भी अधिकार नहीं है और वैश्य यज्ञ कर सकता है। शूद्र दो प्रकार के होते हैं—सत् शूद्र और असत् शूद्र। ग्वाले, नाई, अहीर आदि सत् शूद्र हैं तथा चमार-धोबी आदि असत् शूद्र हैं, इन्हीं को अन्त्यज भी कहते हैं। शूद्रों में काम, क्रोध, लोभ आदि अधिक होते हैं तथा रहन-सहन में अपवित्रता रहती है। किन्तु इनसे भी निकृष्ट पापयोनि हैं। पापयोनियों की गणना करते हुए भगवदाश्रय से उनके उद्धार की बात श्रीमद्भागवत में भी इस श्लोक द्वारा कही गयी है—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कषा आभीरकंका यवनाः खशादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

अर्थात् जिन जगदुत्पादक भगवान् की शरण लेने पर किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कष, आभीर, कंक, खश तथा अन्यान्य पापी भी शुद्ध हो जाते हैं, उनको नमस्कार है।

इन सभी को पाप योनियों के साथ इसलिये गिनाया है कि ये सब कामादि दोषों के वशीभूत होने पर भी यदि मेरा आश्रय लेते हैं तो शुद्ध हो जाते हैं। अर्थात् अपने स्वाभाविक दोषों से छूटकर मुझे प्राप्त कर लेते हैं। अतः जीव के उद्धार में या साधुता की प्राप्ति में भगवदाश्रय की ही प्रधानता है, जाति आदि की नहीं।

संगति— इस प्रकार परमगति की प्राप्ति में भजन की अनिवार्यता दिखाकर अगले श्लोक में भी इसी की पुष्टि करते हैं—

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।३३।।

भावार्थ— फिर पुण्यकर्मा ब्राह्मण और राजर्षि भक्तों के विषय में तो कहना ही क्या है। अतः इस अनित्य और दुःखरूप मनुष्य लोक में आकर मेरा भजन करो।

व्याख्या—ब्राह्मण तो स्वभाव से ही निर्वासनिक होते हैं। भजन उनका स्वभाव होता है। वे पुण्यस्वरूप ही हैं। 'भक्त' शब्द राजर्षियों के लिये है। पूर्वकाल में बोध की ब्राह्मणों में और भक्ति की क्षत्रियों में प्रधानता होती थी। वैश्य तो अब भक्ति करने लगे हैं। अतः ब्राह्मण और क्षत्रिय यदि भगवद्आश्रित हों तो उनकी मुक्ति होने में तो किसी प्रकार सन्देह हो ही नहीं सकता। इस प्रकार भगवान् यहाँ दुःखरूप संसार की अनित्यता का प्रतिपादन करते हुए मनुष्यमात्र को परमपद की प्राप्ति के लिये निरन्तर भजन की आवश्यकता बतला रहे हैं।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।।३४।।

भावार्थ— मुझमें मन लगाओ, मेरे भक्त होओ, मेरा भजन करो और मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार मेरे परायण हुए मुझमें युक्त होकर मुझे ही प्राप्त हो जाओगे।

व्याख्या— जिसका अन्तःकरण शुद्ध है उस सत्त्वगुणप्रधान उत्तम अधिकारी के लिए कहा है— 'मन्मनाभव' अर्थात् मेरा ध्यान करो। रजोगुण-प्रधान मध्यम अधिकारी के लिये कहा है—'मद्भक्तो भव'—मेरे भक्त हो जाओ। अर्थात् भगवान् और भगवद्भक्तों की सेवा तथा भगवदर्पण बुद्धि से कर्म करो। कनिष्ठ अधिकारी के लिये कहा है—'मद्याजी भव' अर्थात् मेरे लिये यज्ञादि निष्काम कर्म करो। और चौथे कनिष्ठतर अधिकारी के लिये कहते हैं—'मां नमस्कुरु'। अर्थात् नामजप करते हुए भक्तिपूर्वक मुझे नमस्कार करो।

चार वर्ण हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। चार ही आश्रम हैं—संन्यास, वानप्रस्थ, गृहस्थ और ब्रह्मचर्य। चार ही युग हैं—सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलि। तथा चार ही साधन हैं—ध्यान, भक्ति, यज्ञ और जप। भगवान् सबको यथाधिकार साधन करने के लिये कह रहे हैं। वे ब्राह्मण के लिये ध्यान, क्षत्रिय के लिये यज्ञादि कर्म वैश्य के लिये भक्ति और शूद्र के लिये जप बतला रहे हैं। अथवा संन्यासी के लिये ध्यान, वानप्रस्थ के लिये भक्ति, गृहस्थ के लिये यज्ञादि कर्म और ब्रह्मचारी के लिये जप समझना चाहिये। इसी प्रकार सतयुग में ध्यान, त्रेता में यज्ञ, द्वापर में पूजन और कलियुग में जप एवं कीर्तन की प्रधानता है।

गीता में चार साधन बताये हैं—सकाम कर्म, सकाम उपासना, निष्काम कर्म और निष्काम उपासना। जब तक स्त्री-पुत्रादि की कामना हो सकाम कर्म और सकाम उपासना करे। और जब शान्ति की इच्छा हो तब निष्काम कर्म और निष्काम उपासना करे। इन्हीं के द्वारा क्रमशः ज्ञान और प्रेम की प्राप्ति होकर परमपद की प्राप्ति हो जायगी।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः॥९॥

ॐ
श्री परमात्मने नमः
श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

अथ दशमोऽध्यायः

संगति— पिछले अध्याय में भगवान् ने अपनी भक्ति के स्वरूप, उसकी प्राप्ति के उपाय और अधिकारी का प्रतिपादन किया अब इस अध्याय में अपने ऐश्वर्य का वर्णन करेंगे। विभूति उनका ऐश्वर्य ही है। तात्पर्य यह है कि नवम अध्याय में ज्ञान, भक्ति और कर्म सबका प्रतिपादन कर अन्त में भगवान् ने 'मत्परायणः' अपने परायण होने को कहा—अब इस अध्याय के आरम्भ में फिर उसी प्रसंग को दुहराते हैं—

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृण मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।।१।।

भावार्थ— श्री भगवान् बोले—महाबाहो! तुम फिर भी मेरा यह श्रेष्ठ वचन सुनो, जो कि मैं अपने से प्रेम करने वाले तुमसे तुम्हारे हित की कामना से कहूँगा।

व्याख्या— भगवान् ने अर्जुन को 'महाबाहो' कहकर सम्बोधन किया है। इसका भाव यह है कि तुम धीर-वीर हो इसलिये मेरा उपदेश ग्रहण करने में समर्थ हो।

प्रश्न— भगवान् ने फिर भी वही बात कहने को क्यों कहा? क्या यह पुनरुक्ति दोष न होगा।

उत्तर— यह पुनरुक्ति दोष नहीं हैं, क्योंकि यह विषय कठिन है। अतः भगवान् इसलिये दुहरा रहे है कि सम्भव है, यह बात अर्जुन समझ न सका हो तो दुबारा कहने से वह इसे हृदयंगम कर सकेगा।

प्रश्न— शास्त्र का यह नियम है कि बिना पूछे या अन्याय से पूछने पर किसी से कुछ न कहे—

नापृष्टः कस्य–चिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्।।

तब भगवान् बिना पूछे ही अर्जुन से क्यों कह रहे हैं?

उत्तर— यह तो ठीक है, परन्तु जो सर्वस्व समर्पण करके शरणापन्न हो चुका हो और अपना अत्यन्त प्रिय हो उससे तो बिना पूछे भी कहना चाहिए, क्योंकि यह नियम अपने प्रेमियों के लिए नहीं है। श्रीगोसाई जी कहते हैं—

गूढ़ हुँ तत्त्व न साधु दुरावहिं।
आरत अधिकारी जहँ पावहिं।।

अर्जुन तो भगवान् का प्रिय सखा है और उनका शिष्यत्व भी स्वीकार कर चुका है, वह तत्त्व जानने के लिए बेचैन है, इसलिये अधिकारी और आर्त्त भी है। अतः भगवान् पहले दो श्लोकों में अपने ऐश्वर्य की महिमा बतला रहे हैं—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।।२।।

भावार्थ—मेरे जन्म के रहस्य को देवता और महर्षि भी नहीं जानते, क्योंकि मैं ही सब प्रकार देवता और महर्षियों का आदि कारण हूँ।

व्याख्या— देवता इसलिये नहीं जानते कि स्वर्ग भोग–भूमि है और भोग प्रधान होने के कारण वे भजन नहीं कर सकते। फिर बिना भजन किये वे भगवदवतार का रहस्य कैसे जान सकते हैं। महर्षि लोग भी कर्मकाण्ड में लगे रहते हैं, अतः वे भी इसे नहीं जानते—'यत्कर्मी न विजानाति'। अतः भक्त के अतिरिक्त भगवान् के रहस्य को कोई नहीं जान सकता।

भगवान् शंकराचार्य ने भी यही अर्थ किया है कि केवल भक्त ही मुझे जान सकता है। आगे श्लोक १४ में भी कहते हैं कि 'नहि ते भगवन् व्यक्तिर्विदुर्देवा न दानवाः।' भगवान् के स्वरूप को न जानने का कारण यह भी है कि जिसका कोई निमित्त या उपादान कारण होता है वही वस्तु जानी जा सकती है। भगवान् का अवतार तो स्वेच्छा से

होता है और वे स्वयं ही सबके आदि-कारण हैं। इसके सिवा सबके द्रष्टा और अधिष्ठान होने के कारण भी वह किसी के ज्ञेय नहीं हो सकते। स्वप्न-द्रष्टा को कोई स्वप्न-पुरुष कैसे जान सकता है। इसलिये भी उन्हें कोई नहीं जानता।

प्रश्न— यदि भगवान् आदि कारण होने के कारण देवता और महर्षियों के ज्ञेय नहीं हैं तो भक्तों के भी तो वे आदि कारण हैं, वे भी कैसे उनकी महिमा जान सकते हैं?

उत्तर— भगवान् की तरह भक्त भी अनादि हैं। भक्तों के लिये ही तो उनका अवतार होता है। अतः वे ही उनके अवतार का रहस्य जान सकते हैं। भक्तों से भगवान् की आत्मीयता है, इसलिये उनसे वे कोई दुराव नहीं रखते।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥३॥

भावार्थ— जो पुरुष मुझे अजन्मा, अनादि और सम्पूर्ण 'लोकों का महेश्वर जानता है वह मनुष्यों में असंमूढ (ज्ञानी) है और वह सब पापों से मुक्त हो जाता है।

व्याख्या— यह श्लोक भगवान् के सगुण-निर्गुण दोनों स्वरूपों का प्रतिपादन करता है। 'अज' और 'अनादि' पद निर्गुण रूप का प्रतिपादन करते हैं और 'महेश्वर' पद उनके सगुण रूप का मैं ब्रह्मरूप में ब्रह्म हूँ, रामरूप में राम और कृष्ण रूप में कृष्ण। परन्तु इन अनेकों रूपों में भी मुझ एक को ही जो मानता है वह सब बन्धनों से छूट जाता है। और जो मेरे वास्तविक स्वरूप को न जानकर मुझे केवल वसुदेवनन्दन ही मानते हैं वे मूढ़ हैं और बन्धन में पड़े रहते हैं। असम्मूढ़ या ज्ञानी तो वही है जो मेरे तात्त्विक स्वरूप को जानता है। भगवान् के सच्चिदानन्द स्वरूप को तो तत्त्ववेत्ता ही जान सकता है, क्योंकि वह आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं देखता। इसलिए सम्पूर्ण मनुष्यों में भगवान् ने उसे ही असम्मूढ कहा है और वही सम्पूर्ण पाप या बन्धनों से मुक्त होता है?

प्रश्न— दूसरे श्लोक में तो कहा है कि मुझे देवता और महर्षि भी नहीं जानते और यहाँ अपने को जानने पर ही पापों से मुक्ति बतलायी है। इन दोनों वाक्यों की संगति कैसे लगेगी।

उत्तर— इसका अर्थ, जैसा कि पिछले श्लोक की व्याख्या में किया है, यही समझना चाहिए कि मेरे भक्त के अतिरिक्त मुझे कोई नहीं जानता।

प्रश्न— इस श्लोक में तो भक्त का कोई उल्लेख है नहीं।

उत्तर— इस श्लोक में न सही, अन्यत्र तो कई स्थानों में ऐसे प्रमाण मिलते हैं, यथा—'भक्त्या मामभिजानाति' (१८/५) 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य..........ज्ञातुम्' (११/५३) इत्यादि।

संगति— आगे के चार श्लोकों में भगवान् अपनी विभूतियों का उल्लेख करते हैं—

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।।४।।
अहिंसासमतातुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।।५।।

भावार्थ— बुद्धि (विवेकवती बुद्धि) ज्ञान, असंमोह (मोहरहित होना), क्षमा, सत्य, दम (इन्द्रिय-निग्रह), शम, सुख, दुःख, उत्पत्ति, नाश, भय, अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, (एकाग्रता) दान (क्षमादान आदि) यश और अपयश—ये भूतों के अलग-अलग जितने भाव हैं मुझसे ही होते हैं। अर्थात् मेरी योगमाया से ही होते हैं।

व्याख्या— यहाँ सृष्टि की उत्पत्ति प्रकृति से नहीं भगवान् से ही बतायी है। और जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है वह उसी का स्वरूप होता है। जहाँ ऐसा माना जाय कि भगवान् (पुरुष) की सत्ता से प्रकृति सृष्टि-रचना करती है वहाँ सांख्य और योग का सिद्धान्त समझना चाहिये। किन्तु भगवान् से तो सृष्टि उसी प्रकार होती है जैसे स्वप्नद्रष्टा से स्वप्न। वहाँ स्वप्न तो केवल प्रतीतिमात्र है, वास्तव में तो स्वप्नद्रष्टा

ही है। इसी प्रकार आत्मा से भिन्न जगत् नहीं है। वहाँ तो यह दिखलाया है कि ज्ञान और अज्ञान भी भगवान् से भिन्न नहीं है। यही बात भगवान् ने अध्याय ९ श्लोक १९ में कही है तथा अध्याय १५ श्लोक १५ में भी कहेंगे—'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' इत्यादि।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजा॥६॥

भावार्थ— सप्त महर्षि, (सनकादि) चार पूर्व पुरुष और (चौदह) मनु— ये मेरी सत्ता से मन से ही उत्पन्न हुए हैं, जिनसे कि यह सारी प्रजा उत्पन्न हुई है।

व्याख्या— अर्थात् यह मेरी ही मानस सृष्टि है, मुझमें ही स्थित है और मुझमें ही लीन हो जायगी। भिन्न-भिन्न प्रतीत होने पर भी ये मुझसे अभिन्न हैं, क्योंकि पूर्ण वस्तु तो एक ही हो सकती है, दो भी पूर्ण नहीं हो सकतीं, क्योंकि दो में देश काल परिच्छेद न होने पर भी वस्तु-परिच्छेद हो ही जायगा। अतः दोनों ही परिच्छिन्न सिद्ध होंगी।

प्रश्न— सप्त महर्षि कौन-कौन से हैं?

उत्तर— भिन्न-भिन्न मन्वन्तरों में भिन्न-भिन्न सप्तर्षि होते हैं। इस मन्वन्तर के सप्तर्षि ये हैं—मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य पुलह, क्रतु और वसिष्ठ।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥७॥

भावार्थ— जो मेरे इस विभूतियोग को तत्त्वतः जानता है वह निश्चल योग से युक्त होता है, इसमें संशय नहीं।

व्याख्या— भगवान् को इस सम्पूर्ण प्रपञ्च का अधिष्ठान जानना, अर्थात् सृष्टि नहीं है केवल भगवत्सत्ता ही है—ऐसा जानना ही निश्चल योग है। अथवा सम्पूर्ण जगत् को भगवान् का स्वरूप जानना और अपने को उसका साक्षीमात्र उससे पृथक देखना। अथवा

जैसे स्वप्न-पुरुष स्वप्न-द्रष्टा से भिन्न हैं ही नहीं, केवल प्रतीतिमात्र हैं, इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपञ्च अपने से भिन्न है ही नहीं—ऐसा जानना ही तत्त्व से जानना है और यही निश्चल योग है।

संगति— इस प्रकार भगवान् ने अपनी विभूतियों का उल्लेख किया। अब अगले दो श्लोकों में अपने भजन की विधि बतलाते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥८॥

भावार्थ— मैं ही सबका उत्पत्ति-स्थान हूँ और मुझसे ही सबकी प्रवृत्ति होती है। ऐसा निश्चय करके विवेकी पुरुष भावपूर्वक मेरा भजन करते हैं।

व्याख्या— विवेकी पुरुष 'सब मेरा ही स्वरूप है' ऐसा मानकर खाते-पीते, चलते-फिरते, जो भी शुभाशुभ कर्म करता है सर्व मेरी बुद्धि से मेरे लिये ही करता है। उसकी हर समय आत्माकार वृत्ति रहती है—यही उसका भजन है। 'बुधाः' शब्द से यहाँ अपरोक्ष ज्ञानी समझने चाहिए। किन्तु ऐसा मानने से शुद्ध ब्रह्म से भेद की आशंका होगी। इसलिये यह श्लोक भक्तिपरक समझना चाहिए। अथवा इसे ज्ञानोत्तर भक्ति भी कह सकते हैं। अथवा मैं सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ, इसलिए सब मेरा ही स्वरूप है— ऐसी भावना से युक्त होकर विवेकी मेरा भजन करते हैं। ऐसी भावना विवेकी की ही हो सकती है। मूर्ख की तो हो नहीं सकती। यही सर्वभाव है, इसका १५ वें अध्याय के१९ वें श्लोक में उल्लेख किया जायगा। इसी भाव से गोस्वामी श्री तुलसीदासजी कहते हैं—

अस विचारि पंडित मोहिं भजहीं।
पाये हुँ ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥

संगति— अगला श्लोक भक्ति की सिद्धावस्था का है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥९॥

भावार्थ— मुझमें ही चित्त और मुझमें ही प्राण लगाने वाले, भक्तजन परस्पर मेरा ही विवेचन और मेरा ही कथन करते हुए सर्वदा सन्तुष्ट होते और रमण करते हैं।

व्याख्या— जिनका चित्त भगवान् के चित्त में मिल गया है, वे मच्चित है और जिनके प्राण भगवान् के प्राणों में मिल गये हैं वे मद्गतप्राण हैं। अर्थात् जिन्होंने निरन्तर अपने चित्त और प्राणों को भगवान् में लगा रखा है। अथवा 'मच्चिताः' से जिसकी ज्ञानेन्द्रियाँ और 'मद्गतप्राणाः' से जिनकी कर्मेन्द्रियाँ भगवान् में अर्पित हो गयी हैं ऐसे आपस में भगवान् का गुणानुवाद करते हुए सन्तुष्ट होते हैं और सर्वदा भगवान् में ही रमण करते हैं। निरन्तर इष्ट-चिन्तन ही रमण है।

इस श्लोक का ज्ञान-परक अर्थ इस प्रकार होगा कि वे बोधवान् परस्पर चर्चा करते हुए अपने अनुभव के अनुसार तत्त्व का विवेचन करके आत्मा में सन्तुष्ट रहते और निरन्तर आत्मा में ही रमण करते हैं। परन्तु वास्तव में यह प्रकरण भक्ति का ही है। जो भगवद्भक्ति से सन्तुष्ट है उसे ज्ञान की क्या आवश्यकता है। सम्पूर्ण गीता में यह तथा अध्याय ७ का २३ वाँ श्लोक शुद्ध भक्ति का प्रतिपादन करने वाले हैं। अन्यत्र तो ज्ञान के साधन रूप से ही भक्ति का प्रतिपादन हुआ है, परन्तु इन दो श्लाकों में भक्ति स्वतन्त्र है।

संगति— अगला श्लोक भी सगुण-भक्तिपरक है। इसमें जो 'बुद्धियोग' शब्द आया है उसका अर्थ तत्त्वज्ञान भी है और भगवदैश्वर्य का ज्ञान भी है।

तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।१०।।

भावार्थ— उन निरन्तर मुझमें लगे हुए और प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करने वालों को मैं बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं।

व्याख्या— जो ज्ञान की इच्छा से अन्य सब कामनाएँ छोड़ कर निरन्तर प्रीतिपूर्वक मेरे भजन में लगे हैं उन भक्तों को मैं बुद्धियोग

देता हूँ, जिससे वे मुझे निर्विशेष ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं। अपने अपने लक्ष्य के अनुसार भक्त दो कोटि के होते हैं। (१) भगवत्प्राप्ति की इच्छा वाले और (२) ज्ञान की इच्छा वाले। जो पहली कोटि वाले हैं उनके लिए बुद्धियोग देने का यह अर्थ है कि उन्हें मैं अपने स्वरूप का ज्ञान करा देता हूँ, जिससे वे जल-तरंगवत् सबको अभेदस्वरूप ही देखते हैं। दूसरी कोटि वालों के लिए बुद्धियोग का अर्थ है विवेकवती बुद्धि अर्थात् उन्हें दृढ़ बोध या सम्यक् ज्ञान करा देता हूँ। तब उन्हें ऐसा अनुभव होता है कि 'सर्वमिदमहञ्च वासुदेवः'—यह सब और मैं वासुदेव ही हैं। अर्थात् मेरे स्वरूप से भिन्न कुछ भी नहीं है।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।११।।

भावार्थ— उन भक्तों पर कृपा करने के लिए ही मैं आत्म स्वरूप ही उनके अज्ञानजनित अन्धकार को देदीप्यमान ज्ञान-दीपक से नष्ट कर देता हूँ।

व्याख्या—उन भक्तों के ऊपर कृपा करके मैं उनके अज्ञानजनित निद्रा, तन्द्रा और आलस्यादि दोषों को ज्ञान-दीप से नष्ट कर देता हूँ, रजोगुण तो उपासना से नष्ट हो जाता है, किन्तु निद्रा-तन्द्रा आदि तमोगुण की निवृत्ति अखण्ड ध्यान से होती है। जो व्यक्ति भोग, मोक्ष और सिद्धि तीनों की कामना को त्यागकर भजन करता है उसी का भजन प्रीतिपूर्वक माना जाता है। ऐसा प्रीतिपूर्वक भजन होने पर ही भगवान् बुद्धियोग देते हैं। गीता में ज्ञान की प्रधानता है, इसलिए यहाँ भक्ति को ज्ञान का साधन माना है। इस श्लोक में भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं कि मेरा भक्त अज्ञानी नहीं रहता, मैं उसे ज्ञान करा देता हूँ। यह ज्ञान घटज्ञान-पटज्ञान की तरह नहीं है, यह स्वयं प्रकाश ज्ञान है।

संगति—जब भगवान् का ऐश्वर्य सुनकर और उससे प्रभावित होकर अर्जुन भगवान् की स्तुति करता है और विस्तारपूर्वक अपनी विभूतियों का वर्णन करने की प्रार्थना करता है।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥१३॥

भावार्थ— आप परब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं। सम्पूर्ण ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास आपको दिव्य एवं सनातन पुरुष, आदि देव, अजन्मा और विभु बतलाते हैं तथा आप स्वयं भी मुझसे ऐसा ही कह रहे हैं।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥१४॥

भावार्थ— हे केशव! आप जो कुछ कह रहे हैं, वह सब मैं सच मानता हूँ, क्योंकि आपके इस व्यक्तित्व (सगुण स्वरूप) को देवता (दैवी सम्पत्तिवाले) और दानव (आसुरी सम्पत्तिवाले) दोनों ही नहीं जानते।

व्याख्या— आप जो कुछ कह रहे हैं अर्थात् आपने आरम्भ से यहाँ तक जो भी कर्म, उपासना और ज्ञानादि का उपदेश दिया है, उस सबको मैं ठीक मानता हूँ। आपकी माया से तो स्वयं देवाधिदेव ब्रह्मा भी मोहित हो गये। वे भी आपको नहीं पहचान सके तो अन्य सामान्य पुरुष क्या जानेंगे। भक्त भले ही स्वीकार कर लें कि आप स्वयं देहधारी भगवान् हैं, ज्ञानी तो आपकी भगवत्ता को समझ नहीं सकते।

संगति— इसकी पुष्टि अगले श्लोक में करते हैं।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥१५॥

भावार्थ— हे पुरुषोत्तम! हे भूतभावन! हे भूतेश्वर! हे देवाधिदेव! हे जगत्पते! आप स्वयं ही अपने द्वारा अपने आपको जानते हैं।

व्याख्या— आपको कोई दूसरा नहीं जान सकता क्योंकि आप पुरुषों में श्रेष्ठ, भूतों की उत्पत्ति करने वाले, सम्पूर्ण भूतों के ईश्वर, देवताओं के भी देवता और सम्पूर्ण संसार के स्वामी हैं। आपको कोई नहीं जानता, क्योंकि फिर वह स्वयं नहीं रहता। 'सो जनहि जेहि देहु जनाई। जानत तुमहिं तुमहि ह्वै जाई॥'

आपको इसलिये भी कोई नहीं जानता, क्योंकि आपका स्वरूप ज्ञान का विषय नहीं है। आप निर्विशेष हैं, यदि विशेषण न रहें तो सत्तामात्र को कौन जान सकता है। इसलिये बोध को स्वसंवेद्य कहा जाता है। आपका स्वरूप किसी को साकार किसी को निराकार, किसी को भाव, किसी को अभाव किसी को साक्षी, किसी को स्वरूप तथा किसी को सर्वातीत जान पड़ता है। अतः वस्तुतः आपको किसी ने नहीं जाना। वास्तव में जो इन सम्पूर्ण रूपों का प्रकाशक है, जिसमें ये सब भासते हैं वही आपका स्वरूप है। और यही यथार्थ जानना है। जिसे ऐसा अनुभव है उसका फिर किसी मतवाद से कोई विरोध नहीं रहता।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥१६॥

भावार्थ— आप अपनी दिव्य विभूतियों का पूर्णतया वर्णन करने में समर्थ हैं, जिन विभूतियों के द्वारा आप इन सम्पूर्ण लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥१७॥

भावार्थ— हे योगिन्! आपका निरन्तर चिन्तन करते हुए मैं किस प्रकार आपको जान सकता हूँ। तथा भगवन्! किन-किन भावों में मुझे आपका चिन्तन करना चाहिए।

व्याख्या— यहाँ 'चिन्त्योऽसि' पक्ष से जान पड़ता है कि अर्जुन भगवान् के सविशेष रूपों के विषय में पूछ रहा है, क्योंकि निर्विशेष का तो चिन्तन नहीं हो सकता।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।।१८।।

भावार्थ— हे जनार्दन! आप अपने विभूतियोग का पुनः विस्तार से वर्णन कीजिये, क्योंकि इस अमृतोपदेश को सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं होती है।

व्याख्या— इससे निश्चय होता है कि भगवान् की वाणी अमृतमयी होने के कारण मोक्ष या परमपद की प्राप्ति कराने वाली है, जिससे पुनः जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ना पड़ता। भगवान् पहले अध्याय में श्लोक ७ से १२ तक अपनी विभूतियों का वर्णन कर चुके हैं। अब अर्जुन उन्हें विस्तार से पुनः सुनना चाहता है, इसलिए यहाँ 'भूयः' शब्द का प्रयोग हुआ है।

श्री भगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।।१९।।

भावार्थ— श्रीभगवान् बोले— कुरुश्रेष्ठ! अच्छा, मैं प्रधानता से अपनी दिव्य विभूतियों का वर्णन करता हूँ। मेरे विस्तार का तो अन्त नहीं है।

व्याख्या— 'हन्त' का प्रयोग यहाँ खेद व्यक्त करने के लिए है, क्योंकि विभूतियाँ अनन्त हैं, उनका विस्तार से वर्णन सम्भव नहीं है। यहाँ एक बड़ा रहस्य है, 'मे' और 'विस्तरस्य' दोनों ही पद षष्ठी एक वचन के हैं, इसलिये 'मेरा विस्तार' ऐसा अर्थ न करके 'विस्तार रूप जो मैं' ऐसा अर्थ किया जा सकता है। अर्थात् विस्तार मुझसे भिन्न नहीं 'मैं' ही विस्तार हूँ, जैसे मकड़ी का जाला मकड़ी से भिन्न नहीं, मकड़ीरूप ही है। यदि विस्तार को भगवान् से भिन्न मानेंगे तो प्रकृति और पुरुष दो की सत्ता सिद्ध होगी, जो सिद्धान्तविरुद्ध है।

संगति— अगले श्लोक में भगवान् अपनी सर्वात्मता प्रकट करते हैं। यह श्लोक इस अध्याय में सबसे श्रेष्ठ है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।।२०।।

भावार्थ— हे गुडाकेश! मैं प्रत्यगात्मा (शुद्ध ब्रह्म सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण) सभी प्राणियों के अन्त:करण में स्थित हूँ। तथा मैं ही सबका आदि (कारण) मध्य (स्थूल-सूक्ष्म शरीर तथा विराट और हिरण्यगर्भ) और अन्त (ईश्वर या माया विशिष्ट ब्रह्म) हूँ।

व्याख्या— भगवान् ने पहले अपने को सबका आत्मा अर्थात् शुद्ध ब्रह्म कहा। फिर सब भूतों का मध्य बतलाया और फिर सबका अन्त। इस प्रकार सर्वरूप होने के कारण किसी भी विभूति की उपासना करने से मेरी ही उपासना होती है। मैं ही सविशेष हूँ और मैं ही निर्विशेष हूँ। मुझ ही से सब उत्पन्न हुए हैं, मुझ ही में स्थित हैं और मुझ ही में लीन होते हैं। इस प्रकार सभी मेरी विभूति हैं, क्योंकि मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है।

प्रश्न—भगवान् ने कहा कि मैं सब भूतों के हृदय में स्थित हूँ, इससे तो जान पड़ता है कि भूतों के हृदय और भगवान् भिन्न-भिन्न हैं।

उत्तर— नहीं, क्योंकि सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाले भगवान् ही हैं, अतः सर्वरूप में वे ही हैं, जैसे स्वप्न स्वप्नद्रष्टा से भिन्न नहीं होता। अतः भूतों के हृदय और भगवान् दोनों एक ही वस्तु हैं।

संगति— अब भगवान् अपनी विभूतियाँ आरम्भ करते हैं—

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।।२१।।

भावार्थ— मैं बारह अदितिपुत्रों में विष्णु (वामन भगवान्) ज्योतियों में किरणों वाला सूर्य हूँ, उनचास मरुद्गण में मरीचि और नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।।२२।।

भावार्थ— मैं वेदों में सामवेद हूँ देवताओं में इन्द्र हूँ इन्द्रियों में मन हूँ और प्राणियों में चेतना शक्ति हूँ।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वितेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्।।२३।।

भावार्थ— मैं एकादश रुद्रों में शंकर हूँ, यक्ष-राक्षसों में कुबेर हूँ, आठ वसुओं में अग्नि हूँ, और पर्वतों में मेरु हूँ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ वृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागर।।२४।।

भावार्थ— हे पार्थ! तुम पुरोहितों में मुझे मुख्य पुरोहित वृहस्पतिजी जानो। सेनापतियों में मैं स्वामिकार्तिकेय हूँ और जलाशयों में समुद्र हूँ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालय।।२५।।

भावार्थ— मैं महर्षियों में भृगु हूँ, वाणी में एकाक्षर ॐकार हूँ, यज्ञों में जपयज्ञ हूँ और स्थावरों (एक स्थान में ही रहने वालों) में हिमालय हूँ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।।२६।।

भावार्थ— मैं सम्पूर्ण वृक्षों में अश्वत्थ (पीपल) हूँ, देवर्षियों में नारद हूँ, गन्धर्वों में चित्ररथ हूँ और सिद्धों में कपिल मुनि हूँ।

उच्चैः श्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।।२७।।

भावार्थ— घोड़ों में तुम मुझे अमृतमन्थन के समय समुद्र से प्रकट होने वाला उच्चैश्रवा घोड़ा जानो। गजेन्द्रों में मैं ऐरावत हूँ और मनुष्य में राजा हूँ।

आयुधानामहं वज्रं धेतूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः।।२८।।

भावार्थ— शस्त्रों में 'मैं' वज्र हूँ, गौओं में कामधेनु हूँ, प्रजोत्पत्ति के कारणों में 'मैं' कामदेव हूँ, और सर्पों में वासुकि हूँ।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्।।२९।।

भावार्थ— मैं नागों में शेषनाग हूँ, जलचरों में वरुण हूँ पितरों में अर्यमा हूँ और शासन करने वालों में यम हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।।३०।।

भावार्थ— मैं दैत्यों में प्रह्लाद हूँ, गणना करने वालों में काल हूँ, मृगों (वनचरों) में सिंह हूँ और पक्षियों में गरुड़ हूँ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी।।३१।।

भावार्थ—पवित्र करने वालों में पवन हूँ, शस्त्रधारियों में राम हूँ, मछलियों में मगर हूँ और स्रोतवालों में मैं गंगा हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।।३२।।

भावार्थ— हे अर्जुन! मैं उत्पन्न होने वाले पदार्थों का आदि मध्य और अन्त हूँ। विद्याओं में अध्यात्म विद्या हूँ और विवाद करने वालों में वाद हूँ।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः।।३३।।

भावार्थ— मैं अक्षरों मैं अकार हूँ, समासों में द्वन्द्व समास हूँ, मैं ही कभी नष्ट न होने वाला काल हूँ, तथा सब ओर मुख वाला विधाता भी मैं ही हूँ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।।३४।।

भावार्थ— मैं सबका संहार करने वाला मृत्यु हूँ जो होने वाला है उनका उत्पत्ति स्थान हूँ स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।।३५।।

भावार्थ— मैं सामवेद के सूक्तों में बृहत्साम हूँ, छन्दों में गायत्री हूँ, महीनों में मार्गशीर्ष हूँ और ऋतुओं में वसन्त हूँ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।।३६।।

भावार्थ— मैं छल के साधनों में द्यूत (जुआ) हूँ, तेजस्वियों में तेज हूँ (विजेताओं में) जय हूँ, (उद्यमियों में) व्यवसाय (निश्चय) हूँ और सात्त्विकों में सत्त्वगुण हूँ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः।।३७।।

भावार्थ— वृष्णि वंशियों में मैं वसुदेव कृष्ण हूँ, पाण्डवों में अर्जुन हूँ, मुनियों में व्यास हूँ और कवियों में शुक्राचार्य हूँ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।।३८।।

भावार्थ— दमन करने वालों में मैं दण्ड हूँ, जय की इच्छा रखने वालों में नीति हूँ, गोपनीयों में मौन हूँ और ज्ञानियों में ज्ञान हूँ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।।३९।।

भावार्थ— हे अर्जुन! सम्पूर्ण भूतों का जो बीज है वह मैं हूँ। ऐसा कोई चराचर प्राणी नहीं है जो मुझ से रहित हो।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।।४०।।

भावार्थ— हे शत्रुदमन! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। यह तो मैंने तुम्हें संक्षेप में ही अपनी विभूतियों का विस्तार सुनाया है।

व्याख्या— श्री भगवान् ने श्लोक १९ में विभूतियों का वर्णन आरम्भ करते समय भी यही बात कही थी कि मेरी विभूतियों का अन्त नहीं है। उसी बात को यहाँ दुहराया है। इसी बात को आगे श्लोक से स्पष्ट करते हैं।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्।।४१।।

भावार्थ— जो-जो भी वस्तु ऐश्वर्य युक्त, कान्तियुक्त और तेजोमयी है उस-उस को तुम मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुई समझो। [अतः वे सब मेरी विभूतियाँ ही हैं।]

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।।४२।।

भावार्थ— अथवा हे अर्जुन! इस विषय में बहुत जानने से तुम्हारा क्या प्रयोजन है? इस सम्पूर्ण जगत् को अपने एक अंश से व्याप्त करके मैं ही तो स्थित हूँ।

व्याख्या— मेरे चार पादों में से एक पाद में ही यह सारा जगत् है, तीन पाद तो उससे सर्वथा मुक्त ही है—'पादोऽस्य सर्वाणि भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।' ब्रह्म के कोई पाद या अंश नहीं होते किन्तु जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इन चार अवस्थाओं के कारण ब्रह्म के चार पाद कहे जाते हैं। भगवान् के केवल एक पाद में माया है, जैसे आकाश के किसी एक अंश में बादल होता है। परन्तु यह बात भी केवल जिज्ञासु को समझाने के लिए कही जाती है। बोध या भगवत्साक्षात्कार होने पर तो यही अनुभव होता है कि यह सब वासुदेव ही है—'वासुदेव इदं सर्वम्' सर्वं खल्विदं ब्रह्म। यही नहीं, 'सब' नाम की कोई वस्तु नहीं है। बस, वासुदेव ही वासुदेव है, ब्रह्म ही ब्रह्म है—ऐसा अनुभव होता

है। जैसे घट-शराबादि नहीं मिट्टी ही मिट्टी है, आभूषण नहीं सुवर्ण ही सुवर्ण है। 'हरिरेव जगज्जगदेव हरिः।'

प्रश्न— ब्रह्म के चार पाद आपने बतलाये। इनमें से एक में सम्पूर्ण भूत हैं, सो किस प्रकार?

उत्तर— जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ये ब्रह्म के चार पाद कहे जाते हैं। इनमें जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तो माया के कार्य हैं और तुरीय शुद्ध है किन्तु वह इन तीनों का प्रकाशक और अधिष्ठान है। वास्तव में तीन भी उससे भिन्न नहीं हैं, अपितु उसी की सत्ता से भासित होते हैं। इस प्रकार उसी के एक अंश में हैं और वह इनमें अनुगत और इनसे भिन्न भी है।

प्रश्न— आपने ब्रह्म के एक अंश में माया बतलायी और ऐसा भी सुनने में आता है कि बोध होने पर भी लेशविद्या रहती है, सो क्या ठीक है?

उत्तर— बोधवान् का एक शरीर नहीं होता। सब शरीर उसके ही हैं। यही बात ईश्वर के विषय में भी कही जाती है। अतः तत्त्ववेत्ता ईश्वर के समान है। ईश्वर में मायावृत्ति रहती है। उस मायावृत्ति को ही लेशाविद्या कहा जाता है। किन्तु तत्त्ववेत्ता की दृष्टि में यह मायावृत्ति उसके स्वरूप से भिन्न नहीं है। इसलिये प्रारब्ध समाप्त होने पर नहीं रहती। परन्तु यह बात भी जिज्ञासु को समझाने के लिये है, वास्तव में तो बोध होने पर सभी का अत्यन्ताभाव हो जाता है। जब माया ही नहीं रहती तो उसकी वृत्ति कैसे रहेगी? कारण का अभाव होने पर कार्य कैसे रह सकता है?

प्रश्न— वृत्ति तो अज्ञान का कार्य है, फिर ब्रह्माकार वृत्ति अज्ञान को, जो उसका कारण है, जैसे नष्ट कर सकती है।

उत्तर— अज्ञान को वृत्ति नष्ट नहीं करती वृत्त्याकार चेतन नष्ट करता है। अज्ञान को न तो शुद्ध चेतन नष्ट करता है और न केवल

वृत्ति, क्योंकि ब्रह्म उसका अधिष्ठान है और वृत्ति उसी का कार्य है। किन्तु जब वृत्ति ब्रह्माकार होती है तो वह अज्ञान की विरोधिनी होने से उसे निवृत्त करके स्वयं भी समाप्त हो जाती है।

प्रश्न— भेदज्ञान किसे होता है और अभेद की अनुभूति किसे होती है?

उत्तर— भेदज्ञान तो जीव को होता है और अभेदज्ञान किसे होता है—यह हम कह नहीं सकते। जब भगवान् ही है तो किसे किसका ज्ञान बताया जाय। वास्तव में भेद की निवृत्ति ही अभेद में स्थिति है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः॥१०॥



ॐ
श्री परमात्मने नमः
श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

अथैकादशोऽध्यायः

संगति— पिछले अध्याय में भगवान् ने पहले तो कहा कि मेरे भक्त के अतिरिक्त मेरे स्वरूप को कोई नहीं जानता, किन्तु फिर कहा कि सब मेरा ही स्वरूप है। इस पर अर्जुन ने पूछा कि यदि सब आपका स्वरूप है तो मैं किस भाव से आपका भजन करूँ? तब भगवान् ने २० वें श्लोक में यह विचित्र बात बताते हुए कि सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूँ अपनी मुख्य-मुख्य विभूतियों का वर्णन किया। तथा अध्याय के अन्त में बतलाया कि मेरे एक अंश में माया है। अर्थात् इस सम्पूर्ण जगत् को मैं एक अंशमात्र से धारण करके स्थित हूँ। इन वचनों को सुनकर अर्जुन ने भगवान् के विश्वरूप दर्शन की आकांक्षा प्रकट करते हुए कहा—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम।।१।।

भावार्थ— अर्जुन बोला— मुझ पर अनुग्रह करने के लिये आपने जो परम गोपनीय [आत्मा-अनात्मा का विवेक करने वाला] अध्यात्म विषयक वचन कहा है उससे मेरा मोह निवृत्त हो गया है।

व्याख्या—प्रश्न— भगवान् ने अर्जुन के प्रति ही इतना अनुग्रह क्यों किया था?

उत्तर— भगवान् ने अध्याय ४/३ में कहा है—'भक्तोऽसि मे सखा चेति।' तथा अर्जुन ने भी भगवान् का कृपापात्र बनने के लिये अध्याय २/७ में कहा है, 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।' इस प्रकार अर्जुन ने भगवान् का शिष्यत्व स्वीकार किया। और शास्त्र में ऐसी विधि है कि शिष्य और ज्येष्ठ पुत्र ब्रह्मविद्या प्राप्त करने का

अधिकारी होता है। इसलिये अर्जुन को अधिकारी जानकर भगवान् ने उस पर अनुग्रह किया है।

प्रश्न— इस विद्या में वह क्या रहस्य है जो भगवान् ने अर्जुन के प्रति प्रकट किया?

उत्तर— उत्तम रहस्य यही है कि इस विद्या को प्राप्त कर लेने पर फिर सब कर्म करते हुए भी पाप-पुण्य से लिप्त नहीं होता। परन्तु यह विद्या उसीको बतानी चाहिये जो तपस्वी, जिज्ञासु भक्त और गुणों में दोष न देखने वाला हो।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥२॥

भावार्थ— हे कमलदल-लोचन! मैंने आपसे विस्तारपूर्वक प्राणियों के उत्पत्ति और प्रलय सुने तथा आपकी अविनाशिनी महिमा भी श्रवण की।

व्याख्या— अर्जुन शास्त्रज्ञ है। उसने श्रुति और स्मृति द्वारा यह सुना हुआ था कि जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय भगवान् से ही होती है। यही बात अब स्वयं भगवान् के मुख से भी सुनली। यहाँ उत्पत्ति और प्रलय से स्थिति भी उपलक्षित है, अतः वह जोड़ लेनी चाहिये। फिर श्रुति-स्मृति से भगवान् की यह महिमा भी सुनी हुई थी कि वे एक से अनेक हो जाते हैं। यही बात अब स्वयं श्री मुख से भी सुन ली कि बिना निमित्त और उपादान हुए ही वे सृष्टि की रचना कर देते हैं। इस श्लोक में जो 'अपि' शब्द है उससे यह चमत्कार भी सूचित होता है कि भगवान् सब कुछ करते हुए भी उससे लिप्त नहीं होते।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥३॥

भावार्थ— हे परमेश्वर! आपने अपने विषय में जो कुछ कहा है वह वैसा ही है। हे पुरुषोत्तम! अब मैं आपका ईश्वरीय स्वरूप देखना चाहता हूँ।

व्याख्या— यहाँ तक अर्जुन को ज्ञानोपदेश तो बहुत हो चुके हैं और अपने साकार रूप से भगवान् स्वयं ही सामने खड़े हैं। अतः अब वे भगवान् के ऐश्वर्यपूर्वक विराट् स्वरूप के दर्शन की इच्छा प्रकट करते हैं। अब तक तो वे भगवान् को मनुष्य ही समझते थे, परन्तु अब वे उनको 'परमेश्वर' और 'पुरुषोत्तम' कहकर सम्बोधित कर रहे हैं। वे देखना चाहते हैं किस प्रकार सम्पूर्ण भूत भगवान् में ही स्थित हैं।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्।।४।।

भावार्थ— प्रभो! यदि आप ऐसा समझते हैं कि मैं आपके उस रूप को देखने में समर्थ हूँ तो हे योगेश्वर! मुझे उस अविनाशी स्वरूप का दर्शन कराइये।

व्याख्या— यहाँ अर्जुन ने किसी प्रकार की उद्दण्डता प्रकट नहीं की, केवल प्रार्थना ही की है कि यदि आप मुझे उस रूप के दर्शन में समर्थ समझें तो दिखाने की कृपा करें। यहाँ भगवान् को योगेश्वर इसलिये कहा कि वे उनसे अपना योग-बल प्रकट करने की ही प्रार्थना कर रहे हैं। योगेश्वर होने पर ही तो वे अपने विश्व-रूप का दर्शन करा सकेंगे, तथा 'प्रभो' शब्द से इसलिए सम्बोधन किया है कि आप सबके स्वामी हैं और सब प्रकार समर्थ भी हैं।

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णकृतीनि च।।५।।

भावार्थ— हे पार्थ! मेरे सैकड़ों-हजारों प्रकार के अनेक वर्ण और अनेक आकृतियों वाले अनेक प्रकार के दिव्य रूपों को देखो।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत।।६।।

भावार्थ— हे भारत! मेरे इन रूपों में तुम सूर्य, वसुगण, रुद्रगण, दोनों अश्विनीकुमार और मरुद्गण को तथा और भी पहले कभी न देखे हुए अनेकों आश्चर्यों को देख लो।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि।।७।।

भावार्थ— हे गुडाकेश! मेरे इस शरीर में तुम एक ही स्थान में स्थित सम्पूर्ण चराचर जगत् तथा और भी जो कुछ देखना चाहो देख लो।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।।८।।

भावार्थ— परन्तु तुम अपने इन्हीं नेत्रों से मुझे नहीं देख सकोगे। अतः मैं तुम्हें दिव्य नेत्र देता हूँ। उससे मेरे योग और ऐश्वर्य को देखो।

व्याख्या— दिव्य नेत्र का अर्थ है दिव्यदृष्टि, योगबल या अलौकिक शक्ति। यह यौगिक सिद्धि है अथवा इसे ऋतम्भरा प्रज्ञा समझना चाहिये। साधनसाध्य दिव्य चक्षु दो हैं—प्रेमचक्षु, जिससे सब सृष्टि अपने इष्ट का ही स्वरूप दिखायी दे तथा विचार-चक्षु, जिससे सब ब्रह्ममय अनुभव होने लगे। किन्तु यहाँ योगबल का तात्पर्य तत्त्वज्ञान नहीं है। यह तो योगियों या भगवान् की कृपा से प्राप्त होने वाली कोई दृष्टि है। एक क्षण में ऐसी दृष्टि हो जाना कृपासाध्य ही है, साधन-साध्य नहीं। परन्तु भगवत्प्राप्ति तो तब होती है जब इससे भी वैराग्य हो जाय। जो योगी किसी सिद्धि या चमत्कार की इच्छा से योग-साधन करते हैं वे आवागमन के चक्र से मुक्त नहीं होते, मुक्ति तो केवल तत्त्वज्ञान से होती है।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।।९।।

भावार्थ—सञ्जय बोला—हे राजन्! ऐसा कहकर महान् योगेश्वर श्रीहरि ने अर्जुन को अपना सर्वोत्कृष्ट ईश्वरीय स्वरूप दिखलाया।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥१०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यागन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥११॥

भावार्थ— वह रूप अनेक मुख, अनेक नेत्र और अनेकों अद्भुत दर्शनों से युक्त था। उसने अनेकों दिव्य आभूषण और दिव्य शस्त्रास्त्र धारण किये हुए थे। वह दिव्य मालाएँ और वस्त्र तथा दिव्य गन्ध और अनुलेपन से सुसज्जित था। इस प्रकार वह सब प्रकार के आश्चर्यों से युक्त, दिव्य, अनन्त और सब ओर मुखवाला था।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्यु गपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥१२॥

भावार्थ— आकाश में सहस्रों सूर्यों से प्रकट हुआ जो प्रकाश हो वह भले ही उन परमपुरुष के प्रकाश के समान हो सके।

तत्रैकस्थं जगत्कृस्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥१३॥

भावार्थ— तब अर्जुन ने देवाधिदेव भगवान् के शरीर में एक ही जगह अनेक प्रकार से विभक्त सम्पूर्ण संसार देखा।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥१४॥

भावार्थ— तब विस्मय से भर जाने के कारण रोमाञ्चित होकर अर्जुन ने शिर झुकाकर भगवान् को प्रणाम किया और हाथ जोड़कर कहने लगा।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥

भावार्थ— अर्जुन बोला— हे देव! मैं आपके शरीर में सम्पूर्ण देवताओं को विशेष प्राणिसमुदाय को कमलासन पर विराजमान

ब्रह्मा को, शंकरजी को तथा सम्पूर्ण ऋषियों और दिव्य नागों को देख रहा हूँ।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥१६॥

भावार्थ— हे विश्वेश्वर! हे विश्वरूप! मैं आपको अनेक भुजा उदर मुख और नेत्रों वाला तथा सब ओर अनन्त रूप देखता हूँ। मुझे आपका न आदि न अन्त और न मध्य दिखायी देता है। [क्योंकि जो वस्तु उत्पन्न होती है ये आदि अंत और मध्य तो उसी के होते हैं; आप तो अजन्मा हैं, इसलिये आप में ये भेद कैसे हो सकते हैं।]

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥१७॥

भावार्थ— मैं आपको मुकुट, गदा और चक्र धारण किये देखता हूँ। आप सब ओर देदीप्यमान् तेजः पुञ्ज हैं। आपका स्वरूप सूर्य के समान सब ओर प्रकाशमान्, नेत्रों का अविषय और असीम है।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥१८॥

भावार्थ— आप अविनाशी हैं, श्रेष्ठ जानने योग्य हैं तथा इस विश्व के परम आश्रय हैं। आप ही अव्यय, सनातन वैदिक धर्म की रक्षा करने वाले तथा सनातन पुरुष हैं ऐसा मेरा मत है।

व्याख्या— इस श्लोक में भगवान् का निषेधमुख से वर्णन किया गया है, अतः यह उनके निर्गुण स्वरूप को लक्षित कराता है। अगले श्लोक में उनके सगुण साकार विश्व रूप का वर्णन है।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥१९॥

भावार्थ— मैं आपको आदि मध्य और अन्त से रहित, अनन्तवीर्य, अनन्तबाहु और चन्द्रमा तथा सूर्यरूप नेत्रों वाले देखता हूँ। आपके मुख से प्रज्वलित अग्नि निकल रही है तथा आप अपने तेज से इस विश्व को तपा रहे हैं।

व्याख्या— आप आदि मध्य और अन्त से रहित हैं, इसी से आप अनन्तवीर्य हैं। परन्तु आपको अनन्तवीर्य इसलिये नहीं कहा कि आपने पहाड़ उठा लिया था। पहाड़ तो हनुमान जी ने भी उठा लिया था और शेषजी तो सारी पृथ्वी को धारण किये हुए हैं। अतः यह बल तो सीमावद्ध है, आपका पराक्रम तो असीम है। इसी प्रकार अनेक रूप हो जाना भी आपके बल का सूचक नहीं है क्योंकि ऐसी शक्ति तो योगियों में भी होती है, रावण ने भी युद्ध स्थल में अनेक रूप धारण कर लिये थे। आपका अनन्त बल तो यही है कि सम्पूर्ण विश्व रूप में विराजमान हैं। और अपने तेज से इस सम्पूर्ण विश्व को आलोकित और सन्तप्त कर रहे हैं।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥२०॥

भावार्थ— हे विशाल शरीर वाले! आप अकेले ने ही स्वयं पृथ्वी और इन दोनों के बीच का आकाश तथा सम्पूर्ण दिशाएँ व्याप्त की हुई हैं। आपके इस अद्भुत उग्र रूप को देखकर ये तीनों लोक घबराये हुए हैं।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वतस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।।२१।।

भावार्थ— ये देवताओं के झुण्ड आप में प्रवेश कर रहे हैं, कुछ (दैत्यादि) भयभीत होकर हाथ जोड़े आपका गुण-गान कर रहे हैं। तथा महर्षि और सिद्धों के समूह 'स्वस्ति-स्वस्ति' ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं।

व्याख्या— देवता अर्थात् दैवी प्रकृति के लोग आपसे अभिन्न होने के लिये आप में प्रवेश कर रहे हैं तथा आसुरी प्रकृति के लोग आपसे भयभीत हैं। तात्पर्य यह है कि आसुरी प्रकृति के लोग आपके रूप को देखकर अशान्त हो रहे हैं और भक्तजन आपका दर्शन करके शान्त एवं ध्यान मग्न हो रहे हैं।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां बिस्मताश्चैव सर्वे।।२२।।

भावार्थ— ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, दो अश्विनीकुमार, उनचास मरुद्गण, पितर, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्ध समुदाय सभी आश्चर्य-चकित होकर आपका दर्शन कर रहे हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्व लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्।।२३।।

भावार्थ— हे महाबाहो! अनेकों मुख और नेत्रों वाले, बहुत-सी भुजा, जंघा, और पैरों वाले, तथा अनेकों उदर और

बहुत-सी डाढ़ों के कारण भयानक दिखायी देने वाले आपके इस रूप को देखकर सब लोक और मैं भी भयभीत हो रहे हैं।

नभः स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।।२४।।

भावार्थ— हे विष्णो! आपको आकाश को स्पर्श करने वाला, देदीप्यमान, अनेकों वर्णों वाला, फैलाये हुए मुखवाला और दीप्तिशाली विशाल नेत्रों वाला देखकर मैं व्यथित चित्त हूँ। मुझे न धैर्य होता है और न शान्ति।

व्याख्या— यहाँ 'विष्णो' सम्बोधन से भगवान् की व्यापकता सूचित की गयी है। अर्थात् आप सर्वरूप और सर्वव्यापक हैं। नाना वर्णों वाले हैं, क्योंकि सब वर्ण आपसे ही उत्पन्न हुए हैं। आकाश के समान विशाल हैं, परन्तु अभावरूप या जड़ नहीं देदीप्यमान हैं- प्रकाशपुञ्ज या ज्ञानस्वरूप हैं।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास।।२५।।

भावार्थ— आपके विकराल डाढ़ों वाले तथा कालाग्नि के समान भयङ्कर मुखों को देखकर न दिशाओं का ज्ञान रहा है न शान्ति ही मिल रही है। हे जगन्निवास! हे देवेश्वर! आप प्रसन्न होइये।

व्याख्या— अर्जुन अत्यन्त भयभीत है। इसी से उसे दिशाओं का ज्ञान नहीं रहा और न शान्ति ही मिल रही है। जब राग या भय का आवेश होता है तो बुद्धि नष्ट हो जाती है इसीसे शास्त्रों में इनका निषेध है।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥२६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥२७॥

भावार्थ— राजाओं के समूहों के सहित ये धृतराष्ट्र के सभी पुत्र तथा हमारे मुख्य-मुख्य योद्धाओं के सहित भीष्म द्रोण और कर्ण बड़ी तेजी के साथ आपके कराल डाढ़ों वाले भयानक मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। और कोई आपके दाँतों के बीच में लगे हुए दिखाई दे रहे हैं, जिनके कि सिर चूर-चूर हो गये हैं।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥२८॥

भावार्थ— जैसे नदियों के बहुत से प्रवाह समुद्र की ओर दौड़ते चले जाते हैं उसी प्रकार से मानवलोक के वीर आपके प्रज्वलित मुखों में प्रविष्ट होते जा रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥२९॥

भावार्थ— जैसे पतङ्ग अपने नाश के लिये अत्यन्त वेगयुक्त होकर प्रज्वलित अग्नि में घुस जाते हैं उसी प्रकार ये सब लोग भी मरने के लिये बड़े वेग से आपके मुखों में घुस रहे हैं।

व्याख्या— यहाँ सूक्ष्म शरीर को लीन करने के लिये नदी का दृष्टांत दिया है और स्थूल शरीर को लीन करने के लिये अग्नि-पतङ्ग का दृष्टान्त दिया है।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो।।३०।।

भावार्थ— हे विष्णो! आप सम्पूर्ण लोकों को अपने प्रज्वलित मुखों द्वारा निगलते हुए चाट रहे हैं। तथा आपका उग्र प्रकाश अपने तेज से सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त करके तपा रहा है। [यहाँ चाटने की बात इसलिये कही है कि खाने पर तो कुछ बच रहता है, परन्तु चाटने पर कुछ नहीं बचता।]

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।।३१।।

भावार्थ— हे देवश्रेष्ठ! मुझे बताइये कि उग्ररूपधारी आप कौन हैं, आपको नमस्कार है, आप प्रसन्न होइये। मैं आप आदिस्वरूप को जानना चाहता हूँ, मैं आपकी प्रवृत्ति को [अर्थात् आप क्या करना चाहते हैं—इस बात को] नहीं जानता।

व्याख्या— आदिस्वरूप अर्थात् वास्तविक स्वरूप को जानना चाहता हूँ, जहाँ आदि-अन्त होता है वहाँ तो माया होती है। इसलिये जो आदि-अन्त से रहित है उसी को यहाँ आदिस्वरूप कहा है। इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन भगवान् के उस स्वरूप को जानना चाहता है जो कार्य-कारण, साकार-निराकार और सगुण-निर्गुण से परे है। सविशेष रूप से तो भगवान् सामने विराजमान हैं ही, उससे तो वह चिरपरिचित है। अतः वह उनके पारमार्थिक निर्विशेष रूप को जानना

चाहता है इसीलिये उसे देखेने की बात न कहकर 'विज्ञातुम्' पद से जानने की बात कही है। अतः उसे जिज्ञासा है देखने की इच्छा नहीं। इसी से 'प्रसीद' (प्रसन्न होइये) ऐसा भी कहा है, क्योंकि भगवान् अपने वास्तविक स्वरूप को तो स्वयं ही जानते हैं और उनकी कृपा से ही किसी अन्य को उसका ज्ञान हो सकता है।

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥३२॥

भावार्थ— श्री भगवान् बोले—मैं लोकों का संहार करने के लिये बढ़ा हुआ काल हूँ। यहाँ लोकों का संहार करने में ही लगा हुआ हूँ। इस दोनों सेनाओं में जो वीर विद्यमान हैं वह तेरे बिना भी [अर्थात् तेरे युद्ध न करने पर भी] बचेंगे नहीं।

व्याख्या— श्री भगवान् ने यहाँ अपने को काल कहा है, क्योंकि अगले श्लोक में वे कहेंगे कि ये सब मेरे द्वारा मारे हुए हैं, तू केवल निमित्तमात्र हो जा। अर्थात् तेरे सिवा मैं सभी का संहार करूँगा। भगवान् अपने अभक्तों का, दुष्टों का या रजोगुणी-तमोगुणी भक्तों का संहार करते हैं। यहाँ यद्यपि भीष्मादि सात्त्विक भक्त हैं तथापि दुर्योधनादि दुष्टों का संग करने से वे भी बध के योग्य हो गये हैं। इसलिये उनका भी संहार करेंगे। यहाँ 'न भविष्यन्ति सर्वे' ऐसा बहुवचन है। इसका अर्थ यह है कि जैसे केवल स्वप्न-द्रष्टा ही रह जाता है और सब स्वप्न-पुरुष जगने पर नहीं रहते उसी प्रकार अब बोध होने पर तेरे सिवा और सम्पूर्ण दृश्य सत्ताशून्य हो जायगा।

संगति—अब युद्ध से उदासीन हुए अर्जुन को उत्तेजित करते हैं—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।

मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥३३॥

भावार्थ— इसलिये तू खड़ा हो और यश प्राप्त कर तथा शत्रुओं को जीतकर इस समृद्धिशाली राज्य को भोग। ये सब तो पहले ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं। हे सव्यसाचिन्! तू केवल निमित्त मात्र हो जा। [अर्जुन को 'सव्यसाची' इसलिये कहा है क्योंकि वह बायें हाथ से भी बाण चला सकता था।]

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥३४॥

भावार्थ— द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण तथा और भी अनेकों वीरों को, जो मेरे द्वारा मार दिये गये हैं, तू मार। तू घबरा मत, युद्ध कर, संग्राम में तू ही अपने शत्रुओं को जीतेगा।

प्रश्न— यहाँ द्रोण-भीष्मादि थोड़े से वीरों के ही नाम क्यों गिनाये हैं?

उत्तर— ये प्रधान योद्धा थे। इन्हीं से अर्जुन को भय था। अतः भगवान् ने यह बतलाकर कि ये सब मेरे द्वारा पहले ही मार दिये गये हैं, अर्जुन को निर्भय कर दिया।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥३५॥

भावार्थ— सञ्जय ने कहा—भगवान् कृष्ण के ये वचन सुनकर अर्जुन काँपने लगा और हाथ जोड़कर भयभीत हो गद्गद् वाणी से पुनः बोला।

व्याख्या— भगवान् के यह वचन सुनकर अर्जुन को अपनी विजय की सम्भावना से आन्तरिक हर्ष हुआ। किन्तु वह तो अब तक उन्हें अपना एक सम्बन्धी और मनुष्य ही समझता था। जब भगवान् ने स्वयं ही श्रीमुख से कहा कि मैं काल हूँ तो अपने को अपराधी मानकर उसे भय हुआ कि मैं तो इनसे अब तक बराबरी का बर्ताव करता रहा हूँ। इसीसे उसका शरीर रोमाञ्चित हो गया और वाणी लड़खड़ाने लगी।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥३६॥

भावार्थ— अर्जुन बोला—हृषीकेश! आपके सुयश से जगत् हर्ष और अनुराग को प्राप्त होता है—यह उचित ही है। [यही नहीं] राक्षस लोग भयभीत होकर दशों दिशाओं को भाग जाते हैं और सम्पूर्ण सिद्ध समुदाय नमस्कार करते हैं।

व्याख्या— भगवान् के चरित्रों को सुनकर सत्पुरुषों का उनके प्रति अनुराग होता है और उन्हें प्रसन्नता भी होती है, किन्तु दुष्ट भयभीत होते हैं और प्राण लेकर भागने लगते हैं। सिद्धों से यहाँ तत्त्ववेत्ता समझने चाहिये। वे भी भगवान् को नमस्कार करते हैं, जो भक्तजन हैं वे तो करते ही हैं। भगवान् को सब लोग क्यों नमस्कार करते हैं उसका कारण अगले श्लोक में बताते हैं।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥३७॥

भावार्थ— हे भगवान्! आप अत्यन्त महान् और ब्रह्मा के भी आदिकर्त्ता हैं, अतः वे सब आपको क्यों न नमस्कार करें। हे अनन्त!

हे देवेश्वर! हे जगन्निवास! जो सत्-असत् से परे सच्चिदानन्दस्वरूप अविनाशी ब्रह्म है वह आप ही हैं।

व्याख्या— जिसका देह-देहीभाव छूट गया है, जिसे जड़-चेतन का विवेक है तथा व्याप्य-व्यापक भाव की निवृत्ति होकर जिसे सम्पूर्ण अध्यस्त अधिष्ठानरूप ही जान पड़ता है वही महात्मा है। आप अनन्त हैं, क्योंकि आप सर्वरूप हैं, जिस प्रकार मृत्तिका से घट, सुवर्ण से आभूषण और स्वप्न-द्रष्टा से स्वप्न भिन्न नहीं है उसी प्रकार आपमें अध्यस्त यह सम्पूर्ण प्रपञ्च आपसे भिन्न नहीं है। अतः सर्वस्वरूप होने के कारण आप अनन्त हैं। आप जगन्निवास हैं, क्योंकि जैसे फेन-तरंगादि जल में रहते हैं और जलरूप ही हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपञ्च आप में ही अभिन्न रूप से विद्यमान है। तथा सत् (कार्य वर्ग या भाव) और असत् (कारण या अभाव) इन दोनों से अतीत जो अक्षर ब्रह्म है वह भी आप ही हैं। इस प्रकार आप शून्य-अशून्य दोनों ही से विलक्षण हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।।३८।।

भावार्थ— आप आदि देव और पुराण पुरुष हैं। आप इस विश्व के परम आधार हैं। आप सबको जानने वाले सम्पूर्ण वेद्य (दृश्य) और परम धाम हैं तथा हे अनन्त रूप! यह सम्पूर्ण विश्व आपसे ही व्याप्त है। [अर्थात् आप स्वयं विराट् भगवान् हैं।]

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।।३९।।

भावार्थ— आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति और प्रपितामह (प्रजापति ब्रह्मा के भी पिता) हैं। आपको हजारों बार नमस्कार है। तथा फिर भी बार-बार नमस्कार है।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोऽषि ततोऽसि सर्वः।।४०।।

भावार्थ— हे सर्वात्मन्! आपको आगे से, पीछे से और सब ओर से नमस्कार है। आप अनन्त बलशाली और अतुलित पराक्रमी हैं तथा सभी को व्याप्त किये हुए हैं, इसलिये सब कुछ आप ही हैं।

व्याख्या— आगे-पीछे इधर-उधर सर्वत्र ब्रह्म ही है। जो वस्तु दिखायी देती है वह तो परिच्छिन्न होती है और जो जाना जाता है वह सबका अधिष्ठान होने के कारण विभु है। अतः अणु-अणु सब उसी में भास रहा है। अतः आप सर्वस्वरूप हैं। जीवों में तो परिमित बल होता है, किन्तु आपका बल तो असीम है। यह सम्पूर्ण संसार आप ही की तो अभिव्यक्ति है।

संगति— जब अर्जुन ने जाना कि भगवान् सर्वरूप हैं तो उसे चेत हुआ और उसने सोचा कि इनसे बराबरी का बर्ताव करके मैंने बड़ा अपराध किया है, अतः वह क्षमायाचना करने लगा।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।।४१।।
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।।४२।।

भावार्थ— मैंने आपकी यह महिमा न जानकर और अपना सखा मानकर प्रमाद या प्रीतिवश हठपूर्वक आपसे 'हे कृष्ण! हे यादव! हे सखा!' ऐसा सम्बोधन किया है, तथा आपकी हँसी करने के लिए क्रीड़ा, शयन, आसन और भोजन के समय एकान्त में अथवा दूसरों के सामने आपका अपमान किया है वह सब मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ, क्योंकि आप तो अचिन्त्य प्रभाववाले हैं।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।।४३।।

भावार्थ— आप इस चराचर जगत् के पिता हैं। आप इसके पूज्य और बड़े से बड़े गुरु हैं। इस त्रिलोकी में आपके समान कोई नहीं है, फिर हे अमितप्रभाव! आपसे बड़ा तो कौन हो सकता है।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।४४।।

भावार्थ— आप सर्वसमर्थ और स्तवनीय हैं। अतः मैं साष्टांग प्रणाम करके आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। आप मेरे अपराधों को उसी प्रकार क्षमा कर दें जैसे पिता पुत्र के मित्र, मित्र के और प्रियतम अपनी प्रिया के अपराधों को क्षमा कर देता है।

व्याख्या—प्रश्न—यहाँ 'प्रणिधाय कायम्' (शरीर को लिटाकर) ऐसा क्यों कहा? क्या 'प्रणम्य' कहना पर्याप्त नहीं था।

उत्तर— अर्जुन अपने को अपराधी अनुभव कर रहा था, इसलिये विशेष दैन्य प्रकट करने के लिये साष्टांग प्रणाम किया। यहाँ तीन उदाहरण देकर यह सूचित किया है कि आप पिता हैं मैं पुत्र हूँ,

जीव ईश्वर का सखा है और आप ईश्वर हैं मैं जीव हूँ तथा आप प्रियतम (पुरुष) हैं मैं प्रिया (प्रकृति) हूँ।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास।।४५।।

भावार्थ— हे देव! पहले कभी न देखे हुए आपके इस रूप को देखकर मैं बड़ा हर्षित हूँ और साथ ही भय से मेरा मन घबरा रहा है। अतः हे देवेश्वर! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होइये और मुझे अपना वही रूप दिखाइये।

व्याख्या— यहाँ अर्जुन ने हर्ष और भय दोनों व्यक्त किये हैं। भगवान् का वैभव देखकर तो उसे हर्ष हुआ किन्तु उस विकराल स्वरूप को देखकर भय भी हो रहा था। वैभव यही था कि भगवान् सब कुछ करते हुए भी अकर्ता हैं तथा सगुण साकार होते हुए भी निर्गुण निराकार हैं। इस प्रकार वे सभी विरुद्ध धर्मों के आश्रय और सर्वधर्मातीत हैं।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।।४६।।

भावार्थ— हे सहस्र भुजाओं वाले विश्वरूप! आप उस चतुर्भुज रूप में ही हो जाइये। मैं उसी प्रकार आपको मुकुट धारण किये तथा हाथ में गदा और चक्र लिये देखना चाहता हूँ।

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।

तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
तन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।।४७।।

भावार्थ— भगवान् ने कहा—हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर अपनी योग-शक्ति से तुम्हें यह अपना आदि-अन्त से रहित, तेजोमय, सर्वोत्कृष्ट विश्वरूप दिखलाया है, इसे पहले और किसी ने नहीं देखा।

व्याख्या—प्रश्न— भगवान् कहते हैं कि पहले यह रूप और किसी ने नहीं देखा। परन्तु कौशल्या, यशोदा आदि ने भी तो भगवान् के मुख में सम्पूर्ण विश्व देखा था। फिर ऐसा क्यों कह रहे हैं।

उत्तर— कौशल्या और यशोदा ने जो रूप देखे थे उनसे उन्हें भय और विस्मय तो हुआ, परन्तु उनसे उन्हें उनकी भगवत्ता का बोध नहीं हुआ। परन्तु अर्जुन को तो भगवान् के यथार्थ स्वरूप का बोध हो गया और उसने जान लिया कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और उसके उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय के स्थान ये ही हैं। इनसे भिन्न सविशेष-निर्विशेष कुछ भी नहीं है।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।।४८।।

भावार्थ— हे कुरुश्रेष्ठ! तुम्हारे सिवा मुझे ऐसे रूप में और कोई भी वेद और यज्ञों के अध्ययन, दान, कर्मकाण्ड या उग्र तपस्या के द्वारा भी नहीं देख सकता।

व्याख्या— यहाँ 'वेद-यज्ञाध्ययन' एक पद है। इसलिये यज्ञ का भी यहाँ अध्ययन ही अभिप्रेम है। यज्ञानुष्ठान की विधि को सीख जाना यज्ञाध्ययन है। तात्पर्य यह है कि अत्यन्त कष्टसाध्य और अर्थसाध्य होने पर भी क्रिया-कलापों से मेरा दर्शन नहीं हो सकता। वह तो ज्ञान या भक्ति के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।।४९।।

भावार्थ— मेरे इस भयंकर रूप को देखकर तुम घबराओ मत और मूढभाव को भी प्राप्त मत होओ। अब भय छोड़कर प्रसन्नचित्त से तुम फिर मेरा वही (वासुदेव) रूप देखो।

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।।५०।।

भावार्थ— सञ्जय ने कहा— अर्जुन से ऐसा कहकर वसुदेवनन्दन परमात्मा श्रीकृष्ण ने उन्हें पुनः अपना निजी रूप दिखलाया और इस प्रकार पुनः सौम्य रूप धारणकर भयभीत अर्जुन को धैर्य बँधाया।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।।५१।।

भावार्थ—अर्जुन ने कहा—जनार्दन! आपके इस शान्त मनुष्यरूप को देखकर अब मैं होश में आ गया हूँ और अपनी स्वभाविक स्थिति में स्थित हूँ।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः।।५२।।

भावार्थ— श्री भगवान् ने कहा— तुमने मेरा जो रूप देखा है उसका दर्शन होना अत्यन्त कठिन है। इस रूप के दर्शन की देवता लोग भी सर्वदा इच्छा करते हैं।

व्याख्या— अर्जुन को भगवान् ने विराट रूप दिखलाया तो वह घबरा गया, क्योंकि अपने इष्ट को न देख पाने पर घबराहट होती ही है। अर्जुन का तो भगवान् के कृष्ण रूप में ही राग था, विराट रूप में तो राग था नहीं। अतः वह घबरा गया और पुनः पूर्व रूप दिखलाने की ही प्रार्थना की। इस पर भगवान् ने अपना पूर्व रूप दिखलाया और कहा कि मेरा विराट रूप अत्यन्त दुर्दर्श है, इसके दर्शन देवताओं को भी नहीं होते, क्योंकि वे भोगी होते हैं। इसे तो योग दृष्टि से ही देखा जा सकता है। वह योग-दृष्टि यद्यपि तुम्हें प्राप्त नहीं थी, परन्तु तुम मेरे भक्त और सखा हो इसलिये मैंने स्वयं अपने योगबल से वह योग-दृष्टि या दिव्य-दृष्टि देकर तुम्हें इसका दर्शन कराया। मेरे वास्तविक स्वरूप को तो वैराग्यवान् जिज्ञासु ही देख सकते हैं। दूसरे लोग इच्छा तो करते हैं, किन्तु उनका ऐसा भाग्य कहाँ जो वे उसका साक्षात्कार कर सकें—

दृष्टं स्पष्टमपीत्थमेव विदितं स्वर्णं दरिद्रैर्जनैः
सत्ता त्वस्य न लभ्यते हतभगैर्भाग्यं बिना सर्वदा।
आत्मा तद्वदसौ श्रुतोऽपि च मतो ज्ञातोऽपि नो लभ्यते
साक्षात्केवल चिद्घनो विषयिभिर्वैराग्यभाग्यं बिना॥[*]

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥५३॥

भावार्थ— तुमने मुझे जैसा देखा है वैसा मैं वेदाध्ययन, तपस्या, दान या यज्ञ करने से भी नहीं देखा जा सकता।

संगति—मैं क्या करने से देखा जा सकता हूँ—यह अब बताते हैं—

---

[*]दरिद्री लोग सुवर्ण को उसी रूप में देखते हैं और जानते हैं किन्तु भाग्य के बिना उन अभागों को उसका अधिकार प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार इस आत्मा को जानते हुए भी विषयी लोग श्रवण, मनन और ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी वैराग्य रूप भाग्य के बिना साक्षात् विशुद्ध चिद्घन रूप से अनुभव नहीं कर पाते।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।।५४।।

भावार्थ— हे परन्तप अर्जुन! तत्त्वत: ऐसा तो मैं अनन्य भक्ति के द्वारा ही जाना और देखा जा सकता हूँ तथा प्रवेश भी किया जा सकता हूँ।

व्याख्या— जो मेरी अनन्य भक्ति करते हैं अर्थात् मुझे इष्ट मानकर मेरा ही चिन्तन करते और मुझ पर ही अवलम्बित रहते हैं। इस प्रकार भोग, मोक्ष या सिद्धियों की कामना छोड़कर मेरी प्रेमलक्षणा भक्ति करते हैं, वे ही मुझे जान या देख सकते हैं। अथवा जिनकी दृष्टि में आत्मा से अतिरिक्त अन्य सत्ता का अत्यन्ताभाव है वे ही गुरु और शास्त्र की कृपा से मुझे यथार्थ जान सकते हैं। तथा वे ही मुझे 'द्रष्टुम्' अर्थात् मेरे ऐश्वर्य का ज्ञान अथवा स्वरूप का साक्षात्कार करने में तथा 'प्रवेष्टुम्' अर्थात् मुझमें प्रवेश करने में—मेरे स्वरूप में लीन होने में समर्थ हैं। परन्तु साधक का काम तो भगवान् का भजन करना ही है, लय कर लेना या मिला लेना तो भगवान् का ही काम है। जैसे स्वयंवर में जौहर तो सभी राजा दिखलाते हैं, परन्तु वरण करना तो राजकुमारी का ही काम है। यहाँ शुद्ध प्रेमलक्षणा भक्ति का निरूपण किया गया है।

इस श्लोक का ज्ञानपरक अर्थ इस प्रकार होगा। जो एकनिष्ठ होकर आत्मा के अतिरिक्त और सबको असत् जानते हैं, वे ही मुझे तत्त्वत: जानने में समर्थ होते हैं। जानने की क्रिया दूर रहने पर होती है, इसलिये उन्हें परोक्ष ज्ञान होता है और फिर वे ही मुझे जानकर देखने अर्थात् अपरोक्ष रूप से अनुभव करने में समर्थ होते हैं। ऐसा अनुभव मुझे समीप से अर्थात् आत्मस्वरूप से देखने पर होता है। यहाँ 'तत्त्वेन' पद को 'ज्ञातुम्' 'द्रष्टुम्' और 'प्रवेष्टुम्' तीनों के साथ जोड़ना चाहिये, क्योंकि आत्मा को जानना, देखना या उसमें प्रवेश करना तत्त्वदृष्टि से ही होता है। 'प्रवेष्टुम्' का अर्थ है गाढ़ आत्माकार

वृत्ति करना। ध्यान करते-करते जब गाढ़ वृत्ति होने पर दृश्य की सर्वथा प्रतीति नहीं रहती तभी तत्वत: आत्मा में प्रवेश समझना चाहिये।

संगति— भगवान् ने ४८ वें और ५३ वें श्लोक में अपना यथार्थ रूप से जानना और देखना बहुत कठिन बताया और ५४ वें में इसका मुख्य साधन अपनी अनन्य भक्ति बतलायी। अब अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि वह अनन्य भक्ति किस प्रकार प्राप्त हो सकती है।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरःसर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।५५।।

भावार्थ— हे पाण्डव! जो मेरे लिए ही कर्म करने वाला है, मेरे ही परायण है, मेरा ही भक्त है, आसक्ति से रहित है और किसी भी प्राणी से वैर नहीं करता, वही मुझे प्राप्त होता है।

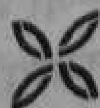
व्याख्या— जो 'मत्कर्मकृत्' अर्थात् मेरी ही प्राप्ति के लिये श्रौत-स्मार्त्त एवं शास्त्रविहित कर्म करने वाला है, अथवा भगवदर्पण बुद्धि से निष्काम कर्म करता है। फिर 'मत्परमः' कहकर इसी का विशेषण देते हैं। अर्थात् जो मेरे ही परायण है। जिसे मेरी प्राप्ति की तीव्र इच्छा है, अथवा सब ओरसे चित्त हटाकर जो मेरे अतिरिक्त अथवा आत्मा से भिन्न और किसी की सत्ता नहीं देखता। तथा 'मद्भक्तः', मेरा ही भक्त है, जिसकी मेरी सेवा-पूजा में ही निष्ठा है। 'सङ्गवर्जितः' —सङ्गरहित अर्थात् विषयासक्ति से रहित है, हानि- लाभ से निर्भय रहने वाला है। तथा 'निर्वैरः' अपना अपकार करने वाले से भी वैर नहीं करता वही मुझे प्राप्त होता है। जबतक ये गुण नहीं आते तब तक कोई सच्चा भक्त नहीं हो सकता। मुझमें आसक्ति होने पर फिर किसी में आसक्ति नहीं रहती, क्योंकि आसक्ति स्वार्थ से होती है और भक्त का कोई स्वार्थ नहीं रहता। वह निष्काम कर्मयोगी होता है और आसक्तिशून्य होने के कारण ही उसका किसी से वैर नहीं रहता।

अथवा जब 'मत्कर्मकृत्' होगा तभी मेरे परायण होगा, जब मेरे परायण होगा तभी मेरा भक्त होगा, मेरा भक्त होगा तभी आसक्तिशून्य होगा, और आसक्तिशून्य होने पर ही उसका किसी से वैर नहीं होगा। अथवा सब कुछ भगवान् की ही विभूति देखने से ही वह निर्वैर होगा। अथवा जब सम्पूर्ण संसार को एक सत्ता में देखेगा तब निर्वैर हो जायगा। जो निष्काम कर्म करने वाला होगा उसमें भी ये सब गुण आ जायेंगे। यहाँ 'मत्कर्म' से कर्मजनित उपासना और 'मत्परमः' से ध्यानजनित उपासना समझनी चाहिये। व्यवहार करते हुए सम्पूर्ण कर्म भगवान् को अर्पित कर दे, यही गृहस्थ का 'मत्कर्म' है और चिन्तन ही 'मत्परमः' है। यही उसकी भक्ति है।

यहाँ 'मत्कर्मः' 'मत्परमः' 'मद्भक्तः' और 'सङ्गवर्जितः' यह तो औषधि है तथा 'निर्वैरः' अनुपान है। भगवत्प्राप्ति के लिये वेदाध्ययन और यज्ञादि तो बाह्य साधन हैं, भक्ति ही अन्तरङ्ग साधन है। अतः भगवान् भक्ति से ही मिलते हैं। भगवान् का विराट् स्वरूप उनका ऐश्वर्य है, इसलिये भक्त उससे डरते हैं। तथा चतुर्भुजरूप माधुर्य है। सुख माधुर्य में है ऐश्वर्य में नहीं।

इस अध्याय में भगवान् के विराट् स्वरूप का वर्णन है। इसलिये इसका नाम विश्वरूपदर्शन योग है। विश्वरूप दर्शन उसे कहते हैं, जिससे यह अनुभव हो कि विश्व रूप में स्वयं भगवान् ही विराजमान हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नाम एकादशोध्यायः।।११।।



ॐ
श्री परमात्मने नमः
श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

अथ द्वादशोऽध्यायः

संगति— दशवें अध्याय में विभूतियोग कहकर ग्यारहवें अध्याय में ऐश्वर्ययुक्त विश्वरूप दिखलाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने यह सूचित किया कि सारी सृष्टि मेरे ही भीतर है। अतः श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म ही हैं। ग्यारहवें अध्याय के ४६ वें श्लोक में 'सहस्रबाहो भव विश्वमूर्त्ते' कहकर अर्जुन ने उन्हें सर्वरूप स्वीकार किया है। तथा ३८ वें श्लोक में उन्हें स्पष्ट ही आदिदेव, पुराणपुरुष और इस विश्व का परम आश्रय कहा है— 'त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।'

यह बात तो निश्चित है कि उपासना भेददृष्टि के बिना नहीं होती। लौकिक-अलौकिक सब व्यवहार भेददृष्टि से ही होते हैं। उपासना भी उन्हीं के अन्तर्गत है। सगुण और निर्गुण भेद से उपासना दो प्रकार की है। राम-कृष्णादि अवतारों की, विराट् और हिरण्यगर्भ की तथा शब्दादि की उपासनाएँ सगुण के अन्तर्गत हैं तथा भगवान् के अव्यक्त और अचिन्त्य गुणातीत स्वरूप की उपासना निर्गुणोपासना है। इन दोनों में कौन उपासना श्रेष्ठ है—यह जानने के लिये अर्जुन प्रश्न करता है।

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्याक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥१॥

भावार्थ—अर्जुन बोला—जो भक्त इस प्रकार निरन्तर योगयुक्त होकर सब प्रकार आपकी उपासना करते हैं और जो अविनाशी निराकार स्वरूप की उपासना करते हैं, उन दोनों में श्रेष्ठ योग जानने वाला कौन है?

व्याख्या— तात्पर्य यह कि अध्याय ९ से ११ तक बतलाये हुए सगुण साकार रूप की उपासना करने वाले और द्वितीय आदि अन्य अध्यायों में वर्णित निर्गुण निराकार स्वरूप की उपासना करने वालों में कौन श्रेष्ठ है। गीता में इन दोनों उपासनाओं का स्थान-स्थान पर वर्णन है। दोनों ही प्रकार की उपासना करने वाले अनेकों पुरुष हैं, इसलिये उनको सूचित करने के लिये बहुवचन का प्रयोग किया गया है।

दो की तुलना होने पर 'तरप्' प्रत्यय होता है किन्तु यहाँ 'योगवित्तमाः' में 'तमप्' प्रत्यय दिया है। इससे सूचित होता है कि अर्जुन सर्वश्रेष्ठ उपासक को जानना चाहता है, वह इन दो प्रकार के उपासकों में से हो अथवा इनसे भिन्न कोई और हो। अर्जुन के इस आशय को लक्ष्य करके भगवान् भी 'तमप्' प्रत्यय में ही उत्तर देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।।२।।

भावार्थ— भगवान् बोले—जो लोग मुझमें मन लगाकर नित्य युक्त हुए अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मेरी (मेरे सगुण साकार रूप की) उपासना करते हैं, मेरे मन में वे ही युक्ततम (सबसे श्रेष्ठ योगी) हैं।

व्याख्या— सम्पूर्ण गीता में 'परम श्रद्धा' पद यहीं आया है। 'मयि' का तात्पर्य सगुण-निर्गुण दोनों में लग सकता है, परन्तु यहाँ सगुण रूप ही अभिप्रेत है, क्योंकि 'यहाँ भगवान् साक्षात् अर्जुन के सामने खड़े होकर अपने ही लिये 'मयि' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। अतः इसका तात्पर्य है कि जो मुझ वासुदेव में श्रद्धापूर्वक चित्त लगाकर मेरी ही उपासना करते हैं वे ही श्रेष्ठ योगी हैं। इस प्रकार यहाँ स्पष्टतया सगुण उपासना का निर्देश है। वेद और पुराणों में भी सगुण का प्रतिपादन है; जैसे 'एकोऽहं बहु स्याम्' स एकधा भवति स द्विधा भवति स पञ्चधा भवति' इत्यादि बहुत-सी श्रुतियाँ हैं। परन्तु दर्शनों में सगुण का प्रतिपादन नहीं है, उनमें प्रधानतया निर्गुण का ही प्रतिपादन किया है, क्योंकि उनमें विवेक की ही प्रधानता है। परम

तत्त्व की सगुणता को दर्शनों ने अध्यारोपित ही माना है। भाव से तो भगवान् की सगुणता मानी जा सकती है, किन्तु विवेक या तर्क से तो वे निर्गुण ही सिद्ध होते हैं।

शास्त्रों में भगवान् को निराकार और सृष्टिकर्त्ता माना है, परन्तु वास्तव में संसार की उत्पत्ति निर्गुण निराकार से भी नहीं हो सकती; कहा भी है—

अनाख्योऽप्रतिघः स्वात्मा निराकारो य ईश्वरः।
स करोति जगदिति हासायैव वचोऽधियाम्॥

अर्थात् जो नाम-रूप से रहित अपना अनावृत आत्मा निराकार ईश्वर है वही सृष्टि रचता है—ये बुद्धिहीनों के वचन हँसी के योग्य ही हैं।

अतः सृष्टि आत्मा से भी नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मा अकर्ता है। यदि कहो कि स्वप्न की सृष्टि का कर्ता तो वही है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि कोई भी स्वप्न देखने वाला स्वप्न से पहले यह संकल्प नहीं करता कि मैं स्वप्न देखूँ अथवा रचूँ। स्वप्न तो स्वयं ही देखने लगता है। अतः स्वप्नद्रष्टा स्वप्न का कर्ता नहीं होता। वास्तव में स्वप्न बनाने वाला, स्वप्न-पुरुष और स्वप्न-द्रष्टा सब कुछ वही है। अर्थात् स्वप्न-सृष्टि बनती नहीं, वह स्वप्न-द्रष्टा में कल्पित है और कल्पित वस्तु अपने अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती। इस प्रकार सिद्ध यह हुआ कि एक आत्मसत्ता के अतिरिक्त कुछ भी न है न हुआ है। परन्तु यह बात बहुत कठिनता से समझ में आती है। सृष्टि और सृष्टिकर्ता एक ही हैं—भला यह बात कैसे समझ में आयेगी। अतः भगवान् को श्रद्धा से ही मानना होगा। इसी से भगवान् ने यहाँ कहा है कि जो परम श्रद्धा से युक्त होकर मुझ में चित्त लगाते हैं वे ही श्रेष्ठतम योगी हैं।

संगति— अब निर्गुणोपासकों के विषय में कहते हैं—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥३॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥४॥

भावार्थ— और जो इन्द्रियों का निग्रह कर सर्वत्र समबुद्धि रखकर सब ओर व्यापक, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और ध्रुव (नित्य सत्य) अव्यक्त और अनिर्देश्य अक्षर की उपासना करते हैं, सम्पूर्ण प्राणियों के हित में निरत वे लोग भी मुझे ही प्राप्त करते हैं।

व्याख्या— सब भूतों के हित में निरत वही होगा जो राग-द्वेष से रहित होगा। भक्तों का कोई स्वार्थ नहीं होता, इसलिये उनमें राग-द्वेष भी नहीं होता। वे तो सब का हित ही चाहते हैं। उनका तो यही संकल्प रहता है कि सब भगवान् के भक्त हो जायँ, सब निरंतर भजन करें, क्योंकि भगवान् के भजन से बढ़कर प्राणियों का और कोई हित नहीं है ऐसी समदृष्टि बिना भगवत्साक्षात्कार हुए नहीं हो सकती। इसके लिये संयम की बहुत आवश्यकता है। समदृष्टि होने के कारण ही भक्त को सबका हितैषी कहा गया है।

अथवा आत्मा ही सब भूतों का हित है और उसमें वे रत रहते हैं, इसी से उन्हें 'सर्वभूतहिते रताः', कहा गया है। तथा इसी कारण वे सबको प्रिय भी लगते हैं। सभी का आत्मा कामादि दोषों से रहित है और ये ही लक्षण उनमें भी घट जाते हैं, अतः स्वस्वरूप होने के कारण वे भी सबको प्रिय लगते हैं। अथवा वे किसी से प्रेम न करके केवल आत्मा से ही प्रेम करते हैं और आत्मा सबका एक है, इसलिए उनका सबसे प्रेम हो जाता है और वे भी सबको प्रिय होते हैं। यही 'सर्वभूतहिते रताः' का तात्पर्य है।

प्रश्न— यहाँ 'कूटस्थ' के पश्चात् 'अचल' कहने की क्या आवश्यकता थी?

उत्तर— कूटस्थ तो माया भी है, परन्तु वह अचल नहीं है, क्योंकि ज्ञान होने पर वह निवृत्त हो जाती है।

संगति— इस प्रकार भगवान् ने निराकार उपासना का भी समर्थन किया और 'एव' शब्द का प्रयोग करके बतलाया कि उन्हें भी

भगवान् अवश्य मिल जाते हैं। परन्तु वह कष्टसाध्य है—यह बात अगले श्लोक में बतलाते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥५॥

भावार्थ— अव्यक्त में आसक्तचित उन लोगों को कठिनता अधिक होती है, क्योंकि देहाभिमानी पुरुषों का अव्यक्त की ओर जाना कठिन है। [इससे सिद्ध होता है कि विवेकियों के लिये यह उपासना सुगम है।]

व्याख्या— अव्यक्त अर्थात् अभाव भी प्रत्यक्ष है, जैसे घटाभाव सभी को प्रत्यक्ष होता है। हम सभी घट आदि किसी वस्तु के अभाव को जानते हैं, तभी तो कहते हैं कि अमुक वस्तु नहीं है। नैयायिकों ने अभाव को भी एक पदार्थ माना है। भाव सर्वदा अपने अभाव में रहता है, उसकी अपनी सत्ता नहीं होती।

प्रश्न— यदि भाव की सत्ता नहीं होती तो वास्तव में भाव है क्या? दूसरे लोग भी भाव को मिथ्या बताते हैं।

उत्तर— अरे! भाव या अभाव को मिथ्या तो परमार्थ-दृष्टि से कहा जाता है। भाव और अभाव दोनों प्रतीतियाँ हैं और व्यवहार-दृष्टि से सत्य भी है। परन्तु यह सत्य और मिथ्या का विवेचन तो दृष्टि-भेद से है। वस्तुतः तो सब कुछ वही है। भाव भी तो ज्ञान के ही अन्तर्गत है। ज्ञान समुद्र है तो भाव तरङ्ग है। तरङ्ग क्या समुद्र से भिन्न है। अतः सब ज्ञानमात्र है। पहले मकान संकल्प रूप में रहता है, फिर वही मूर्त्तरूप धारण करता है। इसी प्रकार भगवान् पहले भक्त की भावना में आते हैं फिर प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं। इस प्रकार भावुक ही तो भगवद्रूप से सामने आता है और वह स्वयं ही अपनी अर्चना-वन्दना करता है। अतः तत्वदृष्टि से भक्त और भगवान् एक ही हैं तथा दोनों ही सत्य हैं। 'भाव' शब्द की निष्पत्ति सत्तावाचक 'भू' धातु से होती है। अतः इसे कल्पना या असत् नहीं कह सकते।

संगति— इस प्रकार सगुण और निर्गुण दोनों उपासनाओं का समर्थन कर अब भगवान् उपासना का स्वरूप बतलाते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥७॥

भावार्थ— हे पार्थ! जो सब कार्यों को मुझे अर्पित करके मेरे परायण हो अनन्य भाव से मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, मेरे में मन लगाने वाले उन भक्तों का मैं शीघ्र ही इस मृत्युरूप संसार-सागर से उद्धार कर देता हूँ।

व्याख्या— अनन्य भाव से ध्यान करने का अर्थ है कि मेरे सिवा और किसी का चिन्तन न हो। यद्यपि राजस और तामस पदार्थों की अपेक्षा तो सात्विक वस्तुओं से राग होना अच्छा है, परन्तु भगवद्भजन में तो वह भी बाधक है। इसलिये भजन करने वालों को सावधान रहना चाहिये कि कहीं सात्त्विक वस्तु या सात्त्विक पुरुषों में उनका राग न हो जाय। इसी दृष्टि से यहाँ 'अनन्य चिन्तन' की बात कही है। जहाँ अनन्य शब्द आवे वहाँ एकनिष्ठता समझनी चाहिए। इसी प्रकार जहाँ 'संन्यस्य' शब्द प्रयोग हो वहाँ आत्म-निवेदन समझें।

प्रश्न— आत्म-निवेदन का क्या स्वरूप है?

उत्तर— निरन्तर भगवदाकार वृत्ति का प्रवाह और संसाराकार वृत्ति की निवृत्ति ही आत्म-निवेदन है। जैसे किसी निर्धन की पुत्री का विवाह हो और उसके लिये किसी ने रुपया देना कह दिया हो। घर में कोई सामग्री नहीं है और कल बरात आने वाली है। उस समय जैसे उसके चित्त की वृत्ति रुपया देने वाले की ओर ही लगी रहती है उसी प्रकार चित्त सब ओर से हटकर केवल श्रीभगवान् में ही तल्लीन हो जाय यही आत्मनिवेदन है।

श्रीभगवान् ने सम्पूर्ण गीता में यह कहीं नहीं कहा कि मैं सकाम भक्त का उद्धार कर देता हूँ। उसे तो उसकी इच्छित वस्तु देने की बात

ही कही है। वे सब जगह इसी बात की पुष्टि करते हैं कि मैं उस निष्काम भक्त का ही संसार-सागर से उद्धार करता हूँ जिसका चित्त अनन्य भाव से मुझमें लगा हुआ है। इससे यह सिद्ध हुआ कि निष्काम भक्ति से ही भगवान् की प्राप्ति होती है।

केवल कर्मकाण्ड से भी भगवान् की प्राप्ति का प्रसङ्ग कहीं नहीं मिलता। हाँ ऐसा तो आता है कि निष्काम कर्म से अन्तःकरण शुद्ध होने पर भगवत्प्राप्ति की उत्कट लालसा जाग्रत् होती है। इसी से भगवान् ने 'मां ध्यायन्त उपासते' कहकर 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्' ऐसा कहा है। अर्थात् जो निष्काम भाव से मेरा निरन्तर चिन्तन करते हैं उनका मैं उद्धार कर देता हूँ।

संगति— अगला श्लोक इस अध्याय का सार है। इससे बढ़कर भगवत्प्राप्ति का सीधा साधन गीता में और कहीं नहीं आया। आगे के चार श्लोकों में उत्तरोत्तर मन्द अधिकारी के लिये साधन का निर्देश किया है। उत्तम अधिकार को तो ध्याननिष्ठ होना चाहिये। वह अपने इष्ट का चिन्तन करने में लीन रहे। यही अगले श्लोक में बतलाते हैं—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।८।।

भावार्थ— तुम मेरे में मन स्थिर करो और मुझमें ही बुद्धि को लगाओ। फिर तो तुम मुझमें ही निवास करोगे—इसमें संशय नहीं।

व्याख्या— 'मय्येव मन आधत्स्व'—मेरे में मन लगाओ। अर्थात् निरन्तर मेरा ही चिन्तन, मेरा ही कथन और मेरा ही प्रबोधन आदि करो। 'मयि बुद्धिं निवेशय'— मुझ ही में बुद्धि लगाओ। अर्थात् किसी की भी बातों में आकर अपने इष्ट की सुदृढ़ निष्ठा से विचलित मत होओ। एकनिष्ठ ही रहो। ऐसा दृढ संकल्प करो कि भगवान् को प्राप्त करके ही रहूँगा। अथवा संसार असत् है और मैं सत् हूँ—ऐसा निश्चय करके मुझ में ही संलग्न हो जाओ। 'अत ऊर्ध्वं मय्येव निवसिष्यसि'—इसके पश्चात् तुम मुझमें ही निवास करोगे। बुद्धि से ऐसा निश्चय करके यदि मन मुझमें लग जाय तो इससे बढ़कर और कोई साधन नहीं है। गीता में 'अत ऊर्ध्वम्' पद यहीं आया है। इसका

यह भी तात्पर्य है कि इससे ऊपर कुछ नहीं है। इस पर फिर भगवान् मुहर लगाते हैं— 'न संशयः' अर्थात् इसमें सन्देह नहीं है।

यहाँ मन–बुद्धि को लगाने का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि ऐसा अनुभव हो कि मन–बुद्धि की कोई सत्ता नहीं है। परन्तु इसमें भी सत्ता की कुछ झलक है ही। अतः उत्तम तो यही है कि मन–बुद्धि फुरें ही नहीं। किसी भी समय सुख की प्राप्ति या दुःख की निवृत्ति की भी इच्छा न हो। यही मन का निरोध है, जैसा कि अध्याय ४१ के श्लोक[१] २२ में और अध्याय २ के श्लोक[२] ५६ में कहा है। सुख–दुःख है या नहीं—ऐसी वृत्ति भी न रहे—यही मुझमें मन–बुद्धि का लगाना या निरोध है और यही सबसे ऊँचा अभ्यास है। अथवा सुख–दुःख और आत्मा के मध्य में जो सन्धि है वही समवृत्ति है। यह वृत्ति हेयोपादेय भाव से शून्य है। सब कुछ करते हुए भी जो इस वृत्ति में स्थित रहता है वह सबसे ऊँचा अभ्यास है। इसी को निर्गुणोपासना भी कहते हैं।

परन्तु यह प्रसङ्ग भक्तिपरक है, क्योंकि यहाँ भगवान् 'मयि' शब्द का प्रयोग करके साक्षात् अपनी ओर ही इङ्गित कर रहे हैं। तथापि प्रसंगवश निर्गुणोपासना की बात भी कह दी है।

संगति— अब अगले श्लोक में जो ध्यान करने में असमर्थ हैं उस मध्यम अधिकारी के लिये भगवान् अपनी प्राप्ति का उपाय बतलाते हैं—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय।।९।।

भावार्थ— हे धनञ्जय! यदि तुम मुझमें मन को स्थिर न लगा सको तो अभ्यासयोग के द्वारा मुझे प्राप्त करने की इच्छा करो।

व्याख्या—भगवान् की ब्राह्म सेवा ही अभ्यास–योग है। अर्थात् मेरी सेवा–पूजा, पाठ, स्वाध्याय, सत्संग और धाम–सेवानादि के द्वारा मुझे पाने का प्रयत्न करो।

---

१. न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।
२. दुःखश्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।

संगति— अगला श्लोक कनिष्ठ अधिकारी के लिये है—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥१०॥

भावार्थ— यदि तुम अभ्यास में भी असमर्थ हो तो मेरे लिये कर्म करने में तत्पर हो जाओ। निष्काम भाव से मेरे लिये वर्णाश्रमोचित कर्म करने पर भी तुम सिद्धि प्राप्त कर लोगे। [अर्थात् तुम्हें मेरी प्राप्ति हो जायगी।]

व्याख्या— कर्म के साथ 'मदर्थ' होने से यहाँ भक्ति सिद्ध होती है, केवल कर्म नहीं। 'सिद्धि' शब्द का अर्थ भी अणिमादि सिद्धि नहीं, अपितु भगवत्प्राप्तिरूप सिद्धि है। यद्यपि भगवत्प्राप्ति के साथ आनुषङ्गिक रूप से अन्य सिद्धियाँ भी आ सकती हैं, परन्तु वे यहाँ अभिप्रेत नहीं हैं।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥११॥

भावार्थ— यदि तुम ऐसा करने में भी असमर्थ हो तो मेरे योग का आश्रय लेकर एकाग्रचित्त से सब कर्मों का फल त्याग दो।

व्याख्या— यहाँ 'मद्योगमाश्रितः' (मेरे योग का आश्रय लेकर) कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि मेरा स्मरण करते हुए कर्म करो। कर्म तीन प्रकार के हो सकते हैं—(१) भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म, (२) धर्मार्थ कर्म और (३) पापक्षय अथवा विषयासक्ति की निवृत्ति के लिये किये जाने वाले कर्म। इनमें से जो भी कर्म उसे भगवान् का स्मरण करते हुए करो और उसके फल की कामना त्याग दो।

'यतात्मवान्' (संयतचित्त होकर) विशेषण का सम्बन्ध तो उपर्युक्त चारों प्रकार के साधकों के साथ समझना चाहिए।

संगति— अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि इन यतात्मवानों में उत्तरोत्तर कौन श्रेष्ठ है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।।१२।।

भावार्थ— अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से भी कर्म फल का त्याग श्रेष्ठ है, त्याग से तत्काल शान्ति प्राप्त होती है।

व्याख्या— अभ्यास अर्थात् भगवान् की सकाम सेवा-पूजादि से, अथवा लोक-दिखावे के लिये ऐसा करने से या भगवद्बुद्धि-शून्य किसी पुष्पादि आकर्षक वस्तु का ध्यान करने से ज्ञान श्रेष्ठ है। ज्ञान से तात्पर्य यहाँ परोक्ष-ज्ञान या साकार भगवान् के मुरलीमनोहरादि स्वरूप का ज्ञान समझना चाहिये। किन्तु भगवान् के स्वरूप का ऐसा ज्ञान प्राप्त करके भी जो अभिमानवश भजन नहीं करते उनसे वे श्रेष्ठ हैं जिन्हें यह ज्ञान भी प्राप्त है और जो भजन-ध्यान भी करते हैं। परन्तु जो किसी कामना की पूर्ति के लिये ध्यान करते हैं उनसे वे श्रेष्ठ हैं जो कर्मफल का त्याग करते हैं, क्योंकि सकाम भाव से भजन करने पर तो काम्य वस्तु ही मिलती है, भगवान् नहीं मिलते। किन्तु फलत्याग करने पर तत्काल शान्ति मिल जाती है। अर्थात् भगवान् की प्राप्ति तो निष्काम होने पर ही होगी, उससे पहले नहीं।

प्रश्न— यहाँ कर्म-फल के त्याग को सबसे श्रेष्ठ क्यों कहा?

उत्तर— क्योंकि फलासक्ति का त्याग किये बिना किसी भी साधन से भगवान् नहीं मिलते। कामना लेकर भजन करने से तो काम्य वस्तु ही मिलती है। फिर उसके भोग में आसक्ति होने से भजन छूट जाता है और भोग ही रह जाता है। तात्पर्य यह है कि वासनापूर्वक ध्यान करने वाले से निर्वासनिक ध्यानी ही श्रेष्ठ है।

यह तो कर्म और भक्ति-परक अर्थ हुआ, अब ज्ञानपरक अर्थ किया जाता है।

जिज्ञासु के अभ्यास (निदिध्यासन) से ज्ञान श्रेष्ठ है। ज्ञान से ध्यान अर्थात् आत्माकार वृत्ति या जीवन्मुक्ति का अभ्यास श्रेष्ठ है। किन्तु यदि कोई जीवन्मुक्ति तो हो, परन्तु अभ्यासकाल में आने वाली

सिद्धियों में फँस जाय तो उसका विक्षेप बढ़ जायगा। इसलिये स्वरूपस्थिति या निर्विकल्प समाधि रूप परमशान्ति की प्राप्ति के लिये सिद्धियों का त्याग आवश्यक है। ये सिद्धियाँ ध्यानाभ्यासरूप कर्म का फल हैं, अत: इनका त्याग ही यहाँ कर्मफल का त्याग है। यद्यपि शान्ति तो ज्ञान होने पर ही प्राप्त हो जाती है। परन्तु व्यावहारिक विक्षेप रहता है, उसकी निवृत्ति निर्विकल्प समाधि होने पर होती है। यहाँ ऐसा अभिप्राय नहीं समझना चाहिये कि ज्ञान की अपेक्षा ध्यान श्रेष्ठ है। इसका तात्पर्य यही है कि केवल ज्ञान ही श्रेष्ठ नहीं उसके साथ समाधि भी हो तो अधिक अच्छा है। कहा भी है—'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति'।

इस अध्याय में तत्वज्ञान का प्रसंग नहीं है। भक्ति का ही वर्णन है। 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग भी केवल इसी श्लोक में हुआ है। तथापि यह श्लोक दोनों पक्षों में लग सकता है। भक्त और ज्ञानी के लक्षण प्राय: एक ही होते हैं। कहीं थोड़ा अन्तर रहता है। द्वितीय अध्याय में स्थितप्रज्ञ के लक्षण, तेरहवें अध्याय में ज्ञान के लक्षण और चौदहवें अध्याय में गुणातीत के लक्षण बतलाये हैं। वे प्राय: समान ही हैं। केवल इतना अन्तर है कि ज्ञानी में मैत्री और करुणा नहीं होती, क्योंकि दृश्य के साथ उसका सम्बन्ध नहीं रहता। अत: उसमें अहंता-ममता का अत्यन्ताभाव होता है और सुख-दु:ख में भी उसकी समदृष्टि रहती है। भक्त की भी देहादि में तो अहन्ता-ममता नहीं होती, किन्तु भगवान् से उसका सम्बन्ध रहता है और उनके वियोग में वह अत्यन्त व्याकुल भी हो जाता है। अत: भावपक्ष की प्रधानता रहने के कारण उसमें मैत्री और करुणा भी रहती है।

संगति—अगले सात श्लोकों में भक्त के लक्षण बतलाये गये हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥१३॥

भावार्थ— सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति द्वेष न रखने वाला, मित्र भाव से युक्त, करुणामय, ममताशून्य, अहंकाररहित, दु:ख-सुख में समान और क्षमाशील।

व्याख्या— भगवान् मनु कहते हैं—

क्रुध्यन्तं प्रति न क्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत किंचन।।*

अर्थात् जो अपने प्रति क्रोध करने वाले पर क्रोध न करे वह अद्वेष्टा है। परन्तु यह भी उत्तम पक्ष नहीं है। उत्तम तो वह है कि उल्टे उसका उपकार करे। महाभारत में कहा है—

अद्वेषः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहं च दानं च शीलमेतत्प्रचक्षते।।**

योगदर्शन में कहा है—''मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख-पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' अर्थात् जो सुखी है उनके प्रति मित्रता की भावना करने से, जो दुःखी हैं उन पर करुणा करने से, पुण्यवानों को देखकर प्रसन्न होने से और पापियों की उपेक्षा करने से चित्त शुद्ध होता है। ये ही भक्तों के लक्षण हैं। भक्त में अहन्ता-ममता रहती हैं, परन्तु उसकी अहन्ता अपने चिन्मय भाव-शरीर में होती है और ममता अपने इष्ट में होती है। भजन करते-करते भक्त का शरीर चिन्मय हो जाता है, स्थूल नहीं रहता। जैसे बीज को नष्ट करके ही नवीन अंकुर निकलता है। जिसमें 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' यह लक्षण घटे वही भक्त है और वही ज्ञानी है। ज्ञानी इसलिये अद्वेष्टा होता है क्योंकि दृश्य के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी से उसमें करुणा और मैत्री—ये दो गुण नहीं पाये जाते, क्योंकि उसे आत्मतत्व के सिवा और किसी की सत्ता ही नहीं भासती। भक्त में इसलिये राग-द्वेष नहीं होते, क्योंकि उसकी भगवान् में प्रीति होती है। 'सिया- राम मय सब जग जानी' अर्थात्! वह सम्पूर्ण संसार को सिया-राम मय देखता है। इसलिये उसे संसार से अभय प्राप्त हो जाता है और अन्य

*अपने प्रति जो क्रोध करे उस पर क्रोध न करे, कोई गाली दे तो उससे मीठा बोले, अपनी निन्दा को सहन करे और किसी का अपमान न करे।

**मन वचन और कर्म से सभी प्राणियों से द्वेष न करना तथा दूसरों के प्रति दया और दानशीलता है—यही शील कहा जाता है।

सबको भी वह अभय-दान देता है। सम्पत्ति-विपत्ति दोनों ही अवस्थाओं में उसका मन भगवान् के चरण-कमलों को छोड़कर कहीं नहीं जाता। दुःख के समय भक्त समझता है कि भगवान् मेरी परीक्षा कर रहे हैं कि यह अपनी निष्ठा से विचलित तो नहीं होता इसके विश्वास में कोई कमी तो नहीं आती। तथा सुख के समय वह भगवान् का अनुग्रह देखता है। उसे निरन्तर ऐसी दशा प्राप्त होती रहती है कि उसके हृदय में भगवान् का ध्यान, शरीर में रोमाञ्च, जिह्वा में भगवन्नाम और नेत्रों से जल-प्रवाह होते रहते हैं। इसे भी वह भगवान् की कृपा का ही प्रसाद मानता है।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१४।।

भावार्थ— मेरा जो भक्त सर्वदा सन्तुष्ट है, समाहितचित्त है, मन इन्द्रिय और शरीर को वश में रखने वाला है, दृढ़ निश्चयवान् है तथा मुझमें ही जिसने मन और बुद्धि लगा दिये हैं, वही मेरा प्रिय है।

व्याख्या— सबसे पहले वैराग्य की आवश्यकता है, क्योंकि वैराग्य से ही संसाररूप वृक्ष कटेगा। अर्थात् धीरे-धीरे प्रवृत्ति कम करने पर सांसारिक वस्तुओं की इच्छा कम होगी। यही है सन्तोष। अतः भगवान् कहते हैं कि मेरा जो भक्त सर्वदा सन्तुष्ट है वह मुझे प्रिय है। इसके साथ जो समाहितचित्त तथा इन्द्रिय-निग्रह के साथ अध्याय ६ श्लोक १३ के अनुसार दृढ आसनवाला है तथा निश्चयात्मिक बुद्धिवाला है वही मुझे प्रिय है। किन्तु ऐसा वह तभी हो सकता है जब वह 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' हो। अर्थात् उनके मन और बुद्धि मुझमें ही लगे हों।

यहाँ जो लक्षण बतलाये गये हैं उनमें 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' ही मुख्य है, अन्य लक्षण गौण हैं। भगवान् में मन-बुद्धि लगे न होने पर ही अनेकों झंझट बढ़ जाते हैं। नहीं तो संसार में साधु का द्वेषी कोई नहीं होता। इसीसे भगवान् अब बतलाते हैं कि साधु कैसा होना चाहिए।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।।१५।।

भावार्थ— जिससे लोक उद्विग्न नहीं होता और जो लोक से उद्विग्न नहीं होता तथा जो हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेग से रहित है वह मुझे प्रिय है।

व्याख्या— यह श्लोक अत्यन्त रहस्य पूर्ण और अति उत्तम है, भगवान् ने कहा है कि जिससे कोई उद्विग्न न हो, परन्तु ऐसा प्रायः देखा नहीं जाता। अवतारों और आचार्यों से भी सब प्रसन्न नहीं रहे तथापि महात्मा का आदर्श यही होना चाहिये। उसकी दृष्टि, मन, वाणी और शरीर सभी में मधुरता रहनी चाहिये। यदि उसके पास कोई पाप-बुद्धि से आवे तो वह भी शान्त हो जाय, उद्वेग का नाम भी न रहे। किन्तु महात्मा में ऐसा प्रभाव तभी आ सकता है जब उसे ऐसा अनुभव हो कि मैं सबसे असङ्ग हूँ, सब मेरा है, सब मुझमें है, सब नहीं मैं ही हूँ अथवा ऐसी धारणा हो कि न सब है और न मैं हूँ, एकमात्र मेरे भगवान् ही हैं, सब कुछ उन्हीं का लीला-विलास है, सब रूपों में वही लीला कर रहे हैं। यहाँ जो 'मैं' शब्द का प्रयोग हुआ है वह शुद्ध अहं के अर्थ में है देहादि के अभिमानी के अर्थ में नहीं। भक्त को यह सारा संसार भगवान् के नाटक के समान प्रतीत होना चाहिये। नाटक में जो खलनायक की भूमिका करते हैं वे क्या वास्तव में दुष्ट होते हैं। नाटक में जो चोर की भूमिका करता है उसे चोर तो नाटक में थानेदार की भूमिका करने वाला ही देखेगा दर्शक क्यों चोर देखेगा भक्त के लिये तो यह जगन्नाटक भगवान् की ही लीला है। जिसको ऐसा अनुभव होता है उसमें हर्ष, भय, क्रोध और उद्वेग आदि दोष नहीं रहते। वह तो निरन्तर परमानन्दमय भगवद्ध्यान में निमग्न रहता है और सबमें अपने प्रियतम की ही झांकी करता है। उसे दूसरी बात सोचने का अवकाश ही नहीं होता। उस परमानन्द से बढ़कर उसे किसी वस्तु या स्थिति में सुख नहीं जान पड़ता, इसलिये उसमें हर्ष नहीं होता, देहाभिमान न रहने के कारण उसमें क्रोध नहीं होता, सर्वत्र

भगवद्दृष्टि रहने के कारण उसे भय नहीं होता और सब कुछ भगवान् की लीला देखने के कारण उसे उद्वेग नहीं होता। इसी से भगवान् कहते हैं कि जो ऐसे लक्षणों से सम्पन्न भक्त हैं वही मुझे प्रिय है।

प्रश्न— पहले भगवान् या आत्मा में प्रेम होता है या ये लक्षण आते हैं?

उत्तर— यह ऐसा ही प्रश्न है जैसे कोई पूछे कि पहले मनुष्य जागता है या पहले निद्रा दूर होती है। वस्तुतः दोनों एक साथ ही तो होते हैं।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१६।।

भावार्थ— मेरा जो भक्त, सम्पूर्ण कामनाओं से रहित, बाह्य और आन्तर शुद्धि से सम्पन्न, दक्ष, संसार से उदासीन, व्यथारहित और सब प्रकार के आरम्भों को त्यागने वाला हो वह मुझे प्रिय है।

व्याख्या— अनपेक्षः—जो आवश्यकता होने पर भी कुछ नहीं लेता, ब्रह्मलोक तक के भोगों की जिसे परवाह नहीं है। श्रीमद्भागवत में भी भगवान् ने अपने भक्त को अनपेक्ष बतलाया है—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वाऽनपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः।।*

'शुचिः— इस संसार में सभी अशुचि (अपवित्र) हैं, केवल साधु ही पवित्र हैं। शरीर, मन और वाणी तीनों ही की पवित्रता होनी चाहिये। उनका विवरण इस प्रकार है—

शरीर की पवित्रता—(मुख्य)—हिंसा, चोरी व्यभिचार आदि दोषों से बचना।

(गौण)—जल, मृतिका आदि से होने वाली शुद्धि।

*जो ज्ञाननिष्ठ विरक्त अथवा मेरा अनपेक्ष भक्त हो वह चिन्हों के सहित सभी आश्रमों को त्यागकर विधिका विचार न रखते हुए स्वच्छन्द विचरे।

वाणी की पवित्रता— अश्लील एवं अशिष्ट शब्दों का प्रयोग न करना, असत्य, कठोर और असम्बद्ध भाषण न करना तथा व्यर्थ न बोलना।

मन की पवित्रता— राग-द्वेष न करना, किसी का अनिष्ट न चाहना, देह में आत्म-बुद्धि न करना, तथा परस्त्री के प्रति कुदृष्टि न करना।

जिनमें ये तीनों प्रकार की पवित्रताएँ हों वे ही साधु हैं और वे ही पवित्र है। ऐसे महात्माओं के दर्शन और स्पर्शमात्र से ही संसार पवित्र हो जाता है। श्रीमद्भागवत में भगवान् कहते हैं—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शिनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः।।

अर्थात् जिसे किसी प्रकार की इच्छा नहीं है तथा जो शान्त, निर्वैर और समदर्शी है उस मुनि के पीछे-पीछे मैं सर्वदा चलता रहता हूँ जिससे उसकी चरण-धूलि से मैं पवित्र हो जाऊँ।

ऐसा सन्त—

यद्यत्स्पृशति पाणिभ्यां यद्यत्पश्यति चक्षुषा।
स्थावराण्यपि मुच्यन्ते किं पुनः पामरा जनाः।।

जिस-जिस को हाथों से छू देता है और जिस-जिस को नेत्रों से देख लेता है वह स्थावर (वृक्षादि जड़ पदार्थ) भी मुक्त हो जाते हैं; पामर मनुष्यों की तो बात ही क्या है।

दक्षः—कुशल, जो सब कार्य यथावत् करते हुए भी निर्लिप्त रहता है। अथवा जो जानते हुए भी चुप रहता है, विवाद में नहीं पड़ता।

उदासीनः— जिसका किसी पक्ष से सम्बन्ध न हो।

गतव्यथः—किसी प्रकार का अपमान या दुर्व्यवहार होने पर भी जिसे कोई विक्षेप न हो, क्योंकि वह संसारी लोगों को बालक या विवेकहीन देखता है।

सर्वारम्भपरित्यागीः—जो इहलोक या परलोक के भोगों की प्राप्ति के लिये कोई कर्म नहीं करता। कोई भी आरम्भ तब होता है जब

उसके फल में राग हो। उसका राग केवल भगवान् में है। अतः भगवान् की प्रसन्नता के लिये शारीरिक या मानसिक चेष्टाएँ करता है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।।१७।।

भावार्थ—जो न हर्ष करता है, न द्वेष करता है, न सोच-विचार करता है और न इच्छा करता है तथा जो शुभ-अशुभ दोनों को सर्वथा त्याग चुका है वह भक्तिमान् पुरुष ही मुझे प्रिय है।

व्याख्या— अनुकूल या प्रतिकूल क्रिया, परिस्थिति या चिन्तन से जो भी सुख या दुःख होगा वह शरीर को ही होगा। उसका शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये उसे हर्ष या शोक भी नहीं होता। हर्ष-शोक दृश्य या संसार के ही अन्तर्गत हैं और वह दृश्य से सर्वथा असंग है, इसलिये उसे हर्ष, द्वेष या शोक नहीं होता।

लोग जो परोपकार करते हैं उससे भी आत्मसन्तोष या अपने ही को सुख होता है। प्रधानतया यही लक्ष्य रहने के कारण वह भी एक प्रकार का स्वार्थ ही है। इसीसे संन्यासी या बोधवान् परोपकारादि सामाजिक प्रवृत्तियों से दूर रहते हैं। अतः वे शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियों को त्याग देते हैं। केवल इनके साक्षीमात्र रहते हैं। शुभ प्रवृत्ति भी उन्हीं की हो सकती है जिन्हें भजन या इष्टाकार-वृत्ति से अवकाश मिले। जिनका भजन में अनुराग होता है उन्हें दूसरे कार्यों के लिये समय ही कहाँ मिलता है। अतः सम्पूर्ण बाह्य व्यापारों का त्याग ही शुभा-शुभत्याग है। अथवा उसकी सभी वस्तु और क्रियाओं में भगवद्बुद्धि है, इसलिये उसकी दृष्टि में शुभ और अशुभ हैं ही नहीं। परन्तु ऐसी दृष्टि तभी होती है जब अपने इष्ट में अत्यन्त अनुराग हो। ऐसा अनुराग जैसा कि अज्ञानियों का अपने शरीर में होता है। जब ऐसा अनुराग होता है तब धर्म-कर्म, कीर्ति और नीति आदि की कोई सत्ता ही नहीं भासती। सर्वत्र अपने इष्ट की ही झाँकी होती है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।।१८।।

भावार्थ—जो पुरुष शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण तथा सुख-दुःख में समान है तथा सब प्रकार की आसक्तियों से रहित है।

व्याख्या— भक्त और ज्ञानी दोनों ही की देहदृष्टि नहीं रहती, इसलिये वे समबुद्धि होते हैं। यह बात गीता में जगह-जगह कही गयी है। अध्याय २ श्लोक १४ में कहा है—'मात्रा-स्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः' इत्यादि। अध्याय २ श्लोक १५ में आया है—'समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते' इत्यादि। अध्याय ६ में श्लोक ७ से ९ तक भी ब्रह्म को सच बतलाते हुए समदृष्टि की ही महिमा कही है। अध्याय ११ श्लोक ५५ में भी 'सङ्गवर्जितः निर्वैरः सर्वभूतेषु' कहा है। और यही बात यहाँ कही है। आत्मा शब्दादि पाँच विषय तथा सुख और दुःख इन सातों से असंग है, इसलिये वह सम है। अतः जो आत्म-निष्ठ या भगवद्भक्त होते हैं वे भी सर्वत्र सम होते हैं।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥१९॥

भावार्थ— जो निन्दा-स्तुति में समान है, मौनी है, जिस किसी भी वस्तु के प्राप्त होने पर सन्तुष्ट रहता है, अनियत स्थानवाला है तथा स्थिरबुद्धि है वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।

व्याख्या— उसे निरन्तर ध्यान या भगवच्चिन्तन से समय ही नहीं मिलता, इसलिये निन्दा-स्तुति सुनने पर वह प्रत्युत्तर देने या समर्थन करने में प्रवृत्त ही नहीं होता। इस प्रकार 'तुल्यनिन्दास्तुतिः' कहकर आगे हेतु देते हैं—'मौनी' अर्थात् ध्यानी, क्योंकि निन्दा-स्तुति में समान तो ध्याननिष्ठ ही रह सकता है। 'सन्तुष्टो येनकेनचित्'—उसे जो कुछ प्राप्त हो जाता है उसी में सन्तुष्ट रहता है। 'अनिकेतः' जिसका कोई नियत स्थान न हो, जो जहाँ-तहाँ पड़ा रहे। वह कुटिया आदि बनाकर भोग्य सामग्री एकत्रित नहीं करता। कुटिया बनाकर एक स्थान में रहने से परिचय बढ़ता है और उससे राग-द्वेष को अवकाश मिल जाता है तथा अनेक प्रकार के उपद्रव उपस्थित होने लगते हैं। अथवा जिसके हृदय में ममता और कामना को स्थान न हो वह भी अनिकेत

है। यहाँ श्री भगवान् का तात्पर्य यही है कि मेरे भक्त के हृदय में किसी प्रकार की ममता या कामना के लिये स्थान नहीं होता। वह तो एक अलौकिक आनन्द का अनुभव करता है। ऐसा एकनिष्ठ भक्त ही मुझे प्रिय है।

संगति— इस प्रकार भक्तों के लक्षण बतलाकर भगवान् इस प्रसंग का उपसंहार करते हैं—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥२०॥

भावार्थ— जो भक्त श्रद्धापूर्वक मेरे परायण हुए इस उपर्युक्त धर्ममय अमृत का सेवन करते हैं वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

व्याख्या— यहाँ भक्तों के लिये 'श्रद्दधानाः' और 'मत्परमाः' दो विशेषण दिये गये हैं अर्थात् वे श्रद्धालु भी हों और मेरे परायण भी हों। अनन्यभाव से मुझे आत्मसमर्पण करने वाले और लक्ष्य पर बाण चलाने वाले के समान मुझमें एकाग्रचित्त रखने वाले हों। तात्पर्य यह कि इस धर्ममय अमृतरूप उपदेश को ग्रहण करने के लिये केवल श्रद्धा ही पर्यात्प नहीं है अनन्य भाव से मेरे परायण होना भी आवश्यक है।

अतः जो इन सम्पूर्ण लक्षणों से सम्पन्न है तथा श्रद्धापूर्वक भगवद्‌भजन में लगे हुए हैं वे ही भक्त भगवान् को अतिशय प्रिय हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः॥१२॥

ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

संगति— बारहवें अध्याय में भगवान् ने भक्तिनिष्ठा का प्रतिपादन किया। अब इस अध्याय में सांख्यनिष्ठा कहेंगे। जिसे तीव्र जिज्ञासा होने पर भगवान्, शास्त्र, गुरु, धन, स्त्री, पुत्र आदि किसी में राग नहीं रहता, सन्देह की प्रधानता होती है और बुद्धिवाद में आस्था होती है, उस साधक को ज्ञानमार्ग में प्रवेश कराने के लिये भगवान् इस अध्याय के आरम्भ में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग समझाते हैं।

प्राचीन ग्रन्थों में मुख्यतया सांख्ययोग (ज्ञानयोग) और कर्मयोग ये दो ही योग मिलते हैं। भगवान् शंकराचार्य ने गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र—ये तीन प्रस्थान बतलाये हैं। सच पूछा जाय तो कर्म, उपासना और ज्ञान ये ही तीन प्रस्थान हैं। किन्तु गीता में तो दो निष्ठाओं का ही उल्लेख है। जैसे अध्याय ३ श्लोक ३ में कहा है– 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ' तथा अध्याय ५ श्लोक ५ में कहा है– 'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।' गीता ने भक्तियोग को भी कर्मयोग के ही अन्तर्गत माना है। सांख्य सिद्धान्त के अनुसार देह और देही में भेद है। भक्त भी लोक में तो यह भेद मानते हैं, परन्तु भगवान् में ऐसा भेद स्वीकार नहीं करते। उनका देह भी चिन्मय मानते हैं, अतः उनमें देह-देही का सात्त्विक भेद नहीं है।

इस अध्याय में भगवान् या ईश्वर की चर्चा नहीं है, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ही विभाग किया है। किन्तु जब क्षेत्र है और वह बनने-बिगड़ने वाला है तो उसका बनाने वाला भी कोई होना ही चाहिये। वही ईश्वर है। लोक में यह देखा जाता है कि वस्तु को बनाने वाला एक होता है और भोगने वाले अनेक होते हैं। इसी प्रकार जीव अनेक हैं और ईश्वर एक है।

अब अध्याय २ के १६ वें श्लोक 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः, इत्यादि के आधार पर भगवान् कहते हैं।

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥१॥

भावार्थ— श्रीभगवान् बोले—यह शरीर क्षेत्र कहा जाता है और जो इसे जानता है उसे उस तत्त्व को जानने वाले क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

व्याख्या— समष्टि और व्यष्टि भेद से शरीर भी दो प्रकार के हैं। समष्टि ईश्वर का शरीर है और व्यष्टि जीव का। इस दृष्टि से विराट् हिरण्यगर्भ और अव्यांकृत अथवा पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ईश्वर के शरीर हैं तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये जीव के शरीर हैं। श्रीकृष्ण ईश्वर हैं और अर्जुन जीव है। अतः अपने और अर्जुनादि के समस्त शरीरों की दृष्टि से कह रहे हैं कि यह शरीर अर्थात् दृश्यमात्र क्षेत्र है। 'इदम्' यह समस्त शरीरों को लक्षित करता है। इस श्लोक में जड़ और चेतन का विवेक किया गया है। इससे निश्चय होता है कि मन, बुद्धि, शरीर एवं सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च हमसे पृथक् है। जो हमसे पृथक् है वह दृश्य और परप्रकाश्य होने के कारण जड़ है। जब बुद्धि भी जड़ होने के कारण हमसे भिन्न है तो हम कर्ता-भोक्ता नहीं रहे क्योंकि क्रिया और भोग बुद्धि आदि के सहयोग से ही होते हैं। इस प्रकार कर्तृत्व-भोक्तृत्व का निषेध हो जाने पर इनका साक्षी क्षेत्रज्ञ शुद्ध चेतन निश्चित होता है।

यह नियम है कि खेतवाला खेत से भिन्न होता है और उसी को क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। अतः 'इदम्' शब्द से क्षेत्र का और 'अहम्' शब्द से क्षेत्रज्ञ का उल्लेख किया जाता है। शरीर मन, बुद्धि आदि सम्पूर्ण दृश्य हमसे भिन्न है, क्योंकि जो वस्तु हमारी कही जायगी वह हमसे होगी। अतः हम क्षेत्रज्ञ हैं और ये सब क्षेत्र हैं तथा इन सबका स्वामी या रचयिता ईश्वर है। इस प्रकार क्षेत्र जीव और ईश्वर दोनों से भिन्न है, जिस प्रकार घट से कुम्हार और घट का प्रयोग करने वाला

दोनों भिन्न होते हैं। जिस प्रकार घट को बनाने वाला कुम्हार है उसी प्रकार क्षेत्र को बनाने वाला ईश्वर है। परन्तु वह देखा नहीं जाता, क्षेत्र को देखने से अर्थापत्तिप्रमाण द्वारा उसका निश्चय होता है। हाँ, विशेष प्रयत्न करने पर उसका साक्षात्कार भी हो सकता है। वह विशेष प्रयत्न है भक्ति।

अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार सूक्ष्म शरीर के गमनागमन होते रहते हैं। जब स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है तब उसका द्रष्टा सूक्ष्म शरीर रहता है। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर का द्रष्टा कारण शरीर है और कारण शरीर का द्रष्टा साक्षी है। वास्तव में तो साक्षी ही द्रष्टा है। वही सूक्ष्म शरीर की उपाधि स्वीकार करके स्थूल शरीर का और कारण शरीर की उपाधि स्वीकार करके सूक्ष्म शरीर का द्रष्टा कहा जाता है। इस प्रकार साक्षी या जीव-चेतन ही द्रष्टा या क्षेत्रज्ञ है और तीनों शरीर दृश्य या क्षेत्र हैं। सूक्ष्म शरीर की निवृत्ति समाधि में होती है, क्योंकि उस समय कारण शरीर में स्थिति होती है और कारण-शरीर की निवृत्ति विवेक होने पर होती है। कारण शरीर ही अज्ञान या जड़-चेतन की ग्रन्थि है। इसी को अविवेक कहते हैं, अतः अविवेक की निवृत्ति विवेक से ही होती है। समाधि में चित्तवृत्तियों का निरोध ही होता है, निषेध नहीं होता इसलिये वहाँ कारण-शरीर की निवृत्ति नहीं होती। उसकी निवृत्ति पुरुषख्याति या विवेक होने पर ही होती है।

संगति— इस श्लोक में जड़-चेतन का पृथक्त्व बतलाकर पञ्चकोष को क्षेत्र और उसके द्रष्टा को क्षेत्रज्ञ कहा गया। यह व्यष्टि-साक्षी का प्रतिपादन या त्वंपद का शोधन हुआ। अब अगले श्लोक में पञ्चभूतों को क्षेत्र और उनके द्रष्टा को क्षेत्रज्ञ बतलाकर समष्टि-साक्षी का प्रतिपादन या तत्पद का शोधन करेंगे। यही ईश्वर का प्रतिपादन है। जब तक ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों के स्वरूप का ज्ञान न हो तब तक मोक्ष नहीं हो सकता। इसी से भगवान् कहते हैं—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥२॥

भावार्थ— हे भारत! तू समस्त क्षेत्रों में मुझे ही क्षेत्रज्ञ जान यह जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान है, मेरे मत में यही [वास्तविक] ज्ञान है।

व्याख्या— 'भा' का अर्थ है प्रकाश या ज्ञान, उसमें जो रत है वह भारत। अर्जुन तीव्र जिज्ञासु है, इसलिये उसे 'भारत' कहकर सम्बोधन किया गया है।

गीता में 'माम्' शब्द की कहीं व्याख्या नहीं की है कि वह सगुणपरक है या निर्गुणपरक। केवल यहीं इतना विवेचन है कि मुझे तू क्षेत्रज्ञ जान। जीव एक शरीर को जानने वाला है और ईश्वर समस्त शरीरों को जानता है। जो जीव और सम्पूर्ण जड़ वर्ग को जानता है वही ईश्वर है। अतः भगवान् अपने को सम्पूर्ण क्षेत्रों में उनका ज्ञाता बतलाकर अपनी ईश्वरता का निर्देश कर रहे हैं।

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में भगवान् ने अपने को समष्टि साक्षी बतलाकर जड़वर्ग से अपना विवेक बतलाया है। फिर उत्तरार्द्ध में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ज्ञान को ही ज्ञान बतलाकर इसके तात्त्विक अभेद का प्रतिपादन किया है, क्योंकि जो वस्तु अपने से (साक्षी से) भिन्न है वह स्वतः सिद्ध न होने के कारण अध्यस्त है और अध्यस्त वस्तु की सत्ता अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती। वह अधिष्ठान में ही कल्पित होती है। इससे निश्चय हुआ कि क्षेत्र की सत्ता नहीं है। अतः ऐसा अनुभव होना कि क्षेत्र का अत्यन्ताभाव है, यही ज्ञान है। इसी को भगवान् ने अपना मत कहा है। 'अपि' शब्द का प्रयोग करके भी भगवान् ने यह सूचित किया है कि पूर्वार्द्ध में उन्होंने विवेक का प्रतिपादन किया है और उत्तरार्द्ध में सिद्धान्त बतलाया है।

प्रश्न—हम यह कैसे समझें कि पहले श्लोक में भगवान् ने जीव के स्वरूप का ज्ञान कराया है और यहाँ अपना स्वरूप बतला रहे हैं।

उत्तर— प्रथम श्लोक में 'इदं शरीरम्' कहकर मानो वे अंगुलि-निर्देश से बतला रहे हैं कि यह व्यष्टि शरीर ही क्षेत्र है। यहाँ

व्यष्टि शरीर से स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीर समझने चाहिये। इनके साक्षी को ही क्षेत्रज्ञ कहा है। अतः व्यष्टि शरीरों का साक्षी होने के कारण वह जीव ही होना चाहिये। तथा यहाँ अपने को सम्पूर्ण क्षेत्रों का ज्ञाता बतलाया है। अतः समष्टि साक्षी होने के कारण यह अपने ईश्वर-स्वरूप का प्रतिपादन है।

इस प्रकार पहले श्लोक में व्यष्टि शरीर के ज्ञाता का वर्णन किया और यहाँ समष्टि शरीर के ज्ञाता का और इसी को ज्ञान बतलाया। जीव के तीनों शरीर क्षेत्र हैं और ईश्वर के तीनों शरीर भी क्षेत्र हैं। अतः इन क्षेत्रों की एकता है। इसी प्रकार व्यष्टि-साक्षी और समष्टि-साक्षी की भी एकता है। इन व्यष्टि-साक्षी और समष्टि-साक्षी दोनों का जिसको ज्ञान है वही शुद्ध चेतन है। इस प्रकार उसे सर्वातीत रूप में जानना ही व्यतिरेक ज्ञान है। तथा सब कुछ वही है, वही क्षेत्र है और वही क्षेत्रज्ञ है। इस प्रकार उसे सर्वरूप में जानना ही अन्वय-ज्ञान है, जैसा कि नवें अध्याय के १९ वें श्लोक में 'तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च' तथा 'सदसच्चाहमर्जुन' कहकर वर्णन किया है।

इस श्लोक में जो भगवान् ने अपने को समस्त क्षेत्रों का साक्षी कहकर बतलाया है, यह कपिल सांख्य का सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि यहाँ अनेक साक्षी नहीं कहे गये हैं। द्रष्टा भी एक है और दृश्य भी एक है, इसी प्रकार यहाँ भगवान् की ईश्वरता का भी निरूपण नहीं है, क्योंकि यह साक्षी-साक्ष्य के विवेकपूर्ण व्यतिरेक-ज्ञान का प्रकरण है।

संगति—इस प्रकार मानो भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि जो मेरा स्वरूप है वही तेरा स्वरूप है। इसलिये यदि तू अपने को जान लेगा तो मुझे भी जान जायगा। अतः क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विवेक कराकर अब क्षेत्र का विशेष-रूप से वर्णन करते हैं—

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥३॥

भावार्थ— वह क्षेत्र जो कुछ है, जैसा है, जैसे विकारों वाला है और जहाँ से जो हुआ है तथा वह (क्षेत्रज्ञ) जैसे प्रभाव वाला है वह सब मुझसे संक्षेप में सुन।

संगति— अब अगले श्लोक में भगवान् कहते हैं कि यह मैं कोई नई बात नहीं कह रहा हूँ। ऋषि-मुनियों और शास्त्रों ने पहले ही इसी प्रकार निश्चय करके प्रतिपादन किया है—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥४॥

भावार्थ— इस विषय का ऋषियों ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है तथा अनेकों वेद-मन्त्रों ने और निश्चित अर्थवाले युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्र के पदों ने भी तरह-तरह से प्रतिपादन किया है।

व्याख्या— यहाँ 'हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः' इन पदों का प्रयोग यह सूचित करने के लिये किया है कि आगे जिस तत्त्व का निरूपण किया जायगा वह पहले तर्क द्वारा निश्चित कर लिया गया है और सर्वसम्मत है। इससे यह भी सूचित होता है कि भगवान् जो कुछ कह रहे हैं वह परम्परा-प्राप्त और युक्तियुक्त है। कालक्रम से वह ज्ञान लुप्त हो गया था, उसी को प्रकट कर रहे हैं।

संगति—भगवान् कह चुके हैं कि क्षेत्रज्ञ तो एक और अविकारी है किन्तु क्षेत्र का बहुत विस्तार है। वह अगले दो श्लोकों से बतलाते हैं।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥६॥

भावार्थ—पञ्चमहाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त (प्रकृति), दस इन्द्रियाँ, एक मन, इन्द्रियों के पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (शरीर), चेतना (चिदाभास) और धृति—से क्षेत्र हैं और विकारयुक्त हैं। इनका संक्षेप से वर्णन किया गया।

व्याख्या—**प्रश्न**—विकार और धर्म में क्या अन्तर है?

उत्तर—विकार परिवर्तनशील होते हैं अर्थात् आगन्तुक हैं और धर्म धर्मी से अभिन्न होते हैं।

प्रश्न—राग-द्वेष बुद्धि के विकार हैं या धर्म?

उत्तर—भक्ति पक्ष में धर्म है और ज्ञान पक्ष में विकार। इच्छा के साथ ही द्वेष रहता है, क्योंकि इच्छापूर्ति में विघ्न डालने वाले के प्रति ही द्वेष होता है। फिर उसी से दुःख होता है और इच्छा की पूर्ति से ही सुख होता है। इसीलिये इच्छा-द्वेष के साथ ही सुख-दुःख का उल्लेख हुआ है।

प्रश्न—बोधवान् में इच्छा और द्वेष रहते हैं या नहीं?

उत्तर—इच्छा और द्वेष क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। तथा शरीर भी क्षेत्र ही है। तुम बतलाओ बोधवान् के शरीर रहता है या नहीं। यदि कहो कि शरीर रहता है तो जिस दृष्टि से शरीर रहता है उस दृष्टि से इच्छा-द्वेषादि भी रहते हैं। यदि शरीर नहीं रहता तो इच्छा-द्वेषादि भी नहीं रहते।

संगति— अब आगे ज्ञान के साधन बतलाते हैं—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥७॥

भावार्थ— अमानित्व—अपनी पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा से रहित होना। अथवा श्रेष्ठ आसन मिलने पर भी अभिमान न होना। भगवान् अमानी हैं, विष्णुसहस्रनाम में आया है—'अमानी मानदो मान्यः' इत्यादि। अतः उनसे तद्रूपता होने के लिये अमानी होना आवश्यक है, क्योंकि ऐसा नियम है कि 'देवो भूत्वा देवान् यजेत' अर्थात् अपने में देवत्व की भावना करके देवपूजन करे। इसीसे भगवत्प्राप्ति होगी, अथवा भगवान् का निरन्तर ध्यान करने से भगवान् के गुण आ जायेंगे।

अदम्भित्व दूसरे के प्रति अपने जप-ध्यानादि को किसी प्रकार प्रकट न होने देना। कहा भी है—'परेषामग्रे जपध्यानादिप्रकटकरणं दम्भः।' अर्थात् भजनानन्दी कहलाने के लिये जप-ध्यानादि करना अथवा किसी प्रकार की दिखावट करना दम्भ है। किन्तु यदि कोई सच्चे भाव से सबके सामने भी भजन करता है तो वह दम्भ नहीं है। और

जो एकान्त में भी प्रतिष्ठा आदि के उद्देश्य से भजन करता है वह दम्भी है। कोई कामना या लोकेषणा होने पर ही दम्भ होता है।

अहिंसा—योग दर्शन की टीका में चौरासी प्रकार की अहिंसा कही गयी हैं, किन्तु उनका तात्पर्य इतना ही है कि मन, वाणी और कर्म से किसी प्राणी को दुःख न दे। अहिंसा की पूर्णता तभी समझनी चाहिये कि जब उसके पास आने पर स्वभावतः वैर रखने वाले प्राणियों की भी पारस्परिक शत्रुता छूट जाय। यह बात योगदर्शन के इस सूत्र में कही गयी है– 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संनिधो वैरत्यागः।' ऐसी वाणी कभी न कहे जिससे किसी को दुःख हो और न किसी का अनिष्ट-चिन्तन ही करे। दूसरे की निन्दा करना अथवा आर्थिक लाभ के लिये महंगाई की इच्छा करना भी हिंसा ही है। संसार को नाटकवत् देखने से भी अहिंसा की पुष्टि होती है।

क्षान्ति—क्षमा या सहनशीलता, जैसा कि अध्याय २ श्लोक १४ में कहा है–'मात्रापस्र्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः' इत्यादि। इसकी पूर्णता कोई बिरले ही कर पाते हैं। सहनशील ही तितिक्षु होता है। जो समय को व्यर्थ नष्ट नहीं करता, हर समय भजन-साधन में तत्पर रहता है वही तितिक्षु हो सकता है।

आर्जव—सरलता या निष्कपटता। जैसा कि कहा है–

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद्वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद्दुरात्मनाम्॥

भावार्थ— महात्माओं के मन, वचन और कर्म में एक ही बात रहती है और दुरात्माओं के मन, वचन और कर्म में अन्तर रहता है।

आचार्योपासन—गुरुदेव की सेवा। गुरुकृपा के बिना साधन में सफलता नहीं मिलती। अतः भगवद्भाव से गुरुसेवा में संलग्न रहे। उपनिषद् में कहा है–

यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

अर्थात् जिसकी भगवान् में अत्यन्त भक्ति है और जैसी भगवान् में है वैसी ही गुरुदेव में है उस महात्मा को ही यहाँ कहे हुए तत्त्व का साक्षात्कार हो सकता है। जिज्ञासु के परम आश्रय तो गुरुदेव ही हैं। इसका विशेष विवरण ज्ञानेश्वरी टीका में देखना चाहिये।

शौच—पवित्रता। यह आन्तर और बाह्य भेद से दो प्रकार की है। मन में राग-द्वेषादि मल न रहने पर आन्तर पवित्रता होती है तथा जल-मृत्तिकादि के प्रयोग से बाह्य पवित्रता प्राप्त होती है।

स्थैर्य—गुरुदेव के दिये हुए साधन में स्थिर रहना। अथवा गुरु, इष्ट, मन्त्र और शास्त्रवाक्यों में अविचल रहना।

आत्मविनिग्रह—मन और इन्द्रियों को संयत रखना। भक्त का इन्द्रियनिग्रह अपने इष्टदेव के चिन्तन-मनन में लगे रहने से होता है तथा विचारवान् का संसार को स्वप्नवत् देखने से।

यहाँ से ज्ञान के सत्ताईस साधन बतलाने आरम्भ किये हैं। इनमें अमानित्व और अदम्भित्व ये सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। आचार्योपासन, शौच, स्थर्य और आत्मविनिग्रह—इन चार साधनों में से स्थैर्य आत्मविनिग्रह होने पर ही होता है तथा निग्रहवान् ही आचार्योपासन और शौच का आचरण कर सकता है। इन चारों का परस्पर बहुत सम्बन्ध है।

प्रश्न—ऐसा कौन साधन है जिससे ये अमानित्वादि गुण आ जायें।

उत्तर—साधन यही है कि अनन्यभाव से भगवान् का भजन करे—

स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुः विस्मर्तव्यो न जातुचित्।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः।।

(श्रीमद्भागवत)

अर्थात् निरन्तर भगवान् विष्णु का स्मरण करे, उन्हें कभी न भूले। जितने विधि-निषेध हैं इन दो साधनों के ही अनुगत हैं। सृष्टि में चार प्रकार के मनुष्य होते हैं—पामर, विषयी, जिज्ञासु और सिद्ध।

ये अमानित्वादि गुण जिज्ञासु के लिये हैं। आजकल तो ठीक जिज्ञासु मिलना कठिन ही है। विषयी भी कोई-कोई देखने में आते हैं। अधिकता पामरों की ही है। जो शास्त्रानुसार भोगों का सेवन करता है वह विषयी कहा जाता है। शास्त्र से ब्राह्मण के लिये एक सन्तान, वंशवृद्धि के लिये क्षत्रिय के दो सन्तान, वैश्य के व्यापार के लिये तीन सन्तान और शूद्र के सेवा-कार्य के लिये अनेक सन्तान होनी चाहिये। जो शास्त्रविहित-भोग से अधिक भोग भोगता है वह पामर है और जिसे शास्त्रोक्त भोग से भी वैराग्य है वह जिज्ञासु है। सिद्ध के विषय में हम कुछ नहीं कहते कि वह क्या करता है।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥८॥

भावार्थ— इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति का त्याग, अहंकार का अभाव तथा जन्म, मृत्यु, जरा और रोग में दुःख एवं दोष देखना।

व्याख्या— इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य होना चाहिये। किन्तु भक्त के लिये भगवान् का प्रसाद विषय नहीं माना जाता। संन्यासी को भी औषधवत् भोजन ग्रहण करना चाहिये। सब खाद्य-पदार्थों को मिलाकर संन्यासी के लिये आठ ग्रास, वानप्रस्थ के लिये सोलह ग्रास, गृहस्थ के लिये बत्तीस ग्रास और ब्रह्मचारी के लिये यथेष्ट भोजन का नियम है। यदि ब्रह्मचारी कम खायेगा तो गुरुसेवा कैसे करेगा? कम खाना इसलिये बतलाया है कि अधिक खाने से बुद्धि का बल क्षीण होता है और देह की आसक्ति बढ़ती है, जैसा कि पहलवानों में देखा जाता है।

इसके पश्चात् भगवान् अहंकार की बात कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों के विषय में वैराग्य तो हो परन्तु इसका अभिमान न हो। धनी होकर नम्र होना और वैराग्यवान् होकर अहंकारशून्य होना बहुत कठिन है। यदि किसी में ये दोनों बातें हों तो उसे भगवान् का प्यारा समझना चाहिये। अहंकार बहुत दुःखदायी है, क्योंकि यह देहाभिमान से होता है और यही जन्म-मरण का भी

कारण है। संसार में अपने शरीर से अधिक दुःखदायी कोई नहीं है। इसी में जन्म-मरण, जरा और व्याधि होते हैं। इन दुःखों के दोषों पर दृष्टि रखनी चाहिये। सारे दुःखों का मूल जन्म है। इसकी निवृत्ति भगवान् के भजन से होती है। अतः निरन्तर भजन करना चाहिये।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।।९।।

भावार्थ— पुत्र, स्त्री और गृह आदि में आसक्ति एवं ममता न होना तथा इष्ट या अनिष्ट प्राप्त होने पर सर्वदा समचित्त रहना।

व्याख्या—स्त्री-पुत्रादि के चिन्तन का नाम अभिष्वंग है, इसका न होना अनभिष्वंग कहा जाता है। आसक्ति सबसे अधिक पुत्र में होती है, उससे कम स्त्री में और उससे कम गृहादि में होती है, क्योंकि अधिकतर पाप पुत्र के मोहवश ही किया जाता है। यदि यथार्थ दृष्टि से देखा जाय तो आजकल स्त्री में तो प्रेम है ही नहीं। जो प्रेम प्रतीत होता है वह केवल स्वार्थ है, यदि सच्चा प्रेम हो तो स्त्री के मरते ही दूसरे विवाह की उत्सुकता नहीं होनी चाहिये थी।

यहाँ आसक्ति और अभिष्वंग दो की चर्चा है। इनमें आसक्ति होने पर भी गृहत्याग किया जा सकता है, क्योंकि घर छूटने पर आसक्ति तो छूट सकती है, परन्तु स्त्री-पुत्रादि का चिन्तन छूटना कठिन है। तब भी यह चिन्तन चलता रहता है कि मैं इतनी धन-सम्पत्ति छोड़कर आया हूँ, ऐसे प्रतिष्ठित परिवार का हूँ, ऐसा विद्वान् हूँ इत्यादि। वही अभिष्वंग है। इसे भी त्यागना चाहिये।

सदा समचित्त होना-अत्यन्त कष्ट पड़ने या महान् सुख की प्राप्ति होने पर, प्रबल शत्रु का आक्रमण होने या दिग्विजयी होने पर, पुष्पादि द्वारा पूजित होने या जूते लगने पर जिसका चित्त विक्षेप-शून्य रहे, राग-द्वेष की वृत्ति न हो तथा प्रसन्न या क्रुद्ध न हो वह समचित्त है। सहजावस्था में तो सभी समचित्त रहते हैं, किन्तु अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आने पर विषमता आ जाती है। अतः सहनशीलता की बहुत आवश्यकता है।

संगति— ज्ञान के साधन बतलाये जा रहे हैं, परन्तु भक्ति के बिना इन साधनों की रक्षा नहीं होती। अतः भगवान् कहते हैं—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

भावार्थ— मुझमें अनन्यभाव से अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त देश का सेवन, और जनसमुदाय में रुचि न होना।

व्याख्या— जिस प्रकार सती अपने पति के सिवा कभी किसी पुरुष का चिन्तन नहीं करती उसी प्रकार अपने इष्ट को छोड़कर और कहीं चित्त न जाय—इसे अव्यभिचारिणी भक्ति कहते हैं। उस भक्ति का साधन है एकान्त सेवन। संसारी पुरुषों का संग न करे। अव्यभिचारिणी भक्ति होने पर यह गुण स्वयं आ जायगा। किन्तु यह बात जिज्ञासु में ही पायी जाती है। जिसे मनुष्यों से मिलने-जुलने की रुचि नहीं है वही एकान्तसेवी हो सकता है। अथवा जिसमें अव्यभिचारिणी भक्ति होगी उसमें ये दोनों गुण स्वयं आ जायेंगे। तथा एकान्त में रुचि और जनसमुदाय में अरुचि होने से जिज्ञासा तीव्र होगी। तब विचार में प्रवृत्ति होगी और फिर क्या होगा यह अगले श्लोक में बताते हैं।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

भावार्थ— सर्वदा अध्यात्मज्ञान में तत्पर रहना और तत्त्वज्ञान के प्रयोजन (मोक्ष) पर दृष्टि रखना—यही सब ज्ञान (ज्ञान का साधन) कहा जाता है। जो इससे विपरीत है वह अज्ञान है।

व्याख्या— अध्यात्मज्ञान में नित्य स्थित रहना अर्थात् निरन्तर आत्मा-अनात्मा का विवेक तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना। किसलिये? तत्त्वज्ञानरूप अर्थ के दर्शन के लिये अर्थात् तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिये। अथवा तत्त्वज्ञान का अर्थ— प्रयोजन जो मोक्ष उस पर दृष्टि रखना। ये जो सत्ताईस लक्षण बताये गये हैं वे ज्ञान के साधन होने के कारण ज्ञान कहे गये हैं। इनके विपरीत सब अज्ञान है। यहाँ जो ज्ञान के साधन हैं उन्हीं को ज्ञान कहा गया है, जैसे भगवान्

के मन्दिर झाड़ू लगाने, फूल चुनने और पाठ-पूजनादि करने को भक्ति
कहा जाता है। यद्यपि ये सब हैं भक्ति के साधन ही। ये साधन ज्ञानियों
के गुण हैं। वास्तव में तो जो ज्ञेय है वही ज्ञानस्वरूप है।

संगति— ज्ञान का स्वरूप बतलाकर अब अगले छः श्लोकों में ज्ञेय का वर्णन करते हैं। इसमें अगला श्लोक बहुत महत्त्वपूर्ण है। गीता का तत्व समझने के लिये इसे समझना बहुत आवश्यक है—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

भावार्थ— अब जो ज्ञेय है वह बतलाऊँगा, जिसे जानकर अमृत (मोक्ष या अमृतरूप ब्रह्म) प्राप्त हो जाता है। वह अनादि परब्रह्म है और वह न सत् कहा जाता है न असत्। [वह तो सत्-असत् से विलक्षण है।]

व्याख्या— सत्-असत्, ज्ञान-अज्ञान या कार्य-कारण एक ही बात है। तत्त्ववेत्ता की चार प्रकार की दृष्टि होती है। उसे ऐसा अनुभव होता है कि—

१. सब मुझसे भिन्न हैं, मैं सबका द्रष्टा हूँ। यह दृष्टि अध्याय १३ के श्लोक २ में कही गयी है—'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इत्यादि। यह असंग-भावना है।
२. केवल मैं ही हूँ, और कुछ हुआ ही नहीं। यह अध्याय २ श्लोक १६ में आयी है— 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।' इसमें प्रपञ्च का अत्यन्ताभाव है और निषेधाकार-वृत्ति रहती है।
३. सत्-असत् सब मैं ही हूँ। यह अध्याय ९ श्लोक १९ में आयी है। यथा—'सदसच्चाहमर्जुन' यह अन्वयदृष्टि है।
४. मैं सत्-असत् से परे हूँ। यहाँ न 'सत्तन्नासदुच्यते' इस वाक्य से यही बात कही गयी है। यही अनुभव अर्जुन ने अध्याय ११ के ३७ वें श्लोक द्वारा व्यक्त किया था; यथा—'त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।'

गीता में चार प्रकार की दृष्टियाँ बतलायी हैं। उत्थान काल में ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि सब मुझसे भिन्न है और सब मैं ही

हूँ या सब मेरा है। और अन्तर्दृष्टि होने पर यह अभ्यास करना चाहिये कि केवल मैं ही हूँ।

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—ये एक के ही तीन नाम हैं। उसे वेदान्ती ब्रह्म, योगी परमात्मा और भक्त भगवान् कहते हैं। श्रीमद्भागवत में कहा है—'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।' ईश्वर कैसा है—यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि ईश्वर के भाव और गुण अनन्त हैं। यह नियम है कि अनन्त का ज्ञान मन-बुद्धि आदि से नहीं होता इनसे तो सान्त या सीमित विषयों का ही ज्ञान होता है। ईश्वर तर्क का विषय भी नहीं है। वह श्रद्धा का ही विषय है। वह सच्चिदानन्दस्वरूप है अथवा वंशीधारी है—ऐसी श्रद्धा ही करनी होती है। तर्क तो इतना ही बताता है कि यह संसार उत्पत्ति-विनाशशील है, अतः इसका कोई कर्ता होना चाहिये। हम अल्पज्ञ, अल्पशक्ति और परिच्छिन्न हैं, इसलिये कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्ति और विभु भी होना चाहिये। वही ईश्वर है तथा सभी मतों में ईश्वर के विषय में मुख्य दृष्टि यही है। अतः अपनी दृष्टि से वे सभी ठीक हैं, क्योंकि वे सभी उपासक हैं।

परन्तु निर्विशेष ब्रह्म की उपासना नहीं होती। वह तो विचार के द्वारा अविचार की निवृत्ति होने पर ही अनुभव में आता है। यह कहना भी ठीक नहीं, वास्तव में वह अनुभवस्वरूप ही है और ऐसा अनुभव होना ही उसका अनुभव है। यहाँ निर्विशेष का ही प्रसङ्ग है। वही परब्रह्म है। वह सत्-असत् से विलक्षण है। सत् भाव कार्य या जाग्रत को कहते हैं तथा असत् अभाव, कारण या सुषुप्ति को। वह दोनों से परे है इसलिये उसे न सत् कह सकते हैं न असत्। वास्तव में सत् और असत् कभी हुए ही नहीं, वे केवल भासते हैं। वे जिसमें भासते हैं वह इन दोनों से विलक्षण है और वही परब्रह्म है। यह ज्ञान उसी को होता है जिसे संसार से वैराग्य है।

सब भगवान् हैं— यह कहने का तात्पर्य भी यही है कि सब नहीं, भगवान् ही है। सत्-असत् कुछ नहीं, मैं ही हूँ। जैसे स्वप्न वास्तव में कुछ नहीं होता। स्वप्न और स्वप्न से विलक्षण केवल स्वप्नद्रष्टा ही है, वही सब कुछ है और वही सबसे परे है।

संगति— इस प्रकार अपने को सत् और असत् से परे बताकर भगवान् ने व्यतिरेक-दृष्टि प्रस्तुत की। इससे अर्जुन को यह जिज्ञासा हुई कि इससे अतिरिक्त क्या है और यदि भगवान् सत्-असत् से परे हैं तो ये सत्-असत् क्या है। इस पर भगवान् अन्वय-दृष्टि से अपने सविशेषरूप का वर्णन करते हैं।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥१३॥

भावार्थ— वह सब ओर हाथ-पाँवों वाला है, सब ओर नेत्र, सिर और मुखों वाला है, लोक में सब ओर उसके कान हैं तथा वह सबको व्याप्त करके स्थित है।

व्याख्या— जैसे सबका कारण होने से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी में व्याप्त है, क्योंकि ये सब उसी से उत्पन्न हुए हैं। तथा इन सबसे अलग भी है। अथवा ये सब आकाश स्वरूप ही हैं और उसी के अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार जैसे सूर्य की किरणें उससे भिन्न दिखायी देने पर भी वास्तव में उससे अभिन्न हैं, समुद्र की तरंगें पृथक् दीखने पर भी समुद्र से अपृथक् हैं तथा अनेक रूप में भासने वाला स्वप्न वास्तव में निर्विशेष स्वप्न-द्रष्टा से अभिन्न ही है उसी प्रकार यह सारा संसार भगवान् से अभिन्न है। केवल देखने में ही भिन्न-सा भासता है।

जिस प्रकार 'सर्व' कहने से जान पड़ता है कि कोई अल्प भी है उसी प्रकार 'निर्विशेष' कहने से सिद्ध होता है कि कोई सविशेष भी है। भगवान् ने १२ वें श्लोक में निषेधमुख से वर्णन किया था, अब विधिमुख से बतलाना आरम्भ किया है, अतः आगे के श्लोकों में भी वही बात कह रहे हैं।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥१४॥

भावार्थ— यह ब्रह्म सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों का प्रकाशक है तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों से पृथक् है। यह असंग किन्तु सब का भरण-पोषण करने वाला तथा निर्गुण किन्तु गुणों का भोक्ता भी है।

व्याख्या— वह सब इन्द्रियों को और उनके विषयों को प्रकाशित कर रहा है। अर्थात् सबको सत्ता देते हुए भी सबसे पृथक् है। जैसे सूर्य कमलों को जीवन प्रदान करते हुए भी उनसे अलग रहता है। वह सम्पूर्ण क्रियाएँ करते हुए भी निष्क्रिय है, यद्यपि सक्रिय-सा जान पड़ता है। इसी प्रकार सबका भरण-पोषण करने पर भी सबसे निर्लेप है। यद्यपि बिना सम्बन्ध हुए किसी का भरण-पोषण करना सम्भव नहीं है तथापि यहाँ यही अलौकिकता है कि वह सब कुछ करते हुए भी असंग है। इसी प्रकार वह निर्गुण होने पर भी गुणों का भोक्ता है वह परमात्मारूप से निर्गुणरूप में विराजमान है और भगवद्रूप से सगुण रूप में। तथा वही स्वयं निर्गुण होने पर भी जीव रूप में गुणों का भोक्ता है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥१५॥

भावार्थ— वही सम्पूर्ण भूतों के बाहर और भीतर है तथा वहीं स्थावर और जंगमरूप भी है। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय है तथा वह दूर भी है और समीप भी।

व्याख्या— वह अन्तर्यामीरूप से पञ्चकोषों के भीतर होने के कारण सब भूतों के भीतर है तथा पञ्चभूतों का साक्षी होने के कारण सबके बाहर है। इस प्रकार भूतों की रचना करने पर भी वह भूतों से भिन्न है। प्राणरूप से वह चर है तथा जड़रूप होने के कारण अचर है। वही चेतन होने के कारण भोक्ता है और जड़ होने के कारण भोग्य है। पञ्चकोशों का साक्षी होने के कारण वह अत्यन्त समीप है और पञ्चभूतों का साक्षी होने से दूर है। इन्द्रियों का विषय न होने के कारण वह अत्यन्त सूक्ष्म है, इसीलिए वह बुद्धि आदि के द्वारा जाना नहीं जा सकता।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥१६॥

भावार्थ— वह अविभक्त होने पर भी भूतों में विभक्त-सा स्थित है। उसे भूतों का भरण करने वाला होने पर भी भूतों का संहार करने वाला और उत्पत्ति करने वाला जानना चाहिये।

व्याख्या—इससे पहले श्लोक में जिसे अविज्ञेय कहा था उसी को अब जानने योग्य बतला रहे हैं क्योंकि सम्पूर्ण भूतों में विभागरहित होने पर भी वह विभक्त-सा जान पड़ता है। जैसे तरंगों में जल और आभूषणों में सुवर्ण अभिन्न होने पर भी ये भिन्न से जान पड़ते हैं, इसी प्रकार स्वरूपत: अभिन्न होने पर भी वह परमात्मा मायिक-दृष्टि से विभिन्न-सा प्रतीत होता है। अज्ञानी तो अपने को शरीर ही समझता है और विवेकी को यह अनुभव नहीं होता कि जिस दृश्य वर्ग से मैं अपने को असंग अनुभव करता हूँ वस्तुत: वह भी मैं ही हूँ। किन्तु तत्त्ववेत्ता जानता है कि यह जड़-चेतन कुछ नहीं, एक आत्मा ही आत्मा है। अत: जो दृश्य को भिन्न एंव जड़ समझते हैं वे भी तत्त्वदर्शी नहीं कहे जा सकते; वास्तव में तो—'हरिदेव जगज्जगदेव हरि:' (हरि ही जगत् हैं और जगत् ही हरि हैं) इस प्रकार एक ही सत्ता का अनुभव होना ही ज्ञान है और अनेक सत्ता समझना अज्ञान है। विभाग होने पर ही उसमें उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भासते हैं। यह सब माया की उपाधि के कारण हैं और माया की उपाधि से ही वह भूतों की उत्पत्ति आदि करने वाला और ज्ञेय जान पड़ता है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमस: परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥१७॥

भावार्थ—वह ज्योतियों का भी ज्योति (प्रकाशक) और तम से परे कहा जाता है। वह ज्ञानस्वरूप, जानने योग्य और विचारगम्य है तथा सभी के हृदय में स्थित है।

व्याख्या—ज्योतियाँ चार प्रकार की हैं—सूर्य, चन्द्र, अग्नि और विद्युत। वह इन चारों का प्रकाशक है तथा तम (अज्ञान या अन्धकार) का भी प्रकाशक है, इसीलिए उसे तम से परे बताया है। तम का प्रकाशक तम से परे होना ही चाहिए। तम या अज्ञान ही सबका कारण

है और वह अज्ञान का साक्षी है, इसलिये अज्ञान से परे है, क्योंकि सुषुप्ति अज्ञान है और वह सुषुप्ति का अनुभव करने वाला है। वही ज्ञान-ज्ञानस्वरूप, ज्ञेय-विवेक द्वारा जानने योग्य और ज्ञानगम्य-विचारगम्य अथवा पूर्वोक्त अमानित्वादि ज्ञान के साधनों से अनुभव में आने वाला है, कर्म या उपासना से नहीं। इससे आगे भगवान् कहते हैं कि वह प्राणिमात्र के हृदय में स्थित है, अतः उसे अन्यत्र ढूँढ़ना व्यर्थ है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।।१८।।

भावार्थ— इस प्रकार मैंने क्षेत्र तथा ज्ञान और ज्ञेय का संक्षेप से वर्णन किया। मेरा भक्त इन्हें जान लेने पर मेरे भाव (निर्विशेष-स्वरूप) को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— भगवान् का सविशेषस्वरूप तो सम्मुख उपस्थित ही है, अतः यहाँ निर्विशेष-स्वरूप की प्राप्ति ही कही गयी है। तात्पर्य यह कि जैसे जल, जल में मिल जाता है उसी प्रकार वह स्वरूपतः मुझ से अभिन्न हो जाता है।

यहाँ भगवान् ने जो संक्षेप से निरूपण करने की बात कही है वह समय के संकोच के कारण है, क्योंकि युद्धस्थल में किसी भी विषय का विस्तार से वर्णन नहीं किया जा सकता।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ।।१९।।

भावार्थ— तुम प्रकृति और पुरुष दोनों ही को अनादि जानो। किन्तु विकार और गुणों को प्रकृति से ही होने वाले समझो।

व्याख्या— प्रकृति का अर्थ है माया, क्योंकि उपनिषद् में आया है—'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।' गीता में भी जहाँ 'माया' शब्द का प्रयोग हो वहाँ प्रकृति ही समझनी चाहिये। तथा 'पुरुष' से परमात्मा का शुद्धस्वरूप ग्रहण करना चाहिये। ये प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं तथा दोनों ही अव्यक्त हैं। अव्यक्त से ही सृष्टि उत्पन्न होती है, जैसा कि अध्याय ८ श्लोक १८ में कहा

है–'अव्यक्ताद्व्यक्तय: सर्वा: प्रभवन्त्यहरागमे'। किन्तु बोध होने से पहले ही ये दो अनादि जान पड़ते हैं, बोध होने पर तो एक ही सत्ता रह जाती है। विकार और गुण ये प्रकृति से ही होते हैं। अध्याय १३ श्लोक ५ में जो 'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च' इत्यादि विकार कहे गये हैं वे सब मायाकल्पित ही हैं। पुरुष में कभी कोई विकार नहीं होता, क्योंकि वह असंग है।

संगति—अब प्रकृति और पुरुष दोनों के पृथक्-पृथक् स्वभावों का वर्णन करते हैं। यह श्लोक कापिल सांख्य के अनुसार है।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥२०॥

भावार्थ— वीर्य, करण और कर्तापन में प्रकृति निमित्त कही जाती है तथा सुख-दुःख भोगने में पुरुष हेतु कहा जाता है।

व्याख्या— यहाँ पुरुष को जो भोक्ता कहा गया है वह प्रकृति का सङ्ग होने पर ही समझना चाहिये, क्योंकि अविवेक की अवस्था में ही पुरुष अपने को भोक्ता समझता है, विवेकख्याति हो जाने पर नहीं।

आकाशादि पञ्चभूत और उनके शब्दादि गुण ही कार्य कहे जाते हैं। पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन ये ग्यारह करण हैं तथा अहंकार कर्ता है। ये सब प्रकृति के कार्य हैं, अतः प्रकृति ही इनकी निमित्त या हेतु है। तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। चेतन पुरुष का प्रकृति के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध होने से ही सब व्यवहार चल रहा है। किन्तु विवेकख्याति होने पर जब यह सम्बन्ध निवृत्त हो जाते हैं तो फिर पुरुष इस सब व्यापार से मुक्त हो जाता है और पुनः यह सम्बन्ध नहीं होता; जैसे कि दूध से निकला हुआ मक्खन पुनः दूध में नहीं मिलता। यह सांख्य और योग का सिद्धान्त है।

वेदान्त-सिद्धान्त तो अद्वैतवादी है। उसके अनुसार तो प्रकृति या माया की सत्ता ही नहीं है। जो भी कार्य-करण-कर्तृरूप प्रपञ्च देखा जाता है वह सब अविद्याजनित है। अविद्या की निवृत्ति होने पर यही अनुभव होता है कि इसका अत्यन्ताभाव है। यह केवल प्रतीतिमात्र

है, वास्तव में नहीं। यहाँ पुरुष को जो भोक्ता कहा गया है वह केवल जिज्ञासु को समझाने के लिए है वास्तव में वह भोक्ता नहीं है। यही बात अगले श्लोक में स्पष्ट करते हैं।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।।२१।।

भावार्थ— पुरुष प्रकृति में स्थिति होने पर ही प्रकृति से उत्पन्न होने वाले सुख-दु:ख रूप गुणों को भोगता है। इसके पुण्य और पाप योनियों में जन्म लेने में गुणों का सङ्ग ही कारण है।

व्याख्या— इस श्लोक में 'पुरुष' शब्द शुद्ध आत्मा का वाचक है, कर्ता-भोक्ता का नहीं।

प्रश्न— शुद्ध आत्मा में कर्ता-भोक्तापन कैसे हो जाता है?

उत्तर— प्रकृति में स्थित होने से। प्रकृति में स्थित होना ही अस्वास्थ्य है, इसी से उसमें यह विकार भासता है। जब वह स्वस्थ्य अर्थात् अपने में स्थित होता है तब इस रोग से मुक्त हो जाता है। वास्तव में तो वह स्वस्थ ही है, केवल अज्ञान से ऐसा भासता है।

प्रश्न— किन्तु उस निर्विकार ब्रह्म में यह विकार हुआ ही क्यों?

उत्तर— यह वास्तव में हुआ कुछ नहीं, केवल भासता है। जैसे निर्विकार आकाश में बादल हो जाते हैं तो वह मलिन-सा जान पड़ता है, परन्तु उस समय भी वास्तव में वह स्वच्छ और निर्विकार ही है, वह उनसे सर्वथा असंग है और वस्तुत: तो बादल भी आकाश-रूप ही है उनकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है। इसी बात को सूर्य के दृष्टान्त से भी समझ सकते हैं। जैसे सूर्य सर्वदा ज्योतिस्वरूप ही है, परन्तु उसी से उत्पन्न हुए बादल उसे ढक लेते हैं तो वह मलिन-सा जान पड़ता है। परन्तु उस समय भी वह रहता पूर्ववत् ही है। इसी प्रकार केवल अज्ञान के कारण शुद्धस्वरूप आत्मा विकारी-सा जान पड़ता है।

प्रश्न— यह अज्ञान है क्या और क्यों हुआ?

उत्तर— वेदान्त के सिद्धान्तानुसार शुकदेव, वामदेव और वसिष्ठादि तथा सम्पूर्ण शास्त्र अज्ञान के ही कार्य हैं। तब यह कौन

बतलावेगा कि अज्ञान क्या है और क्यों हुआ? क्या स्वप्न-पुरुष भी स्वप्न का कारण और स्वस्वरूप बता सकता है?

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥२२॥

भावार्थ— वह पुरुष इस देह में स्थित हुआ भी इससे परे है, क्योंकि वह उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा कहा गया है।

व्याख्या— इस श्लोक में कहे हुए विशेषण केवल शुद्ध-चेतन के नहीं हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न उपाधियों के कारण उसके ये नाम हैं। माया के साथ सम्बन्ध होने से वह भर्ता (ईश्वर) है और अविद्या के साथ मिलने से वह भोक्ता (जीव) है। किन्तु इनसे सम्बद्ध होने पर भी वह तीनों देहों से अतीत है। इन शरीरों से परे जो पुरुष है वही साक्षी होने के कारण उपद्रष्टा है, वही समष्टि साक्षी शुद्ध-चेतन है। पञ्चकोश का साक्षी होने के कारण वह अनुमन्ता है। अर्थात् सबको अनुभव करने वाला और अनुमति देने वाला है। उसका मौन रहना ही उसकी अनुमति है—'मौनं स्वीकृतिलक्षणम्।' प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों बुद्धि के कार्य हैं, और वह बुद्धि का साक्षी है, इसलिये अनुमन्ता है। वही भर्ता है अर्थात् भरण-पोषण करने वाला है, क्योंकि आत्मा की सत्ता के बिना चिदाभास कुछ भी नहीं कर सकता। वही मन-बुद्धि को स्फूर्ति देता है अतः जीवरूप से भोक्ता है। अथवा जैसे सूर्य अन्धकार को भोग लेता है अर्थात् लीन कर देता है उसी प्रकार अविद्या को ध्वंस करके वह अपने में स्थित हो जाता है तथा बोध होने पर अव्यक्त से लेकर स्थूलपर्यन्त सम्पूर्ण प्रपञ्च को खा जाता है, इसलिये वह भोक्ता है। वही महेश्वर-महान् ईश्वर है क्योंकि कीली पर चाक के समान सारा संसार-चक्र उसी पर घूम रहा है। तथा वही परमात्मा है, उससे आगे और कोई आत्मा (अपना स्वरूप) नहीं है।

इस श्लोक में 'च' और 'अपि' से समष्टि-व्यष्टि साक्षियों की एकता दिखलायी है, जैसे कि घटाकाश और महाकाश की एकता है।

यहाँ 'उपद्रष्टा' से 'भोक्ता' तक के विशेषण व्यष्टिसाक्षी के हैं तथा 'महेश्वर' और 'परमात्मा' से समष्टि साक्षी के विशेषण हैं। 'अपि' शब्द इन्हें पूर्व विशेषणों से जोड़ता है, अत: सूचित होता है कि ये दोनों एक ही हैं, यहाँ क्षेत्रज्ञ का प्रसंग है, अत: महेश्वर और परमात्मा भी स्वरूप को ही कहा है, किसी अन्य को नहीं।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।।२३।।

भावार्थ— जो इस प्रकार पुरुष और गुणों के सहित प्रकृति को जानता है वह सब प्रकार बर्तता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता।

व्याख्या— तत्त्वज्ञ किसी भी प्रकार रहे उसका जन्म नहीं होता। बाह्य व्यापार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। प्रारब्धानुसार उनकी रहनी अनेक प्रकार की होती है जैसा कि कहा है—

क्वचिच्छिष्टः क्वचिद्भ्रष्टः क्वचिद् भूतपिशाचवत्।
नानारूपधरो योगी विचचार महीतले।।

अर्थात् तत्त्वज्ञ पृथ्वी-तल में अनेक रूपों में विचरता है। कहीं वह शिष्टाचार का पालन करता है, कहीं भ्रष्टाचारी हो जाता है और कहीं भूत-प्रेतों का-सा आचरण करता है। कोई तत्वज्ञ अवधूत-वृत्ति में रहते हैं, कोई राज्य शासन करते हैं और कोई कर्म या उपासना में लगे रहते हैं, अध्याय ६ श्लोक ३१ में भी कहा है 'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।' किन्तु बोध हो जाने पर फिर उसकी अनात्मा में आत्मबुद्धि नहीं होती। वह जाग्रदादि किसी भी अवस्था में रहे उसकी आत्मदृष्टि का लोप नहीं होता। उसे कभी संशय या विपर्यय नहीं होता, क्योंकि एक सच्चिदानन्द के अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता वह नहीं देखता। यही उसका पुन:र्जन्म न लेना है और यही गुणों के सहित प्रकृति को जानना है। वास्तव में एक चिन्मात्र से भिन्न प्रकृति की कोई सत्ता नहीं है-ऐसा जानना ही प्रकृति को जानना है।

संगति— यह सिद्धान्त कहा गया। अब अगले दो श्लोकों में यह बतलायेंगे कि किन-किन साधनों से इसकी प्राप्ति होती है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।२४।।
अन्ये त्वेवजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।।२५।।

भावार्थ—कोई तो आत्मा का अन्तःकरण द्वारा ध्यान से साक्षात्कार करते हैं। कोई सांख्ययोग के द्वारा और कोई कर्मयोग से उसका अनुभव करते हैं। दूसरे जो इन साधनों से अपरिचित हैं वे अन्य (गुरुजनों) से सुनकर आत्मा की उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार से पार हो ही जाते हैं।

व्याख्या— चार प्रकार के अधिकारी होते हैं-उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ और कनिष्ठतर उनके लिये यहाँ चार ही प्रकार के साधन बताये गये हैं। उत्तम तो ध्यान (निदिध्यासन) के द्वारा आत्मा का अपने शुद्ध अन्तःकरण में साक्षात्कार करते हैं। मध्यम सांख्ययोग के द्वारा विवेपूर्वक उसका अनुभव करते हैं। कनिष्ठ कर्मयोग के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होने पर उसकी उपलब्धि करते हैं और कनिष्ठतर गुरुजनों से श्रवण करके फिर भजन-उपासना द्वारा उसे प्राप्त करते हैं। इस प्रकार ये चारों ही मृत्युरूप संसार से पार हो जाते हैं। अधिकारी-भेद से इन चारों के ही मार्ग यथार्थ हैं।

यहाँ जो निष्काम कर्मयोगी को कनिष्ठ ओर श्रुतिपरायण को कनिष्ठतर अधिकारी बताया है उसका कारण यह है कि उन्हें वैराग्य नहीं होता। इन्हें परम्परा से आत्मतत्त्व की उपलब्धि होती है।

प्रश्न— पहलें जो दो साधन निदिध्यासन और विवेक बतलाये हैं उनमें क्या अन्तर है?

उत्तर—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध और सुख-दुःख—ये मुझसे पृथक् हैं, मैं इनका साक्षी हूँ, इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है—ऐसी वृत्ति जाग्रत रखना विवेक है। तथा इनका निषेध होने पर जो आत्माकार वृत्ति होती है उसका प्रवाह एवं विजातीय वृत्ति का त्याग निदिध्यासन या ध्यान है। ये दोनों जिज्ञासु के साधन हैं। जब ऐसा

अनुभव हो कि इन शब्दादि की कोई सत्ता नहीं है, ये केवल प्रतीतिमात्र हैं, तो इनसे असंग रहना अथवा इन्हें अपना स्वरूप ही मानना ब्रह्माभ्यास या ब्रह्माकार वृत्ति है। यह बोधवान् का अभ्यास है। यद्यपि वृत्ति ब्रह्म का आकार धारण नहीं कर सकती, अतः ब्रह्माकार वृत्ति कहना बनता नहीं तथापि जब कोई भी संकल्प न रहे तो वह आप ही रह जाता है, इसलिए इसे ब्रह्माकार वृत्ति कहते हैं; जैसे कमरे में से सब सामान निकाल लिया जाय तो फिर कमरा स्वयं ही रह जाता है।

प्रश्न— आत्मा तो देखने में नहीं आता, फिर उसका ध्यान कैसे होगा?

उत्तर—आत्मा देखने की वस्तु नहीं, क्योंकि वह स्वयं है तथा आत्मा दिखाने या छिपाने की वस्तु नहीं, क्योंकि वह स्वयं है अथवा यों कहो कि आत्मा देखने में नहीं आता—यही आत्मा को देखना है, यही उसका ध्यान है और यही ज्ञान है। स्वरूप को देखने की इच्छा करना ही अज्ञान है। अरे! काई को हटा देना ही तो जल को देखना है। जल तो वहाँ है ही, केवल काई ने उसे ढँक लिया है। इसी प्रकार यह संसार वास्तव में है नहीं—ऐसा अनुभव होने पर वह स्वयं ही रह जाता है।

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥२६॥

भावार्थ—हे भरतश्रेष्ठ! यह जो कुछ भी स्थावर-जंगम दृश्य उत्पन्न हुआ है उसे तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न हुआ जानो।

व्याख्या—यह भगवान् ने कापिल सांख्य का सिद्धान्त कहा है। वे ही प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं तथा जतने क्षेत्र हैं उतने ही क्षेत्रज्ञ या पुरुष मानते हैं। वेदान्त प्रक्रिया में तो एक ही द्रष्टा और एक ही दृश्य माना गया है। तथा दृश्य की अपनी सत्ता नहीं मानी जाती उसकी उत्पत्ति स्वप्न के समान अनिर्वचनीय है, वास्तविक नहीं।

संगति—अब यह बतलाते हैं कि यथार्थ देखने वाला कौन है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठतं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।।२७।।

भावार्थ— जो सम्पूर्ण भूतों में समान भाव से स्थित और उनका नाश होने पर भी अविनाशी रहने वाले परमेश्वर को देखता है वही वास्तव में देखता है।

व्याख्या— जो सम्पूर्ण भूतों में परमात्मा को स्थित देखता है वही यथार्थ देखता है। जैसे घट में वास्तव में मिट्टी ही है, घट की उत्पत्ति, स्थिति और नाश तीनों कालों में मिट्टी के सिवा और कुछ नहीं है। अतः घट का नाश होने पर भी मिट्टी का नाश नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञान-दृष्टि से जो सम्पूर्ण भूतों का नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं देखता अथवा जो ऐसा देखता है कि कार्य का ध्वंस उसका नाश नहीं है, अपितु उसमें कारण-बुद्धि हो जाना ही उसका नाश है। घट का न रहना उसका नाश नहीं है अपितु उसमें मृत्तिकाबुद्धि हो जाना ही घट का नाश है, क्योंकि मृत्तिका से भिन्न घट की अपनी कोई सत्ता नहीं है, इसी प्रकार जो आत्मा से भिन्न भूतों की सत्ता नहीं देखता वही यथार्थ देखता है। जो उनकी भिन्न सत्ता देखता है वह तो नेत्रहीन है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।।२८।।

भावार्थ—सब में समान रूप से स्थित ईश्वर को जो सर्वत्र सम भाव से देखता है वह अपने आत्मा का स्वयं घात नहीं करता और इस दृष्टि के कारण परम गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

संगति— उपर्युक्त दो श्लोकों में तत्त्ववेत्ताओं की उच्च दृष्टि का निरूपण हुआ है। जो इसके अधिकारी नहीं हैं उनके लिए इससे नीची दृष्टि बतलायी जाती है—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
य पश्चति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।।२९।।

भावार्थ— जो आत्मा को अकर्ता तथा सम्पूर्ण कर्मों को प्रकृति के द्वारा किये जाते देखता है वह भी यथार्थ देखता है।

व्याख्या— यहाँ प्रकृति की सत्ता स्वीकार की गयी है, इसलिये यह दृष्टि पूर्वापेक्षा निम्न कोटि की है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा।।३०।।

भावार्थ— जिस समय तत्त्वज्ञ भूतों के पृथक्-पृथक् भाव को एक आत्मतत्त्व में ही स्थित देखता है और इस सम्पूर्ण प्रपञ्च के विस्तार को भी उसी से हुआ जानता है उस समय वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— जब तक भेद-दृष्टि है तभी तक अज्ञान है; जो अध्यस्त को अधिष्ठान में और अधिष्ठान को अध्यस्त में देखता है वही यथार्थदर्शी है। आकाशादि पाँचों भूत और शब्दादि विषय ये सब ब्रह्मरूप ही हैं, उससे भिन्न इनकी सत्ता नहीं है तथा उसी से इनका विस्तार हुआ है—ऐसा जो देखता है वही यथार्थ देखता है। अथवा जो पृथ्वी को जल में, जल को तेज में, तेज को वायु में, वायु को आकाश में, आकाश को अहंकार में, अहंकार को महत्तत्व में और महत्तत्व को प्रकृति में स्थित देखता है तथा प्रकृति से ही इस सम्पूर्ण प्रपञ्च का विस्तार देखता है वह उसी समय ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। इसी भाव को आगे ३४ वें श्लोक में विशेष स्पष्ट करेंगे।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।।३१।।

भावार्थ— यह परमात्मा (शुद्ध आत्मा) अनादि और निर्गुण होने के कारण अविनाशी है। हे कुन्तीपुत्र! यह शरीर में रहने पर भी न कुछ करता है और न लिपायमान होता है।

व्याख्या— अनादि तो प्रकृति भी है, किन्तु वह निर्गुण नहीं है, इसलिये उसका अन्त होता है, किन्तु आत्मा अनादि और निर्गुण है इसलिए वह अविनाशी है।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।।३२।।

भावार्थ—जिस प्रकार सम्पूर्ण भूतों में स्थिति होने पर भी आकाश सूक्ष्म होने के कारण उनसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार देह में सर्वत्र स्थित होने पर भी आत्मा [उसके दोषों से] लिप्त नहीं होता।

व्याख्या—जैसे धूलि से आकाश मलिन नहीं होता उसी प्रकार शरीर की मलिनता से आत्मा मलिन नहीं होता। इसकी पुष्टि अगले श्लोक में करते हैं।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।३३।।

भावार्थ—जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है उसी प्रकार एक ही क्षेत्रज्ञ सम्पूर्ण क्षेत्र (दृश्य) को प्रकाशित करता है।

व्याख्या—तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार एक ही सूर्य समस्त भिन्न-भिन्न लोकों को प्रकाशित करता है और उनके गुण-दोषों से असंग ही रहता है उसी प्रकार एक ही चिद्घन आत्मा समस्त भिन्न-भिन्न शरीरों को सत्ता-स्फूर्ति देता है, तथापि उनके गुण-दोषों से अलिप्त ही रहता है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।।३४।।

भावार्थ— जो इस प्रकार ज्ञान नेत्रों से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को तथा भूत और प्रकृति से मुक्ति को जानते हैं वे परमपद को प्राप्त हो जाते हैं।

व्याख्या— जो ज्ञान-नेत्र अर्थात् विवेक-दृष्टि से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को तथा भूत (कार्यवर्ग) और प्रकृति (कारण) इन दोनों से मुक्त होने को अर्थात् इनसे पुरुष के सम्बन्धविच्छेद को अथवा

इनके अत्यन्ताभाव को जानते हैं—अनुभव करते हैं, वे परमपद को प्राप्त हो जाते हैं।

यहाँ 'भूतप्रकृतिमोक्षम्' एक ही पद है। तात्पर्य यह है कि पहले क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विभाग करना चाहिये और फिर भूत एवं प्रकृति (कार्य और कारण) का अत्यन्ताभाव देखना चाहिये। यही इनसे मुक्त होना है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥१३॥



ॐ
श्री परमात्मने नमः
श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

संगति—गीता में सभी विषयों का प्रतिपादन है। द्वादश अध्याय में भक्तियोग का वर्णन है और भगवान् के सगुण-साकार विग्रह की प्रधानता है। वहाँ 'मय्येव मन आधत्स्वमयि बुद्धि निवेशय' आदि कहकर भगवान् ने अपनी उपासना और अपने प्रति आत्मसमर्पण को ही मुख्य साधन बताया है। किन्तु तेरहवें अध्याय में सगुणोपासना की कोई चर्चा नहीं है। वहाँ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग के द्वारा पुरुष को अकर्ता-अभोक्ता और दृश्य को गुणमयी प्रकृति का कार्य बतलाया है। तात्पर्य यह कि यदि साधक की किसी भी साधन में सच्ची निष्ठा हो जाय तो उसी से उसे भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

अब इस अध्याय में पहले प्रकृति और प्रकृति के कार्य का विचार किया जायगा। इसके पश्चात् प्रकृति के गुणों से छूटने का उपाय बतलाकर फिर गुणातीत पुरुष के लक्षण बतलाये जायेंगे। इस अध्याय में मानो जीवात्मा की चिकित्सा की गयी है। जिस प्रकार रोग को दूर करने के लिये वैद्य पहले रोग का निदान करता है। फिर रोग का कारण जानकर औषधि और पथ्य का निश्चय करता है। तभी पूर्ण आरोग्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार यहाँ यह विचार किया जायगा कि प्रकृति और पुरुष का संयोग (बन्धन) क्या है? प्रकृति से किस प्रकार छुटकारा हो सकता है? उसके लिये किन नियमों का पालन करना चाहिये? तथा प्रकृति से छूटे हुए पुरुष के क्या लक्षण हैं?

इस प्रकार हम देखते हैं कि बारहवें अध्याय में भक्ति-योग का निरूपण है, तेरहवें में ज्ञान के साधन बतलाये गये हैं और अब इस अध्याय में सब ज्ञानों में उत्तम ज्ञान का वर्णन किया जाता है—

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञनानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धि मितो गताः॥१॥

भावार्थ—श्री भगवान् बोले—अब मैं सम्पूर्ण ज्ञानों में उत्तम ज्ञान का वर्णन करूँगा, जिसे जानकर मननशील जिज्ञासु इस लोक से परम सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त हुए हैं।

व्याख्या— भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं क अब मैं पहले कहे हुए सब ज्ञानों की अपेक्षा उत्तम ज्ञान का वर्णन करूँगा, जिसे प्राप्त करके वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, शुकदेवादि मुनिगण स्वरूप-साक्षात्कार-रूपा परमसिद्धि को प्राप्त हो गये। यहाँ 'ज्ञात्वा' शब्द से ऐसा भाव निकलता है कि भगवान् ज्ञान के साधनों का वर्णन करेंगे, जिनका आचरण करने से मुनिगण मोक्षपद को प्राप्त हुए हैं।

प्रश्न— मुनि के क्या लक्षण हैं?

उत्तर— श्रीमद्भागवत में कहा है—

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ् मुनिः॥

अर्थात् कोई अच्छा या बुरा करे तो उसकी प्रशंसा या निन्दा न करे तथा कहने वाले के जो गुण-दोषों की चर्चा न करे वह समदृष्टि पुरुष मुनि है।

प्रश्न— मुनि की रहनी कैसी होती है?

उत्तर—

न कुर्यान्नवदेर्त्किञ्चन्न ध्यायेत् साध्वसाधु वा।
आत्मारामोऽनया वृत्या विचरेज्जडवन्मुनिः॥

अर्थात् अच्छा बुरा कुछ भी न तो करे, न कहे और न चिन्तन करे। सदा आत्मा में रमण करे। ऐसी वृत्ति से मुनि मूर्ख के समान विचरता रहे।

प्रश्न— साधु के क्या लक्षण हैं?

उत्तर—लक्षण तो बहुत हैं। उपर्युक्त श्लोकों में भी साधु के ही लक्षण हैं। परन्तु सबसे उत्तम बात यह है कि उसे दृश्यमात्र आकाश-कुसुमवत् जान पड़े। वही सन्त है, वही तत्त्ववेत्ता है और वही ज्ञाननिष्ठ है। अथवा जिसे किसी प्रकार की व्यथा न व्यापे वही असली सन्त है। साधु के लिये दीनता सबसे बड़ा दुःख है। उसका भगवान् में प्रेम हो, जन्म-मरण का भय न हो, संसर्ग-दोष से रहित हो, कोई कामना न हो, मित्रादि में आसक्ति न हो तथा एकान्तवासी हो। जिसमें ये लक्षण हों वही पूरा सन्त है।

यहाँ भगवान् ने सर्वोत्तम ज्ञान कहने की बात कही है। ज्ञान तो अनेक प्रकार के हैं; जैसे भौतिक ज्ञान, रसायनिक ज्ञान और शास्त्रज्ञान इत्यादि। किन्तु इनसे मुक्ति नहीं होती। और तत्त्वज्ञान से मुक्ति हो जाती है। इसलिये यही सर्वोत्तम ज्ञान है। अणिमादि सिद्धियाँ भी अनेकों हैं, परन्तु तत्त्वज्ञान को किसी भी सिद्धि की इच्छा नहीं रहती, इसलिये इसे 'परा सिद्धि' कहा है।

संगति— अब अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि इस परा सिद्धि को प्राप्त करने का क्या फल है—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥२॥

भावार्थ—इस तत्त्वज्ञान का आश्रय लेने पर मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए पुरुष सृष्टि होने पर उत्पन्न नहीं होते और प्रलयावस्था में दुःखित नहीं होते।

व्याख्या—'मम साधर्म्यमागताः'—मेरे साधर्म्य अर्थात् समानता को प्राप्त हुए वे लोग, जिस प्रकार सृष्टि के उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में मैं असंग रहता हूँ उसी प्रकार असंग रहते हैं। उन पर इनका कोई प्रभाव नहीं होता। वे सृष्टि होने पर उत्पन्न नहीं होते और जब प्रलयकाल में सौ वर्ष तक तूफान चलता है, सौ वर्ष तक सौ गुने तेज से सूर्य तपता है और सौ वर्ष तक निरन्तर वर्षा होती है तब इन्हें कोई

कष्ट नहीं होता, क्योंकि उन सब कष्टों को ये मरु-मरीचिका के समान असत् देखते हैं।

यहाँ जो 'मम साधर्म्यमागताः' ऐसा कहा है, इससे पूर्णत्व की प्राप्ति सूचित होती है। अतः यह श्लोक ज्ञानपरक है। उपासना के द्वारा भगवल्लोक की प्राप्ति तो हो सकती है, किन्तु भगवत्ता की प्राप्ति नहीं होती। कुछ भेद रहता ही ही है। परन्तु ज्ञान के द्वारा ऐसा नहीं होता। जैसे घटाकाश और मठाकाश का भेद निवृत्त होने पर एक महाकाश ही रहता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण उपाधियों की निवृत्ति होकर एक निरुपाधिक निर्विशेष ब्रह्म ही रहता है। उससे किसी का कोई भेद नहीं रहता, क्योंकि उससे भिन्न किसी की सत्ता ही नहीं है।

संगति— इस पर जिज्ञासु को यह शंका होती है कि यदि कुछ हुआ ही नहीं तो यह प्रतीत क्या होता है। अतः उसे समझाने के लिये सृष्टि की उत्पत्ति का अध्यारोप करते हैं। वास्तव में तो सृष्टि हुई ही नहीं, केवल अध्यारोप से उसका वर्णन किया जाता है।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।३।।

भावार्थ— हे भारत! मेरी यह ब्रह्मरूपिणी माया योनि (गर्भाधान का स्थान) है। उसमें मैं चैतन्यरूप बीज स्थापित करता हूँ। उसी से सब भूतों की उत्पत्ति होती है।

व्याख्या— माया में जो शुद्ध चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है वही उसमें गर्भ स्थापन करना है। उस चिदाभास और माया से युक्त होने पर ही शुद्ध-चेतन ईश्वर कहलाता है और ईश्वर से ही सम्पूर्ण सृष्टि होती है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।।४।।

भावार्थ— हे कौन्तेय! सम्पूर्ण योनियों में जो-जो शरीर होते हैं उनका महद्ब्रह्म योनि (उत्पत्ति-स्थान) है और मैं बीज प्रदान करने वाला पिता हूँ।

व्याख्या—इस प्रकार माया के साथ शुद्ध-चेतन का आध्यामिक सम्बन्ध होने पर ही सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है। माया के बिना शुद्ध-चेतन निष्क्रिय और निर्विकार हैं तथा ब्रह्म के बिना माया सत्ताशून्य है, अतः उनमें अकेला कोई सृष्टिरचना नहीं कर सकता; जैसे केवल अग्नि या केवल लकड़ी होने पर कुछ नहीं हो सकता, जब दोनों का संयोग होने पर आग सुलगती है तभी रसोई पक सकती है।

संगति— अब जीव के बन्धन का कारण बतलाते हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥५॥

भावार्थ— हे महाबाहो! प्रकृति से होने वाले सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण इस अविनाशी जीव को देह में बाँध देते हैं।

व्याख्या— गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है और पुरुष के साथ इसका सम्बन्ध होने का कारण अज्ञान है। ये तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं अर्थात् अज्ञानवश इनकी साम्यावस्था भंग होती है और ये कार्योन्मुख होते हैं तो देही अर्थात् तीनों देहों के अभिमानी जीव को देह के साथ बाँध देते हैं। ये तीनों गुण रस्सी की तीन भानियों के समान हैं। जीव यद्यपि स्वरूपतः अविनाशी है किन्तु देह से बँध जाने पर वह उसके गुणों का आरोप करके अपने को मरने-जन्मनेवाला और सुखी-दुःखी मानने लगा है। चेतन शुद्ध और निर्विकार है तथा प्रकृति अशुद्ध और विकारी है, किन्तु वह पुरुष की सत्ता से ही सब कार्य करती है जैसे कमल सूर्य की सत्ता से हो खिलता है।

प्रश्न— आत्मा तो नित्यमुक्त है, उसे गुणों ने कैसे बाँध लिया?

उत्तर— तीनों देहों का अभिमान होने पर जीव गुणों से बँध जाता है और देहाभिमान छूटने पर उनसे मुक्त हो जाता है यहाँ सत्त्वगुण को भी इसीलिये बाँधने वाला कहा है क्योंकि आगे गुणातीत के लक्षण बतलाने हैं।

संगति— अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि सत्त्वगुण किस प्रकार जीव को बाँधता है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥६॥

भावार्थ— हे निष्पाप! इन तीनों गुणों में सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाशक और दुःखरहित है। वह जीव को सुख और ज्ञान की आसक्ति से बाँधता है।

व्याख्या— सुख की आसक्ति अर्थात् रसास्वाद और ज्ञान की आसक्ति ज्ञानाभिमान। ये भी गुणजनित होने के कारण जीव को बाँधने वाले हैं। यह सुख और ज्ञान का बन्धन दुःख और मोह के बन्धन की अपेक्षा भी सुदृढ होता है, क्योंकि इसमें जीव की गुणबुद्धि होती है, इसलिये वह इससे छूटना नहीं चाहता।

प्रश्न— सुख-संग और ज्ञान-संग बाँधने वाले हैं—इसका क्या भाव है?

उत्तर— साधक जब एकाग्रता का अभ्यास करता है तो उसे बड़ा सुख जान पड़ता है। उसे ही रस कहते हैं। अनेकों साधक इतने में ही अपने को कृतकृत्य मान लेते हैं। अतः उससे असंग न होने के कारण वे वहीं रुक जाते हैं। यह सुखासक्ति का बँधन है। इसी प्रकार अनेकों साधक द्रष्टा-दृश्य-विवेक होने पर ही अपने को ज्ञानी मान बैठते हैं तथा दूसरों को हीन दृष्टि से देखते हैं। यह ज्ञानाभिमान-जनित बन्धन है। ये दोनों परिस्थितियाँ सत्त्वगुण की कार्य होने पर भी हैं बन्धन ही, इनके कारण साधक आगे नहीं बढ़ पाता। इसी से कहा है—'येन त्यजसि तत्त्यज' अर्थात् जिस त्यागाभिमान से सब कुछ त्याग किया है उसे भी त्याग।

संगति— अब रजोगुण किस प्रकार बन्धन है, यह बतलाते हैं—

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥७॥

भावार्थ—रागस्वरूप रजोगुण को तुम तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न हुआ समझो। हे कुन्तिनन्दन! यह जीव को कर्म की आसक्ति में बाँध देता है।

व्याख्या—कर्म में प्रवृत्ति होना रजोगुण है और वह तृष्णा तथा आसक्ति से होती है। कर्म और कर्मफल का आग्रह होना रजोगुण का ही लक्षण है, जो स्वरूपतः राग-रूप ही है। यह अविवेक से बढ़ता है और विवेक से निवृत्ति होता है।

प्रश्न—राग और तृष्णा में क्या अन्तर है?

उत्तर—जो वस्तु प्राप्त हो चुकी है उसका चिन्तन होना राग है और जो प्राप्त नहीं हुई उसका चिन्तन होना तृष्णा है। तथा अप्राप्त वस्तु के लिये प्रयत्न करना कर्म है।

प्रश्न—राग की निवृत्ति कैसे हो?

उत्तर—संसार में मुख्य रोग राग ही है और वह दूर भी राग से ही होता है। सांसारिक वस्तु और व्यक्तियों में राग होना मोह है। सब लोग इसी से बँधे हुए हैं। इसकी निवृत्ति होती है भगवत्प्रेम से। धर्म या कर्मकाण्ड में राग होना श्रद्धा है और भगवान् में राग होना प्रेम है। जब तक भगवान् के सिवा कोई और वस्तु दिखलायी देती है तब तक पूर्ण प्रेम नहीं कर सकते। जब केवल भगवान् ही रह जायें तभी पूर्ण प्रेम समझना चाहिये। परन्तु राग-द्वेष छूटना है कठिन, अतः राग-द्वेषी पुरुषों का संग नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—यदि राग-द्वेषी पुरुषों में ही रहना पड़े तो क्या करे?

उत्तर—जो अविवेकी है उन्हें तो सावधान रहना चाहिये। विवेकी का सम्बन्ध तो अपने शरीर से भी नहीं होता, उस पर उनका क्या प्रभाव पड़ेगा। तथा जो तत्त्वज्ञ हैं उनके लिये तो यह सारा संसार अपना ही संकल्प है। भला, स्वप्नद्रष्टा से कभी स्वप्न-पुरुषों का सम्बन्ध होता है। मनोराज्य के पुरुषों का मन से क्या सम्बन्ध। हाँ, मनोराज्य के पुरुष मनः-स्वरूप तो हो सकते हैं तथा स्वप्न-पुरुष भी स्वप्नद्रष्टा के स्वरूप हो सकते हैं, परन्तु उनका मन या स्वप्नद्रष्टा से सम्बन्ध नहीं हो सकता।

संगति— अब यह बतलाते हैं कि तमोगुण किस प्रकार बन्धनरूप है—

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।।८।।

भावार्थ— हे भारत! तमोगुण को तुम अज्ञान से उत्पन्न और सभी देहधारियों को मोह में डालने वाला समझो। वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा से बाँधता है।

व्याख्या— प्रमाद व्यर्थ चेष्टा को कहते हैं और आलस्य कर्त्तव्य कर्म में ढील करना है ये देहासक्ति से होते हैं और देहासक्ति तमोगुण का कार्य है।

संगति— यहाँ तक तीनों गुणों के बन्धन बतलाये अब गुणों के स्वभाव बतलाते हैं।

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत।।९।।

भावार्थ—हे भारत! सत्त्वगुण सुख में आसक्त करता है, रजोगुण कर्म में लगा देता है और तमोगुण ज्ञान को आच्छादित कर प्रमाद में लगा देता है।

व्याख्या—सत्त्वगुण भजन-साधन से होने वाले रस में आसक्त कर देता है। रजोगुण श्रौत-स्मार्त्त कर्मों में, लोक सेवा में तथा हँसी-दिल्लगी में लगा देता है। तथा तमोगुण विचार-शक्ति को कुण्ठित कर प्रमाद में जैसे शतरंज-ताश आदि खेलना या व्यर्थ समय बिताना आदि में लगा देता है।

ये सुख आदि भी गुणों की प्रधानता आदि के कारण अनेक प्रकार के हैं।

संगति— अब इनके पारस्परिक सम्बन्ध बतलाते हैं—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।।१०।।

भावार्थ—हे भारत! रजोगुण को दबाकर सत्त्वगुण बढ़ता है। तथा सत्त्व और तम को दबाकर रजोगुण एवं सत्त्व और रज को दबाकर तमोगुण की वृद्धि होती है।

संगति—अब अगले श्लोक में सत्त्वगुण की वृद्धि के लक्षण बतलाते हैं।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥११॥

भावार्थ— जिस समय इस शरीर के सब इन्द्रिय द्वारों में प्रकाश और ज्ञान की वृद्धि हो उस समय समझना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ रहा है।

व्याख्या— भाव यह कि जब अन्तःकरण में आनन्द का प्रवाह बहने लगे, सुख-सा मालूम हो, शान्ति का अनुभव हो तथा इन्द्रियाँ शान्त हो जायँ और किसी प्रकार का काम करने की रुचि न हो, किन्तु निद्रा, आलस्य या मोह की भी स्थिति न हो उस समय सत्त्वगुण की वृद्धि तथा रजोगुण-तमोगुण का ह्रास समझना चाहिये।

संगति— अगले श्लोक में रजोगुण की वृद्धि के लक्षण बतलाये जाते हैं—

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥१२॥

भावार्थ—हे भरतश्रेष्ठ! रजोगुण की वृद्धि होने पर लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति और इच्छा—इनकी उत्पत्ति होती है।

व्याख्या—अपनी वस्तु को त्यागने में असमर्थ होना लोभ है। निवृत्ति मार्ग की ओर से उपेक्षा होना, अर्थात् मकान, बगीचा, पाठशाला आदि बनवाना प्रवृत्ति है। एक काम समाप्त होने पर दो काम तैयार रहें, काम छिड़े ही रहें, कर्मप्रवाह से अवकाश ही न मिले— यह कर्मों का आरम्भ है। उपरति का अभाव अशान्ति है, स्वर्गादि अथवा मोक्ष की इच्छा होना भी स्पृहा है। ये पाँचों बातें रजोगुण के कारण होती है। जब ये उत्पन्न हों तो रजोगुण की वृद्धि समझनी चाहिये।

संगति— अब तमोगुण की वृद्धि के लक्षण बतलाये जाते हैं—

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥१३॥

भावार्थ— हे कुरुनन्दन! जब तमोगुण बढ़ता है तब बुद्धि में अप्रकाश, आलस्य, प्रमाद और मोह—ये सब उत्पन्न हो जाते हैं।

व्याख्या— सुख-शून्य होना अनात्मा में आत्मबुद्धि होना, यह अविवेक ही अप्रकाश है। क्रियाशून्य होना अथवा अपने वर्णाश्रमोचित धर्मों का यथा समय पालन न करना अप्रवृत्ति (आलस्य) है। व्यर्थ चेष्टा करना अथवा किसी प्रयत्नपूर्वक करने योग्य कार्यकी उपेक्षा कर देना और न करने योग्य को करने का प्रयत्न करना प्रमाद है। विचारशून्यता, अज्ञान और विपरीत भावना ही मोह है। ये सब तमोगुण के कार्य हैं। जब ये उत्पन्न हों तो समझो तमोगुण बढ़ रहा है।

संगति— यहाँ तक तीनों गुणों की वृद्धि के लक्षण कहे। अब यह बतलाते हैं कि सत्त्वगुण की वृद्धि के समय मरकर मनुष्य किस लोक को प्राप्त होता है—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥१४॥

भावार्थ—जब देहधारी सत्त्वगुण की वृद्धि के समय मरता है तो वह उत्तमविदों (उत्तम आचरण वालों) के निर्मल लोकों को प्राप्त होता है।

व्याख्या—जैसे भारतवर्ष में उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, पंजाब आदि प्रान्त हैं उसी प्रकार उत्तमविदों के लोक ब्रह्मलोक में वैकुण्ठ, साकेत और कैलास आदि हैं। ये सब पुण्यलोक हैं और निर्मल हैं—जरा-मरणादि दुःखों से रहित तथा दिव्य सुख-सामग्री से सम्पन्न हैं। इनमें सत्त्वगुणी पुरुष जाते हैं।

संगति—अगले श्लोक में रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि में मरने वालों की गति का वर्णन करते हैं—

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥१५॥

भावार्थ—रजोगुण की वृद्धि में मरने पर कर्मासक्त पुरुषों में जन्म होता है और तमोगुण के समय मरने वाला मूढ योनियों में उत्पन्न होता है।

व्याख्या—कर्मकाण्डी या उद्योगबहुल लोग ही कर्मासक्त हैं तथा शूद्र, पशु-पक्षी आदि मूढ योनियाँ हैं। तमोगुण में तीन बातों की प्रधानता होती है—अधिक सोना, मादक द्रव्यों का सेवन और ताश-शतरंज आदि खेलना।

संगति—अगले दो श्लोकों में तीनों गुणों के फल और परिणाम बतलाते हैं—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥१६॥

भावार्थ—सुकृत (पुण्य) कर्म का तो सात्त्विक और निर्मल फल है। रजोगुण का फल दुःख है और तमोगुण का फल अज्ञान (हिताहित का ज्ञान न होना अथवा विस्मृति) है।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥१७॥

भावार्थ—सत्त्वगुण से ज्ञान (व्यावहारिक ज्ञान या विवेक) होता है। रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता है तथा तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान ही उत्पन्न होते हैं।

व्याख्या—सात्त्विक पुरुष सब काम विचारपूर्वक करता है। रजोगुण से ऐहिक और पारलौकिक भोगों का लोभ बढ़ता है। तमोगुण से स्त्री-पुत्रादि का रागरूप मोह बढ़ता है। पहले देह में आत्मबुद्धि होती है, फिर स्त्री-पुत्र एवं धनादि की ममता बढ़ जाती है।

संगति—अब इन तीनों गुणों से युक्त पुरुषों की विभिन्न गतियों का वर्णन करते हैं—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥१८॥

भावार्थ—सत्त्वगुणी लोग ब्रह्मलोक आदि ऊपर के लोकों में जाते हैं, रजोगुणी मध्यवर्ती मनुष्य लोक में रहते हैं तथा पाप वृत्ति में रहने वाले तमोगुणी पुरुष नरकादि नीचे के लोकों में जाते हैं।

प्रश्न—ज्ञान का प्रसंग छोड़कर बीच में गुणों के वर्णन की क्या आवश्यकता पड़ी?

उत्तर—गुणों को त्यागना है इसलिये उनके लक्षण और फल जानने आवश्यक थे। इन तीनों गुणों का फल किन्हीं न किन्हीं लोकों की प्राप्ति है।

संगति—अब गुणों के त्याग द्वारा भगवत्प्राप्ति या स्व-स्वरूप की प्राप्ति बतलाते हैं—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥१९॥

भावार्थ—जिस समय द्रष्टज्ञ गुणों से भिन्न और किसी को कर्ता नहीं देखता और अपने को गुणों से परे देखता है उस समय वह मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—जिस समय विवेक करते हुए द्रष्टा कर्ता, कर्म और क्रिया की त्रिपुटी को त्रिगुणमयी देखता है और अपने को उससे भिन्न उसका साक्षीमात्र जानता है उस समय वह गुणों के बन्धन से मुक्त होकर मेरे स्वरूप को अर्थात् स्वस्वरूप को प्राप्त हो जाता है। समष्टि-व्यष्टि दोनों द्रष्टाओं की अभिन्नता ही मद्भाव या पूर्णता है। इस पूर्णता को प्राप्त होकर वह निर्भय हो जाता है।

इस प्रकार सारा प्रपञ्च भिन्न है और द्रष्टा उससे भिन्न एवं असंग है। वास्तव में वह सब भी द्रष्टा की दृष्टि का ही विलास है, सब उसी में है, सब वही है। उससे भिन्न सबका अत्यन्ताभाव है, सब चराचर सृष्टि स्वप्ननगर, मनोराज्य या आकाश-कुसुम के सदृश है। जिसकी ऐसी दृष्टि है वही गुणातीत है। जिस समय द्रष्टा कर्ता-भोक्ता

को अपने से भिन्न अनुभव करता है उसी समय सारी सृष्टि का संहार हो जाता है। किन्तु उपासना में ऐसा नहीं है कि द्रष्टज्ञ अन्य है और कर्ता-भोक्ता अन्य। ज्ञान-मार्ग में ही दोनों का भेद किया जाता है और यह विवेक होने से शरीर का तादात्म्य टूट जाता है। जिस समय यह बोध होता है कि आत्मा अकर्ता अभोक्ता है उस समय सम्पूर्ण चित्तवृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। किन्तु जब तक अपने को कर्ता-भोक्ता या उपासक मानता है तब तक गुणातीत नहीं होता। यह श्लोक बोधपरक है, यही तत्त्वदृष्टि है।

प्रश्न—ठीक है किन्तु मैं यह जानना चाहता हूँ कि शुद्ध स्वरूप का क्या लक्षण है?

उत्तर—शुद्ध स्वरूप ही तुरीय है। उसका लक्षण माण्डूक्योपनिषद् में इस प्रकार किया है—'नान्तः प्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं ना प्रज्ञम्' इत्यादि। 'नान्तः-प्रज्ञम्' यह स्वप्न का निषेध किया। 'न बहिः प्रज्ञम्' यह जाग्रत् का निषेध किया। 'नोभयतः प्रज्ञम्' यह सन्धि का निषेध है। 'न प्रज्ञानघनम्' यह सुषुप्ति का निषेध है। 'न प्रज्ञम्' यह ज्ञान का निषेध है। 'नाप्रज्ञम्' यह अज्ञान का निषेध है। इस प्रकार जिसमें सभी अवस्थाओं का निषेध है वह तुरीय है। उसका क्या लक्षण किया जाय?

संगति— अगले श्लोक में मुक्त का लक्षण बतलाते हैं—

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।।२०।।

भावार्थ—देहधारी जीव देह से उत्पन्न होने वाले इन तीनों गुणों को पार कर लेने पर जनम मरण और वृद्धावस्था के दुःखों से छूटकर अमर पद प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या—प्रश्न—आपने जो कहा कि इन गुणों को पार कर लेने पर पुरुष अमर पद प्राप्त कर लेता है, सो क्या ज्ञान होने पर ही उसे मुक्ति मिल जाती है या शरीर त्यागने पर।

उत्तर—नहीं, शरीर भी रहता है और मुक्त भी हो जाता है। जिस प्रकार मकान बेच देने पर या किसी को दे देने पर मकान बना रहता है, नष्ट नहीं होता, किन्तु मकान वाला उससे मुक्त भी हो जाता है। फिर उसे मकान के टूटने-फूटने पर विक्षेप नहीं होता। इसी प्रकार शरीर भी रहता है और मुक्त भी हो जाता है।

संगति—अब अर्जुन को शंका हुई कि देह रहते हुए पुरुष किस प्रकार गुणों से अतीत हो जाता है, अतः वह शंका करता है।

अर्जुनोवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते।।२१।।

भावार्थ— प्रभो! किन लक्षणों के द्वारा पुरुष इन गुणों से अतीत होता है। उसका कैसा आचरण होता है और किस प्रकार वह इन गुणों से अतीत होता है?

व्याख्या—प्रश्न—जब तक शरीर है कर्म होंगे ही, तो हम कैसे जानेंगे कि वह गुणातीत है, इसको बोध हो गया है। क्या कर्मफल का त्याग करने वाले को ही गुणातीत करते हैं।

उत्तर—कर्म तो स्वयं गुणों के अन्तर्गत है। कर्मफल त्यागने पर भी कर्म तो रहेंगे ही। अतः जिसे ऐसा अनुभव है कि ये कर्म मरु-मरीचिका के जल के समान हैं, इनकी अपनी कोई सत्ता नहीं है वह गुणातीत है। गुणातीत के लक्षण शरीर की क्रियाओं से प्रतीत नहीं हो सकते, क्योंकि यह विषय स्वसंवेद्य है। तथापि अपने आपको पहचानने के लिये भगवान् कुछ लक्षण बतलाते हैं।

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।।

भावार्थ—श्री भगवान् बोले—हे पाण्डुपुत्र! [गुणातीत पुरुष इन गुणों के कार्य] प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह के आने पर उनसे द्वेष नहीं करता और ये न आवें— ऐसी इच्छा नहीं करता।

व्याख्या—वह तीनों गुणों में से किसी में राग या द्वेष नहीं करता, क्योंकि वह इन्हें मरुभूमि के जल के समान असत् समझता है। वह प्रकाश प्रवृत्ति और मोह तीनों अवस्थाओं से असंग और उदासीन रहता है। उसमें न कर्तृत्व रहता है न भोक्तृत्व। अतः उसमें प्रवृत्ति का कर्तृत्व तथा प्रकाश है, किन्तु मोह का भोक्तृत्व न रहने के कारण इनका कोई अर्थ नहीं रहता। देह-दृष्टि से इनकी प्रतीति होने पर भी स्वरूपदृष्टि से उसमें इनका अस्तित्व नहीं रहता। इसी से व्यवहार में यद्यपि उसकी विभिन्न प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं, तथापि ज्ञानदृष्टि से उसमें कोई भेद नहीं होता। यहाँ प्रवृत्ति न रहने का यह भी तात्पर्य है कि उसमें काम-क्रोधादि नहीं रहते।

प्रश्न—क्या ज्ञानी में काम-क्रोधादि नहीं रहते?

उत्तर—बोध दृष्टि से ज्ञानी में काम-क्रोधादि का अत्यनत अभाव है। परन्तु अन्य पुरुषों को उसमें इनकी प्रतीति हो ही सकती है। मैं एक बात कहता हूँ, देखो, जिसमें काम-क्रोधादि दोष रहते हैं वह तो विषयी है और जिसमें ये नहीं रहते वह जिज्ञासु या साधक है। किन्तु बोधवान् तो इन दोनों से परे है। उसे कोई जान नहीं सकता कि वह क्या है और क्या करता है।

प्रश्न—बोध प्रवृत्तिनिष्ठ को भी हो जाता है या केवल निवृत्तिनिष्ठ को ही होता है।

उत्तर--बोध तो जिज्ञासु को होता है। जिसे तीव्र जिज्ञासा हो, वह प्रवृत्तिवाला हो चाहे निवृत्ति वाला उसे बोध हो सकता है। प्रवृत्ति-निवृत्ति तो प्रारब्धाधीन है। इनका बोध से कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न—बोध होने पर निवृत्ति की प्रधानता रहती है या प्रवृत्ति की?

उत्तर—श्री शंकराचार्यजी के मतानुसार तो निवृत्ति की प्रधानता रहती है और लोकमान्य तिलक के अनुसार प्रवृत्ति की। परन्तु मेरा विचार तो ऐसा है कि जिसका जैसा प्रारब्ध होता है उसी के अनुसार वह दोनों में से किसी मार्ग का अनुसरण करने लगता है।

संगति—अब चार श्लोकों में गुणातीत के आचरण बतलाते हैं—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥२३॥

भावार्थ—जो उदासीन (निष्पक्ष व्यक्ति) की तरह रहता हुआ गुणों के द्वारा चलायमान नहीं होता तथा गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं—इस प्रकार वर्तता हुआ जो किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करता [वह गुणातीत है।]

व्याख्या—गुणातीत उदासीन की तरह स्थित रहता है। यदि दो व्यक्तियों में कोई विवाद उपस्थित हो तो वह किसी को बुरा नहीं कहता। तटस्थ होकर साक्षीरूप से देखता रहता है। जैसे नदी के तल में कोई बड़ी शिला पड़ी हो तो उसके ऊपर होकर कितने ही जल, बुद्बुद और फेन आदि चले जायँ उस पर उनका कोई प्रभाव नहीं होता, उसी प्रकार बोध होने पर किसी भ्री प्रकार प्रवृत्ति उसे बोधनिष्ठा से विचलित नहीं कर सकती। इस श्लोक से यह भी निश्चय होता है कि गुणातीत में भी रहते तो हैं, परन्तु वह बोधवान् को उसकी निष्ठा से विचलित नहीं कर सकते। यदि गुण रहते ही नहीं तो गुणातीत के लक्षण भी क्या कहे जाते। अतः यह निश्चय हुआ कि तत्त्ववेत्ता प्रवृति और निवृत्तिसे चलायमान नहीं होता। वह जैसे निर्विकल्प समाधि को देखता है वैसे ही विक्षेप में भी रहता है। वह तीनों गुणों से क्या, क्रियामात्र से ही उदासीन रहता है, क्योंकि वे सब देह-धर्म हैं, इनका आत्मा से तो कोई सम्बन्ध है नहीं। वह दुःखों में उद्विग्न नहीं होता और सुखों की इच्छा नहीं करता। इन्हें इस प्रकार देखता है मानों किसी अन्य के शरीर में हों अथवा वह जो कुछ देखता है सबको मायामात्र समझता है, जैसा कि योगवासिष्ठ में कहा है—'ये केचन जगद्भावा विद्धि मायां मनोमयीम्' अर्थात् जगत् के जितने भी पदार्थ हैं उन्हें मनःकल्पित माया ही मानो।

इस श्लोक में यह बतलाया है कि ठीक-ठीक विवेक होने से ही साधक गुणातीत हो जाता है। इसके लिये समाधि की आवश्यकता नहीं है। यहाँ निष्काम कर्म या उपासना द्वारा अभिमत क्रममुक्ति की भी चर्चा नहीं है। केवल विचार द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति बतलायी है।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।।२४।।

भावार्थ—वह स्वस्वरूप में स्थित हुआ सुख-दुःख में समान दृष्टि रखने वाला होता है। ढेले, पत्थर, और सुवर्ण में उसकी समानदृष्टि रहती है। प्रिय और अप्रिय में वह एक-सा रहता है तथा निन्दा-स्तुति में भी वह वीर-पुरुष समान ही रहता है।

व्याख्या—बाईसवें श्लोक में कहा है कि वह प्रवृत्ति और निवृत्ति में समान रहता है, क्योंकि उसे सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति की इच्छा नहीं रहती। अर्थात् उसकी वृत्ति न सुख में रहती है न दुःख में। शरीर अनात्मा है और सुख-दुःख शरीर के ही धर्म हैं, अतः अनात्म-धर्म होने के कारण इनसे भी आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। इनसे असङ्ग होने के कारण वह समभाव में स्थित रहता है।

प्रश्न—जब वृत्ति सुख-दुःख में नहीं रहती तो कहाँ रहती है?

उत्तर—यहाँ 'समदुःख-सुख' के पश्चात् कहा है 'स्वस्थः' अर्थात् वह अपने में ही रहती है। उस समय आत्मा अपनी महिमा में स्थित रहता है।

वह 'समलोष्टाश्मकाञ्चनः' होता है। अर्थात् ढेले, पत्थर, लोहे और सोने में उसकी समान दृष्टि होती है, न किसी में प्रीति होती है न अप्रीति। इसका यह अर्थ नहीं कि उसे उनका भेद प्रतीत नहीं होता, किन्तु ठीक-ठीक परिचय होने पर भी उसका किसी में राग या द्वेष नहीं होता। अथवा यह समझना चाहिये कि उसकी देह में अहंता नहीं होती। अहन्ता होने पर ही धन संग्रह किया जाता है। वह तो इन सबको मायामात्र देखता है इसलिये उसके लिये ये सब समान ही है। उसकी

किसी में ममता नहीं होती। प्रिय-अप्रिय तथा निन्दा स्तुति में भी उसका समान भाव रहता है। वह स्वस्थ है, सर्वज्ञ है और बुद्धि का प्रेरक है इसलिये धीर भी है। [धियं राति प्रेरयति इति धीरः।]

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।।२५।।

भावार्थ—जो मान-अपमान में समान है, शत्रु और मित्र के पक्ष में सम है तथा सब प्रकार के आरम्भों को त्यागने वाला है, वह गुणातीत कहलाता है।

व्याख्या— वह समान सत्ता में स्थित है, इसलिये मान-अपमान तथा शत्रु-मित्र के पक्ष में तुल्य रहता है। जब दो व्यक्तियों में झगड़ा होता है तो वह किसी का पक्ष नहीं लेता, केवल द्रष्टामात्र रहता है। अनात्मा में आत्मबुद्धि होने से अर्थात् देहात्मबुद्धि होने से ही आरम्भ होता है। उसकी देहबुद्धि है नहीं तो आरम्भ कैसे होगा? अथवा जब सृष्टि की सत्ता ही नहीं तो आरम्भ कैसे होगा? किसमें करेगा? इस प्रकार आरम्भ का न होना ही उसका सर्वारम्भ परित्याग है। मनोराज्य द्वारा भले ही कोई पचास मञ्जिल का मकान बनाये। परन्तु उस मकान के ऊपर, नीचे, बीच में और इधर-उधर आकाश ही तो है और वह मकान भी आकाश से भिन्न और क्या है। मकान की तो सत्ता ही नहीं है, सब आकाशमात्र है। यहाँ जो मकान का आरम्भ है वह मनोमात्र ही तो है। आरम्भ हुआ ही कहाँ। यही उसका सर्वारम्भ-परित्याग है। अतः आरम्भ का त्याग केवल निवृत्तिनिष्ठ ही नहीं करता, सच्चा सर्वारम्भ-परित्यागी तो आत्मनिष्ठ ही है और वही गुणातीत है।

ये गुणातीत के लक्षण स्वयंवेद्य हैं, इन्हें दूसरा कोई नहीं जान सकता। यहाँ संकेतमात्र से इनकी चर्चा की गयी है।

संगति—श्रीभगवान् ने अर्जुन के तीन प्रश्नों में से पहले का उत्तर २२ वें श्लोक से दिया, दूसरे का श्लोक २३, २४ और २५ से

दिया। तथा अब तीसरे प्रश्न का उत्तर देते हैं। अब यह बतलायेंगे कि इस गुणातीत अवस्था को प्राप्त करने का उपाय क्या है। इसके लिये अव्यभिचारिणी भक्ति को ही मुख्य रूप से वर्णन कर रहे हैं।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते।।२६।।

भावार्थ— जो पुरुष अनन्य भक्तियोग के द्वारा मेरा भजन करता है वह इन गुणों को पार करके ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति में समर्थ होता है।

व्याख्या— भक्ति दो प्रकार की होती है—व्यभिचारिणी और अव्यभिचारिणी। आज शिवजी की, कल कृष्ण की, परसों राम की— इस प्रकार जिसकी उपासना बदलती रहती है वह व्यभिचारिणी भक्ति है। ऐसे उपासक का कभी कल्याण नहीं होता और यदि निरन्तर एक इष्ट, एक गुरु, एक मन्त्र और एक शास्त्र रहे तो यह अव्यभिचारिणी भक्ति है। अथवा जो भक्ति इस लोक, परलोक और सिद्धियों के सुख को त्याग कर निष्काम भाव से की जाय वह अव्यभिचारिणी है। उसी को अहैतुकी भक्ति भी कहते हैं। अथवा 'उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं', इस उक्ति के अनुसार जिसकी दृष्टि में अपने इष्ट के सिवा दृश्य की कोई सत्ता ही नहीं है, जिसे सम्पूर्ण प्रपञ्च इष्टमय प्रतीत होता है उसकी भक्ति अव्यभिचारिणी है। इसे ही अनन्य भक्ति भी कहते हैं, क्योंकि यहाँ अन्य का अत्यन्ताभाव है। जो ऐसी भक्ति करता है वह ब्रह्मभाव को प्राप्त होने में समर्थ होता है। वह भक्त पूर्ण परिपक्व होने पर सगुण भाव को पार करके निर्गुण ब्रह्मभाव प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार भक्ति करते-करते जब वैराग्य होगा तब विचार द्वारा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होगी।

संगति— यहाँ उपासना को साधन और ज्ञान को फल बतलाया है। यह श्लोक सगुण परक है। आगे इसी की पुष्टि करते हैं—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।।२७।।

भावार्थ—क्योंकि जो अमृत, अव्यय, शाश्वत, धर्मस्वरूप और एकमात्र सुखस्वरूप ब्रह्म है उसकी मैं प्रतिष्ठा हूँ।

व्याख्या— टीकाकारों ने इस श्लोक के कई प्रकार के अर्थ किये हैं। कोई इसे सगुण-परक लगाते हैं, कोई निर्गुण-परक। विवाद का मुख्य विषय 'प्रतिष्ठा' शब्द है। यदि प्रतिष्ठा का अर्थ उपलब्धि स्थान लिया जाय तो सगुण-परक अर्थ सुसंगत होगा और यदि इसका अर्थ आधार या अधिष्ठान लिया जाय तो निर्गुणपरक अर्थ की संगति लग सकेगी। यहाँ ऊपर से सगुणोपासना का प्रसंग चल रहा है। अतः अधिक उपयुक्त सगुणपरक अर्थ ही होगा। अब दोनों अर्थों का उल्लेख करते हैं—

यहाँ 'अमृतस्य' आदि सभी विशेषण षष्ठ्यन्त हैं, अतः इनका सम्बन्ध 'ब्रह्मणः' पद के साथ होगा। वह इस प्रकार—'अमृतस्य (अविनाशी), अव्ययस्य (अविकारी), शाश्वतस्य (नित्य), धर्मस्य (धर्मस्वरूप) ऐकान्तिकस्य (अखण्ड एकरस या एकमात्र) सुखस्य (सुख-स्वरूप) ब्रह्मणः (ब्रह्मकी) अहम् (मैं श्रीकृष्ण) प्रतिष्ठा (उपलब्धि स्थान) हूँ।'

निर्गुण-परक अर्थ में 'ब्रह्मणः' शब्द का अर्थ होगा श्याम ब्रह्म श्रीकृष्ण और 'अहम्' पद का अर्थ होगा अहमर्थ शुद्ध साक्षी। साक्षी ही सम्पूर्ण प्रपञ्च का अधिष्ठान है, अतः सगुण ब्रह्म श्रीकृष्ण का अधिष्ठान भी वही है। इस दृष्टि से निर्गुणवादी टीकाकार इसका निर्गुण-परक अर्थ करते हैं।

अब मैं अपना विचार कहता हूँ। भगवान् कह चुके हैं कि निर्विशेष ब्रह्म की प्राप्ति का साधन मैं सविशेष ब्रह्म हूँ। इसीलिये वे कह रहे हैं कि उस निर्विशेष की प्रतिष्ठा (आश्रय या उपलब्धिस्थान)

मैं सविशेष ब्रह्म (श्रीकृष्ण) हूँ। यद्यपि निर्विशेष ही सविशेष की प्रतिष्ठा हो सकता है, तथापि उसकी उपलब्धि का मुख्य साधन होने के कारण भगवान् ने सविशेष को ही निर्विशेष की प्रतिष्ठा बतलाया है। इसका यह भी कारण हो सकता है कि अर्जुन को ऐसी शंका न हो जाय कि हमें जब आपका निर्विशेष स्वरूप प्राप्त करना है तो हम आपकी उपासना क्यों करें।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥१४॥



ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

अथ पञ्चदशोऽध्याय:

संगति—पिछले अध्याय में यह बतलाया गया है कि जो पुरुष भगवान् के साकार या निराकार स्वरूप की उपासना करता है वही गुणातीत हो सकता है। अतः भगवान् की उपासना ही गुणातीत होने का उपाय है। इस प्रकार चौदहवें अध्याय में गुणातीत के लक्षण, आचार और साधन बताये गये। अब पन्द्रहवें अध्याय में यह बतलावेंगे कि किस प्रकार तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। यह अध्याय अत्यन्त महत्वपूर्ण है और गीता का सार है। पहले दो श्लोकों में संसाररूपी वृक्ष का निरूपण करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥१॥

भावार्थ— जिसकी जड़ ऊपर की ओर है और शाखाएँ नीचे की ओर हैं ऐसा यह संसाररूप वृक्ष अविनाशी कहा गया है। [कर्मकाण्ड रूप] वेद उसके पत्ते हैं। जो इस वृक्ष को जानता है वह वेद को जानता है।

व्याख्या— सब वृक्षों की जड़ता नीचे की ओर होती है और शाखा ऊपर की ओर। किन्तु इस संसार वृक्ष की यह विलक्षणता है कि इसकी जड़ ऊपर की ओर और शाखा नीचे की ओर बताये गये हैं, क्योंकि आत्मा से सबसे पहले अव्यक्त (प्रकृति) हुई और उससे महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंकार और अहंकार से क्रमशः आकाशादि पञ्चभूत हुए। इस प्रकार इसका मूल परमात्मा सबसे ऊपर है तथा और सब नीचे की ओर हैं। इसी से ऊर्ध्वमूल और अधःशाखा कहा है। इस वृक्ष को

अश्वत्थ अर्थात् कल न ठहरने वाला कहा है, क्योंकि वह क्षणभंगुर है, इसका एक क्षण का भी विश्वास नहीं है। कहा भी है–

जेहि जानत जग जाय हिराई। जागे जथा सुपन भ्रम जाई।।

अर्थात् इसको तत्त्वतः जानने पर यह एक क्षण में नष्ट हो जाता है। फिर भी इसे अव्यय या अविनाशी कहा है, क्योंकि इसका प्रवाह समाप्त नहीं होता। अनादि काल से इसकी परम्परा इसी प्रकार चली आ रही है। अथवा इसका मूल परमात्मा अविनाशी है, इसलिये यह वृक्ष भी अविनाशी है। अथवा ज्ञान होने पर भी अज्ञान ही का नाश होता है, संसार का नहीं। यह तो ज्यों-का-त्यों बना रहता है, केवल ज्ञानदृष्टि से ही इसकी सत्ता नहीं रहती।

इसका जानना यही है कि इसकी उत्पत्ति मायिक है, जैसे कि अध्याय ८ श्लोक १८ में कहा है 'अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्ति।' अव्यक्त माया से उत्पन्न हुआ मन भी अव्यक्त है और यह सृष्टि मनोमयी है। अतः इसे मनोमात्र जानना ही इसे जानना है। जैसे नीम का बीज कड़वा होता है तो उससे उत्पन्न हुए वृक्ष के पत्ते, छिलके, लकड़ी आदि भी कड़वे ही होते हैं। संसार का मूल परमात्मा है, अतः यह भी परमात्मस्वरूप ही है। श्रुति कहती है– 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।' इस प्रकार जो तत्त्वतः इसे भगवत्स्वरूप जानता है वही वेद को जानने वाला है, क्योंकि वेद का चरम तात्पर्य यही है।

प्रश्न—वेदवित् तो भगवान् को जानने पर होना चाहिये, जो संसार को जानता है उसे वेदवित् क्यों कहा?

उत्तर—जाना तो संसार ही जाता है, स्वस्वरूप तो जाना नहीं जाता। जिसका यह अनुभव है संसार मुझसे भिन्न, मुझमें है, सब कुछ मैं ही हूँ, सबका अत्यन्ताभाव है, केवल मैं ही हूँ वही संसार को जानता है और वही वेदवित् है।

प्रश्न—सबका अत्यन्ताभाव है, इसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—घट-पट आदि पदार्थों के अभाव का तो भास होता है, किन्तु दृश्य के अभाव का भास नहीं होता। इसलिये उनके अभाव

को तो प्रागभाव आदि कहा गया है किन्तु दृश्याभाव को तो अत्यन्ताभाव कहा जाता है। व्यावहाकरिक दृष्टि से दृश्य का कभी अभाव नहीं होता, किन्तु विचार दृष्टि से वह कभी हुआ ही नहीं। जो कभी हुआ नहीं उसका अभाव भी कैसे होगा। अभाव का भी अभाव होने के कारण उसका अत्यन्ताभाव है। इसकी प्रतीति नहीं होती; अनुभूति होती है और ऐसी अनुभूति होने पर त्रिपुटी का अभाव होकर सब कुछ अपना ही स्वरूप जान पड़ता है।

प्रश्न—प्रतीति और अनुभूति में क्या अन्तर है?

उत्तर—प्रतीति इन्द्रियों द्वारा होती है और अनुभूति अपने द्वारा। इसलिये प्रतीति का विषय सभी को भासता है अनुभूति अपने को ही भासती है। अर्थात् जो वस्तु सबको एक साथ भासे उसे प्रतीति कहते हैं, जो अपने आपको ही भासे उसे अनुभव कहते हैं।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।।२।।

भावार्थ—इस संसार-वृक्ष की शाखाएँ तीनों गुणों से वृद्धि को प्राप्त हुई हैं तथा वह विषयरूप कोंपलों से युक्त हो अतल-वितल आदि नीचे के और भूर्भुवः आदि ऊपर के लोकों में फैली हुई हैं। इसकी कर्मानुबन्धिनी जड़ें मनुष्य लोक में नीचे तक फैली हुई हैं।

व्याख्या—पहले श्लोक में इस संसार-वृक्ष को ऊर्ध्वमूल कहा है और इसमें इसकी जड़ें मनुष्य लोक में नीचे तक फैली बतलायीं। इसका भाव है कि वास्तव में इसकी कोई जड़ नहीं है, इसकी शाखएँ ही जड़ हैं। जड़ें सकाम कर्मरूप पत्तों से सुदृढ़ होती हैं, क्योंकि सकामकर्म ही जीव को बाँधते हैं। कर्म मनुष्य लोक में ही होते हैं, अन्यत्र नहीं। इसीलिये मनुष्य लोक में ही इन्हें फैली हुई कहा है।

संगति—अब वृक्ष को काटने का उपाय बतलाते हैं –

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।।३।।
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।४।।

भावार्थ—किन्तु (विचार करने पर) इस वृक्ष का वैसा रूप मिलता नहीं। न इसके आदि-अन्त और किसी आधार का ही पता चलता है। इस दृढ मूल वाले अश्वत्थ वृक्ष को असंगतारूप दृढ़ शस्त्र से छेदन कर फिर उस पद की खोज करनी चाहिये जहाँ जाकर फिर नहीं लौटते। मैं उस आदि पुरुष की ही वन्दना करता हूँ, जिससे इस प्राचीन प्रवृत्ति का विस्तार हुआ।

व्याख्या—इस संसार-वृक्ष के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि ज्ञान तो किसी अन्य का होता है। संसार की तो कोई अन्य सत्ता नहीं है। भाव वस्तु स्वसत्ता से भिन्न नहीं होती, इसलिए इसका कोई आदि-अन्त और आधार भी दिखायी नहीं देता। इसकी जड़ें भी बहुत दृढ़ हैं, इसलिये इसे काटना बड़ा कठिन है। अतः विवेकवती बुद्धि के द्वारा असङ्गतारूप सुदृढ़ शस्त्र से इसका छेदन करना चाहिये।

प्रश्न—बोध होनेपर असंगता के अभ्यास की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—आत्मा बोध स्वरूप है—ऐसा अनुभव हो जाने पर भी आनन्द का अनुभव असंगता का अभ्यास किये बिना नहीं होता। अतः ब्रह्मानन्द न मिलने के कारण चित्त विषयानन्द से विमुख नहीं होता। विषयों का आकर्षण जन्म-जन्मान्तर का है, वह केवल बोध से निवृत्त नहीं होता। उसकी निवृत्ति के लिये असंगता का अभ्यास बहुत आवश्यक है। उससे आत्मानन्द की दृढ़ता होकर विषयों का आकर्षण भी निवृत्त

हो जाता है। फिर यह स्पष्ट अनुभव होने लगता है कि यह चराचर दृश्य मरुभूमि के जल के समान है और मैं इसका दृष्टा हूँ। जब यह अभ्यास सुदृढ़ हो जाता है तो स्वप्न में भी वही भाव रहता है। जो मनुष्य माँस नहीं खाता वह स्वप्न में भी माँस-भक्षण नहीं करता। जो सच्चा ब्रह्मचारी है वह स्वप्न में भी स्त्री सेवन नहीं करता। परन्तु ऊपरी बातें बनाने वालों पर तो थोड़ी-सी भी आपत्ति आ जाय तो सब ज्ञान भूल जायेंगे। सच्चा ज्ञान तभी समझना चाहिये जब सिर पर दुखों का पहाड़ टूट पड़े, तब भी अपनी निष्ठा में कोई अन्तर न आवे।

यह असङ्गता दो प्रकार की है—देह से और गेह से। मैं पञ्चकोशों से अतीत हूँ—ऐसा अनुभव करना देह से असङ्गता है तथा घर छोड़कर संन्यास ले लेना गेह से असङ्गता है।

इस प्रकार त्वं पद का शोधन तो हुआ। अब चौथे श्लोक से तत्पद का शोधन करते हैं। इस संसार-वृक्ष का असङ्ग-शस्त्र द्वारा छेदन करने के पश्चात् इस पद की खोज करनी चाहिये जहाँ जाकर फिर नहीं लौटते। वह पद है भगवान्। भगवान् क्या हैं, कहाँ हैं—ऐसा जानने की इच्छा ही उनकी खोज है। इस अवस्था में गुरुदेव महावाक्य का उपदेश करते हैं। उसीसे उस पद की प्राप्ति होती है, जहाँ से लौटकर फिर संसार-चक्र में नहीं आता।

संगति— उसके पश्चात् जिज्ञासु की जो स्थिति होती है वह अगले श्लोक में बतलाते हैं —

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताःसुख-दुखसञ्ज्ञै
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥५॥

भावार्थ— जो मान और मोह से रहित हैं, जिन्होंने आसक्ति रूप दोष को जीत लिया है, जो निरन्तर आत्मविचार में लगे हुए हैं, जिनकी कामनाएँ दूर हो गयी हैं और जो सुख-दुःखरूप द्वन्द्व से मुक्त हो चुके हैं वे विचारशील पुरुष ही उस पद को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—'निर्मानमोहा:' अभिमान और मोह से रहित अर्थात् सर्वदा साधक भाव में रहने वाले, सिद्धि के अभिमान से दूर रहने वाले 'जितसंगदोषा:'— स्त्री-पुत्रादि की ममता और संसार की आसक्ति से शून्य हो जाने पर भी प्रपञ्च की प्रतीति तो रहेगी ही, उसमें आसक्ति न हो इसलिये कहा—'जितसंगदोषा:'। फिर 'अध्यात्मनित्या:' कहकर सूचित करते हैं कि इस अनासक्ति के लिये यह आवश्यक है कि सर्वदा आत्मविचार में लगा रहे। इससे साधक 'विनिवृत्तकामा:' अर्थात् कामनाहीन हो जायँगे तथा सुख-दु:खरूप द्वन्द्व भी नहीं रहेंगे। ऐसे 'अमूढा' मूढताहीन विचारशील पुरुष ही उस अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं।

अथवा जो असंग-शस्त्र से संसार वृक्ष का छेदन कर चुके हैं, वे मान-मोह से रहित होते हैं। मान-मोह से रहित होने पर वह संग-दोष को जीत लेते हैं। संग-दोष को जीत लेने पर वे निरन्तर अध्यात्मविचार में संलग्न रहते हैं। इससे उनकी सब कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं और पूर्ण निष्काम हो जाने पर सुख-दु:ख रूप द्वन्द्वों का प्रभाव भी नहीं पड़ता। ऐसे विचारशील पुरुष ही उस परम पद को प्राप्त कर सकते हैं।

प्रश्न—संसार को मिथ्या जान लेने पर भी इसमें आसक्ति क्यों हो जाती है? यह जान लेने पर कि हाथी कागज का है फिर उसका तो कोई आकर्षण नहीं रहता।

उत्तर—नकली हाथी की आसक्ति छूटकर तो असलीहाथी में हो जाती है, परन्तु संसार को मिथ्या जान लेने पर भी उसकी आसक्ति इसलिये नहीं छूटती कि आत्मा निरालम्ब पद है, चित्त संसार से उपरत हो जाने पर भी अकस्मात् उसकी प्रवृत्ति दृश्य की ओर ही होती है। इसकी आसक्ति तभी छूट सकती है जब आत्मा में आसक्ति हो। इसलिये निरन्तर अभ्यास में लगे रहने की बहुत आवश्यकता है।

प्रश्न— अभ्यास करने की आवश्यकता कब तक है?

उत्तर—अभ्यास को कभी छोड़े नहीं। ऐसा अभ्यास करे कि और सब छूट जाय तथा आत्मा में आसक्ति हो जाय। अथवा ऐसा अनुभव होने लगे कि शरीर की सब चेष्टाएँ मानो परप्रेरित ही हो रही हैं।

संगति—अब उस अविनाशी पद का स्वरूप बतलाते हैं—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥६॥

भावार्थ— उस स्वयं प्रकाश पद को सूर्य प्रकाशित नहीं करता और न चन्द्रमा या अग्नि ही प्रकाशित करते हैं। जहाँ जाने पर फिर नहीं लौटते वही मेरा परम धाम है।

व्याख्या—सूर्य सम्पूर्ण जगत् का प्रकाशक होने पर भी उस पद को प्रकाशित नहीं कर सकता, क्योंकि स्वयंप्रकाशस्वरूप है तथा और सब भी उसी से प्रकाशित होते हैं। उस परम पद को प्राप्त होने पर इसलिये नहीं लौटते क्योंकि असंगशस्त्र से सबका छेदन करके ही तो उसे प्राप्त होते हैं। अतः इसमें उनकी कोई आसक्ति या वासना नहीं रहती। अथवा अभेद होने के कारण स्वस्वरूप से उसका कोई भेद भी नहीं रहता। जन्म तो उसी का होता है जो कर्त्ता-भोक्ता हो और कर्ता-भोक्ता तभी तक रहता है जब तक विवेक न हो। विक होने पर तो जिसके कारण अपने में कर्ता-भोक्तापन की भ्रान्ति होती है वह बुद्धि भी दृश्य के अन्तर्गत आ जाती है। इसीसे फिर नहीं लौटना पड़ता।

संगति—यदि यह शंका हो कि अखण्ड सच्चिदानन्द में तो जीवादि की सुष्टि होनी सम्भव ही नहीं है, तो इसका समाधान अगले श्लोक से किया जाता है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥७॥

भावार्थ— इस जीव लोक में मेरा सनातन अंश ही जीवात्मा है, जो प्रकृति में स्थित मनसहित छहों इन्द्रियों को खींच लेता है।

व्याख्या—प्रश्न—जो ब्रह्म ब्रह्माण्ड-साक्षी था वह पञ्च कोशों का साक्षी जीव कैसे हो गया?

उत्तर— ईश्वर और जीव की शक्तियों में भेद है, स्वरूप में नहीं। ईश्वर सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ। इसीसे इनमें अंशांशी भाव माना गया है। यह भेद मायिक उपाधि के कारण है। जो वास्तविक शुद्ध स्वरूप है उसमें कोई भेद नहीं है। जैसे आकाश एक होने पर भी मठ और घट की उपाधि से उनमें भेद की प्रतीति होने लगती है तथा उनके मठाकाश-घटाकाश ये भिन्न-भिन्न नाम भी पड़ जाते हैं।

प्रश्न— जीवलोक से यहाँ क्या तात्पर्य है?

उत्तर— जो जीव के अनुभव में आता है, वही जीवलोक है। अथवा जीव की सृष्टि ही जीवलोक है। यहाँ सत्रह तत्त्वों के बने सूक्ष्म शरीर को ही 'जीव' कहा है, साक्षी को नहीं, क्योंकि साक्षी तो कूटस्थ है, उसमें आना-जाना नहीं है। सूक्ष्म शरीर में मन की प्रधानता है। वही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है और वही इस जीवात्मा को विभिन्न योनियों में ले जाता है। जीव को अपना सनातन अंश इसलिये कहा, क्योंकि वास्तव में तो कोई भेद है नहीं यह अंशांशी भाव तो घटाकाश-मठाकाश के समान केवल औपाधिक है।

प्रश्न— यदि जीव और ईश्वर में अभेद है तो जीव दुःखी क्यों रहता है?

उत्तर— मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकृति के अन्तर्गत हैं। ये जीव को विषय-भोगों में ले जाकर दुःखी बना देती हैं।

संगति— अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि जीव किस प्रकार जाता है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥८॥

भावार्थ—जब देह का स्वामी जीवात्मा प्राप्त शरीर का त्याग कर अन्य शरीर में जाता है तब वह इन (मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियों को इसी प्रकार ले जाता है जैसे वायु गन्ध को उसके आशय (आश्रय पुष्प) से।

व्याख्या— यहाँ 'ईश्वर' शब्द से जीव ही समझना चाहिये। शरीर का स्वामी होने के कारण उसे ईश्वर कहा है।

श्रोत्रं चक्षु स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।९।।

भावार्थ— यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना और घ्राण इन्द्रिय तथा मन का आश्रय लेकर विषयों का सेवन करता है।

व्याख्या— यह स्वयं कुछ भी नहीं भोग सकता। मन और इन्द्रियों के द्वारा ही इसका सारा भोग होता है। यदि यह इनसे असंग हो जाय तो फिर विषयों का कोई आकर्षण नहीं रहेगा, फिर तो अनुकूल-प्रतिकूल सभी परिस्थितियों में साम्य हो जायगा।

संगति— अगले श्लोक में ज्ञानी और अज्ञानी के भोग का अन्तर बताते हैं।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।।१०।।

भावार्थ— उठते-बैठते तथा खाते-पीते समय अज्ञानी लोग अपने को गुणों से युक्त नहीं देखते, किन्तु जो ज्ञान-नेत्र वाले हैं वे देखते हैं।

व्याख्या— विवेकी पुरुष तो शरीर को उठने-बैठने अथवा खाने-पीने की क्रियाओं के समय उन्हें साक्षीभाव से गुणों के द्वारा प्रेरित देखते हैं, किन्तु अज्ञानी विवेकहीन होने के कारण अपने को ही कर्ता-भोक्ता मान कर ऐसा नहीं देखते। कोई-कोई लोग 'उत्क्रामन्तम्' का अर्थ 'देह त्याग करते समय' भी करते हैं, परन्तु वह ठीक नहीं, क्योंकि 'भुञ्जानम्' पद से यह सूचित होता है कि यह जीवितावस्था की ही बात है। 'गुणान्वितम्' से भी यही सूचित होता है कि गुणों के व्यापार के समय की ही यह स्थिति है। सारांश यह कि अज्ञानी उठते-बैठते तथा खाते-पीते समय यह देखता है कि मैं ही ये सब क्रियाएँ कर रहा हूँ और बोधवान् उन्हें गुणों का व्यापार समझते हुए अपने को अकर्ता-अभोक्ता देखता है। ज्ञान-चक्षु से देखने वाला

ही ज्ञानी है। विवेकवती बुद्धि ही ज्ञान-चक्षु है और यही तीसरा नेत्र कहा जाता है।

प्रश्न— ऐसा कहते हैं कि मरु भूमि का ज्ञान होने पर भी उसमें जल की प्रतीति हेती ही है, उसी प्रकार ज्ञान होने पर भी संसार की प्रतीति होती रहती है; क्या यह बात ठीक है?

उत्तर— ऐसा कहना भी पूर्ण बोध नहीं है। पूर्णता तो यह है कि वास्तव में उस प्रतीति का भी अत्यन्ताभाव है। अर्थात् यह प्रतीति भी न रहे। प्रतीति का अभाव इसलिये है कि वास्तव में प्रतीति भी तो अपना स्वरूप ही है। मरुभूमि में जो जल की प्रतीति होती है वह भी मरुभूमि में तो है नहीं, वह भी अपने अन्तःकरण ही में है। इसी प्रकार संसार की प्रतीति भी अन्तःकरण में ही है, आत्मा में नहीं। आत्मदृष्टि से तो सब आत्मा ही है। जिस प्रकार मरुभूमि में जल कभी उत्पन्न नहीं हुआ उसी प्रकार आत्मा में संसार कभी उत्पन्न नहीं हुआ। उसकी केवल प्रतीति ही होती है और यह भी विवेक-काल में ही, बोध होने पर तो प्रतीति भी बाधित हो जाती है। अतः यह कहना कि संसार नाम-रूप है, ठीक नहीं। प्रतीति हो, किन्तु उसकी सत्ता न रहे – इसे ज्ञान कहते हैं और प्रतीति तथा सत्ता दोनों ठीक हैं– ऐसा कहना अज्ञान है। किन्तु प्रतीति का अभाव तो अभ्यास से होता है और अभ्यास कर्ता के द्वारा ही हो सकता है। किन्तु ज्ञान होने पर कर्ता रहता नहीं, इसलिये ज्ञान से प्रतीति नष्ट नहीं होती, केवल बाधित होती है। अतः सिद्धान्त तो यही है कि ज्ञान होने पर प्रतीति का भी अत्यन्ताभाव हो जाता है। यदि प्रतीति का अभाव या बाध न हो तो समझो कि बोध नहीं हुआ।

संगति— अब यह बतलाते हैं कि ज्ञान सबको क्यों नहीं होता?

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥११॥

भावार्थ— योगिजन प्रयत्न करने पर इस आत्मा को अपने अन्तःकरण में देखते हैं, किन्तु जो अशुद्धचित्त अज्ञानी हैं वे तो यत्न करने पर भी इसे नहीं देख पाते।

व्याख्या— योगी—यहाँ— भक्तियोगी या निष्काम कर्मयोगी समझने चाहिये। वे ही प्रयत्न करने पर आत्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं। किन्तु जो 'अकृतात्मा' (अशुद्ध चित्तवाले) अचेतस् (अज्ञानी) हैं वे चाहे कितना ही प्रयत्न करें उसे देख नहीं सकते। हाँ, कोई कितना ही पापी हो यदि अनन्यभाव से मेरी उपासना में लग जाय तो उसे आत्मा का दर्शन हो सकता है। तात्पर्य यह कि निष्काम कर्म या उपासना से अन्तःकरण शुद्ध हो जाने पर ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है? जो ईश्वर या गुरु में श्रद्धा रखते हैं और उनकी निष्काम-भाव से सेवा करके उनके कृपापात्र हुए हैं वे ही ज्ञान के सच्चे अधिकारी हैं। जिनके मल-विक्षेप निवृत्त हो गये हैं, केवल आवरण मात्र शेष हैं वे कृतोपास्ति ही योगी हैं, उन्हीं को बोध प्राप्त होता है। यह बात अध्याय ४ के श्लोक ३९ में भी कह आये हैं।

परन्तु अध्याय १४ में तो यही सिद्ध किया है कि ज्ञान केवल विचार से ही होता है; उसके लिये कर्म या उपासना की आवश्यकता नहीं है। आजकल लोगों को इसलिये भी ज्ञान नहीं होता कि वे इसके द्वारा कुछ बनाना-बिगाड़ना चाहते हैं। जिनका ऐसा दृष्टिकोण है उन्हें तीनों कालों में कभी ज्ञान नहीं हो सकता। कोई-कोई तो ऐसा प्रश्न करते हैं कि यदि ज्ञान होने पर केवल सत्तामात्र ही रह जाती है तो उससे हमें क्या मिला। वे तो चाहते हैं कि कुछ मिल जाय, किन्तु यहाँ तो जो कुछ है उसको भी खोना पड़ता है। जब तक सबको न खोओगे, कुछ भी पास रख लोगे तब तक ज्ञान नहीं हो सकता। जो लोग ऐसा मानते हैं कि ज्ञान से हमें कुछ नहीं मिला वे बड़ी भूल में हैं। उन्हें इतनी बातें तो प्रत्यक्ष प्राप्त होती हैं —

१. अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों की दैवी या आसुरी वस्तुओं का कोई आकर्षण नहीं रहता।
२. दुःख उपस्थित होने पर इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि यह किस प्रकार निवृत्त होगा।

३. वर या शाप की चिन्ता नहीं रहती।
४. सारे प्रपञ्च को मरुमरीचिका जान लेने से उसका आकर्षण निवृत्त हो गया तथा जीवत्व की निवृत्ति हो गयी।
५. जिन पदार्थों के लिये हम दीन थे और जिन्हें सत्य मानकर प्राप्त करने के लिये लालायित थे उन्हें मिथ्या निश्चय करके उनके आकर्षण से बच गये।
६. स्वर्ग या नरक की चिन्ता स्वप्न में भी नहीं होती।
७. संसार का अस्तित्व नहीं रहा, अत: उसकी चिन्ता छूट गयी।
८. पाप-पुण्यरूप क्रियाएँ हो जाने पर भी उनका फल नहीं होता।

संगति—आगे चार श्लोकों से भगवान् अपनी सर्वरूपता बतलाते हैं। अहंग्रहोपासकों के लिये ये उनकी उपासना के संकेत भी हैं।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥१२॥

भावार्थ—जो सूर्यान्तर्गत तेज सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा और अपने में है वह मेरा ही तेज समझो।

व्याख्या—सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि में जो तेज है, जो कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, वह मेरा ही है। वह मुझसे भिन्न नहीं है, मेरा ही स्वरूप है—ऐसा जानो। ऐसा भाव होने से साधक को यह चिन्ता नहीं होती कि मैंने यज्ञादि नहीं किये, क्योंकि वह देखता है कि सब कुछ करने वाला तो मैं ही हूँ।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥१३॥

भावार्थ—मैं पृथ्वी में प्रविष्ट होकर अपनी शक्ति से सब प्राणियों को धारण करता हूँ तथा अमृतमय चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण औषधियों का पोषण करता हूँ।

व्याख्या—जिस प्रकार जल और वायु दो वस्तुएँ नहीं है, जल को बादल रूप में वायु धारण किये रहता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणियों को मैं धारण किये हुए हूँ और उनसे तत्त्वत: भिन्न भी नहीं हूँ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥१४॥

भावार्थ— मैं वैश्वानर अग्नि होकर प्राणियों के देह में स्थित हो प्राण और अपान से मिलकर उनके लाये हुए चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ।

व्याख्या—चार प्रकार के अन्न—भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य। अथवा पृथ्वी, जल, तेज और वायु, जो विराट् भगवान् के अन्न हैं। इस प्रकार जड़-चेतन सब मैं ही हूँ।

प्रश्न— जो वस्तु जड़ होती है वह चेतन नहीं हो सकती। अतः यह कैसे सम्भव है कि जड़-चेतन सब मैं ही हूँ?

उत्तर— जैसे नख जड़ (निर्जीव) है, किन्तु वे चेतन (सजीव) शरीर से भिन्न नहीं है,* उसी प्रकार मैं चराचर जगत् से भिन्न नहीं हूँ। 'सब मैं हूँ' ऐसी भावना करना उपासना है और ऐसा अनुभव करना ज्ञान है। परन्तु ऐसा अनुभव होने पर सब नहीं रहता, 'मैं' ही रह जाता है, इसलिये वह कहेगा किससे।

संगति— उपर्युक्त श्लोक में भगवान् ने अपनी सर्वरूपता दिखलायी है। इसी की पुष्टि अगले श्लोक से करते हैं—

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥१५॥

भावार्थ— मैं सबके हृदय में स्थित हूँ। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अज्ञान होते हैं। सम्पूर्ण वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ। मैं ही वेदान्त का उपदेश करने वाला और वेदवेत्ता भी हूँ।

---

*इसके लिए दूसरा दृष्टान्त स्वप्न का भी दिया जा सकता है— जैसे स्वप्न में हम सजीव और अजीव दोनों प्रकार के पदार्थ देखते हैं, परन्तु वे स्वप्नद्रष्टा से भिन्न न होने के कारण स्वरूपतः एक ही हैं, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था के सजीव और अजीव पदार्थ परस्पर अभिन्न हैं।

व्याख्या— सम्पूर्ण वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ अर्थात् मेरे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिये ही सब वेदों का अध्ययन किया जाता है। अर्थात् मैं ही वेदवेद्य हूँ, मैं ही वेद हूँ, मैं ही वेदोपदेशक हूँ और मैं ही वेदवेत्ता हूँ। 'सब भगवान् हैं' यह प्रतीकोपासना है और 'सब मैं हूँ' यह अहंग्रहोपासना है। इस अहंग्रहोपासना के परिपक्व होने पर ही तत्त्वज्ञान होता है। भगवान् यहाँ अपनी सर्वरूपता दिखला रहे हैं कि प्राणिमात्र के हृदय में मैं ही स्थित हूँ। अतः एक सच्चिदानन्द मात्र ही है। किन्तु ईश्वर और गुरु की कृपा बिना तथा साधनसम्पन्न हुए बिना ऐसा अनुभव हो नहीं सकता।

इस श्लोक के 'अपोहनम्' शब्द का अर्थ कोई टीकाकार 'छिपाना' करते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं। अपोहन' का अर्थ अज्ञान ही है। यदि 'छिपाना' अर्थ करें तो अन्य स्थलों की संगति कैसे लगेगी; जैसे—'मत्तः परतरं नान्यत्' (७/७), 'मत्त एवेति तान्विद्धि' (७/१२) 'सदसच्चाहमर्जुन' (९/१९), 'मत्त एव पृथग्विधाः' (१०/५), 'मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (१०/८) इत्यादि। जब भगवान् से भिन्न कुछ है ही नहीं तब अज्ञान ही कैसे अलग रहेगा। अतः ज्ञान-अज्ञान सब भगवान् से ही होते हैं।

संगति— अब अगले श्लोक में प्रकृति और पुरुष को अलग-अलग करके सत्रहवें श्लोक में निर्विशेष ब्रह्म का वर्णन करेंगे।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥१६॥

भावार्थ— संसार में क्षर है और अक्षर दो पुरुष हैं। उनमें सम्पूर्ण भूत तो क्षर हैं और कूटस्थ अक्षर कहा जाता है।

व्याख्या— यहाँ 'भूतानि' शब्द से पाँचों भूत और उनके कार्य तीनों शरीर समझने चाहिये। ये शरीर भी समष्टि-व्यष्टि सब इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं, क्योंकि भूतानि' के साथ 'सर्वाणि' विशेषण

का प्रयोग हुआ है। ये नाशवान् होने के कारण क्षर कहे गये हैं। 'कूटस्थ' शब्द का अर्थ किन्हीं ने माया और किन्हीं ने जीव किया है। प्रसङ्गानुसार इसके जीव ईश्वर, माया और शुद्ध ब्रह्म सभी अर्थ हो सकते हैं। कार्य वर्ग नाशवान् होने के कारण क्षर है तो उनकी कारणभूता माया अविनाशिनी होने के कारण अक्षर है। वह 'कूट'-कपट-रूप से 'स्थ'-स्थित होकर शुद्ध चेतन को ढँक लेती है, इसलिए कूटस्थ है। जीव भी अविनाशी है और पाँचों विकारी कोशों में निर्विकार रूप से स्थित है, इसलिए कूटस्थ कहा जाता है। प्रसङ्ग के अनुसार यहाँ कूटस्थ का जीव अर्थ लेना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि प्रकृति और पुरुष का इस श्लोक में विवेचन करके अगले श्लोक में दोनों से विलक्षण पुरुषोत्तम का उल्लेख हुआ है।

प्रश्न— प्रकृति या माया शब्द तो स्त्रीलिंग में है, फिर उनके लिये पुरुष शब्द का प्रयोग क्यों किया है?

उत्तर— प्रकृति पुरुष के समान कार्य करती है, इसके आगे परमात्मा की भी कुछ नहीं चलती, उसने उसके स्वरूप को भी ढक लिया है, इसलिये उसके लिये 'पुरुष' शब्द का प्रयोग हुआ है।

उत्तम पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः॥१७॥

भावार्थ— इन दोनों से भिन्न जो उत्तम पुरुष है वह 'परमात्मा' कहा गया है, जो अविनाशी और ईश्वर (समर्थ) है तथा तीनों लोकों को व्याप्त करके उसका भरण-पोषण करता है।

व्याख्या— वह नित्य शुद्ध ब्रह्म है। माया उसका स्पर्श भी नहीं कर सकती। वही सबको सत्ता-स्फूर्ति देने वाला है। जैसे राजा की सत्ता से राज्य-संचालन होता है उसी प्रकार उस परमात्मा की सत्ता से ही विश्व का सब व्यवहार चल रहा है। वह सर्वसाक्षी है। जाग्रदादि अवस्थाओं के बदलते रहने पर भी साक्षी निर्विकार ही रहता है, उसमें

कोई अन्तर नहीं आता। यहाँ 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग शुद्ध ब्रह्म के लिये ही हुआ है, मायाविशिष्ट के लिये नहीं। 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि वह परमात्मा जड़-चेतन दोनों से उत्तम है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥१८॥

भावार्थ— क्योंकि मैं क्षर से परे और अक्षर से भी उत्तम हूँ, इसलिये मैं लोक और वेद 'पुरुषोत्तम' नाम से प्रसिद्ध हूँ।

व्याख्या— अक्षर शब्द से जीव या माया ग्रहण किये जाते हैं तथा क्षर से प्रकृति और उसके कार्य। ये सभी नाशवान् और परप्रकाश्य हैं। तथा मैं क्षर से परे और अक्षर से उत्तम हूँ, इसलिये 'पुरुषोत्तम' कहा जाता हूँ। इससे सिद्ध हुआ कि पुरुषोत्तम तत्त्व सबसे बड़ा है, उसकी अपेक्षा क्षर और अक्षर छोटे हैं, क्योंकि जहाँ कोई बड़ा होता है वहाँ छोटे भी होते हैं। वास्तव में तो न कोई बड़ा है न छोटा, सब भगवत्स्वरूप ही हैं। जैसे पत्थर की मूर्त्ति पत्थर से भिन्न नहीं होती वैसे ही संसार परमात्मा से भिन्न नहीं है।

प्रश्न— यदि संसार परमात्मा से भिन्न नहीं है तो सभी परमात्मा को प्राप्त क्यों नहीं कर लेते?

उत्तर— परमात्मा को असम्मूढ (विवेकी या बोधवान्) ही प्राप्त कर सकते हैं, स्त्री-पुत्रादि में आसक्ति वाले नहीं। यही बात आगे बतलाते हैं—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥१९॥

भावार्थ—हे भारत! जो असम्मूढ (तत्त्ववेत्ता) मुझ पुरुषोत्तम को इस प्रकार जानता है वह सर्वज्ञ ही सर्वभाव से मुझे भजता है।

व्याख्या—जिनकी स्त्री-पुत्रादि में आसक्ति हो वह सम्मूढ होता है। उसके विपरीत जो विवेकी या बोधवान् हो वही असम्मूढ

है। अर्थात् जिसे शब्दादि विषयों से वैराग्य हो, जिसमें अविद्या, अस्मिता, राग–द्वेष और अभिनिवेश न हों तथा जो उपर्युक्त श्लोक १६ और १७ के अनुसार परमात्मा को जानता है कि वह कार्य–कारण दोनों से विलक्षणहै। इसी की पुष्टि इस श्रुति से भी होती है–'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' इत्यादि। अतः जो विवेकी मुझ पुरुषोत्तम को इस प्रकार जानता है वह असम्मूढ सर्ववित् है, वह जानता है कि सर्व ब्रह्म है। कार्य–कारण को जानने वाला सर्ववित् नहीं, अपितु जो मुझे सर्वरूप जानता है वह सर्ववित् है, क्योंकि जिसने मुझे जान लिया उसने सब कुछ जान लिया। वह सर्वभाव से अर्थात् 'सब भगवान् ही है' ऐसी भावना से मुझे अहेतुकी भक्तिपूर्वक भजता है। तथा मुझे ही प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा वह ऐसा अनुभव करता है कि मैं सबसे भिन्न हूँ, 'मैं सब हूँ, 'सब नहीं,' 'मैं ही हूँ' और 'सबका अत्यन्ता भाव है, 'मैं ही मैं हूँ।' यही उत्तम अभ्यास है। इसके द्वारा वृत्ति अपनी ओर लौटती है। बोधवान् का यही भजन है।

इस श्लोक में 'जानाति' पद ज्ञानपरक है, क्योंकि असम्मूढः सर्ववित् और सर्वभावेन–ये तीन पद बड़े जोरदार हैं।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥२०॥

भावार्थ–हे निष्पाप अर्जुन! मैंने तुम्हें यह सबसे अधिक गोपनीय शास्त्र सुनाया। इसे समझ लेने पर मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है।

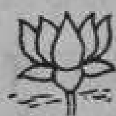
व्याख्या–भगवान् ने इस अध्याय को इसलिये शास्त्र कहा है क्योंकि शास्त्रों में जितना बोध का विषय है वह सब इसमें आ गया है। अतः इसका मननपूर्वक नित्य पाठ करने पर अवश्य बोध हो जायगा। इसमें अत्यन्त गोपनीय ज्ञान का वर्णन है, इसलिये इसे

गुह्यतम कहा है। अतः भगवान् कहते हैं कि इसके द्वारा स्वरूप का साक्षात्कार करके तू भी बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जा। फिर तुझे कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहेगा। जब तक कोई कर्त्तव्य दिखायी देता है तब तक कोई तत्त्ववेत्ता नहीं हो सकता। कहा भी है—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किञ्चत् कर्त्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥

अर्थात् ज्ञानामृत से तृप्त कृतकृत्य योगी को कोई कर्त्तव्य नहीं है। यदि कर्त्तव्य दिखायी देता है तो वह तत्त्ववेत्ता नहीं है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥१५॥



ॐ
श्री परमात्मने नमः
श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

अथ षोडशोऽध्यायः

संगति— पन्द्रहवें अध्याय के अन्त में सिद्धान्त बतलाया और कहा कि ऐसा जानकर तू कृतकृत्य हो जा। अब इस अध्याय में कृतकृत्य होने का उपाय बतलाते हैं। हमारे आचार्यों का नियम है कि पहले सिद्धान्त (फल) बताकर फिर साधन का वर्णन करते हैं। व्यवहार में भी यही बात देखने में आती है ठेकेदार लाभ का अनुमान लगाकर ही कार्य आरम्भ करते हैं। पन्द्रहवें अध्याय में पुरुषोत्तम का स्वरूप बतलाया गया। इस अध्याय में पहले तीन श्लोकों में दैवी सम्पत्ति का वर्णन किया जाता है, क्योंकि चाहे कर्मकाण्डी हो या जिज्ञासु, दैवी सम्पत्ति के बिना कोई भी पुरुषोत्तम की प्राप्ति नहीं कर सकता।

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।१।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशनुम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।२।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत।।३।।

भावार्थ—निर्भयता, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञानयोग में स्थिति, दान, इन्द्रियनिग्रह, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, चुगली न करना, प्राणियों पर दया, अलोलुपता, मृदुता, लज्जा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, अद्रोह और निरभिमानिता—हे भरतनन्दन! दैवी सम्पद् में उत्पन्न हुए पुरुष में ये सब गुण होते हैं।

व्याख्या— यहाँ सबसे पहले 'अभय' कहा गया है। जब तक भय रहेगा तब तक ईश्वर या आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। संसार

में भक्त या ज्ञानी दो ही निर्भय होते हैं। जैसे मीरा, प्रह्लाद, नरसी आदि भक्त और जड़भरत आदि ज्ञानी। जडभरत को बलि चढ़ाने ले गये, परन्तु उन्हें कोई भय नहीं हुआ। प्रह्लाद को अग्नि में जलाया और अनेकों कष्ट दिये, परन्तु वे निर्भय रहे। ये लोग असह्य कष्ट आने पर भी अपनी निष्ठा से विचलित नहीं हुए। ये निन्दा-स्तुति में समान रहते हैं, इसलिये भी इन्हें भय नहीं होता। विरक्त-पुरुषों को संसारी लोगों से इसलिये भी भय नहीं होता, क्योंकि वे सब प्रकार का परिग्रह त्यागकर एकान्त में रहते हैं। भय तो परिग्रही या पापी लोगों को होता है।

सत्त्वसंशुद्धि—अन्तःकरण की शुद्धि। ज्ञानयोग में स्थिति अर्थात् अध्यात्म-शास्त्रों का पठन-पाठन एवं परस्पर अध्यात्म-चर्चा करना। ज्ञान-विचार और योग-एकाग्रता ये दोनों ही होने चाहिये।

दान—जो अपने पूज्य पुरुषों को दिया जाय। भूखे और कंगालों को देना दान नहीं, दया है। भक्त और ज्ञानी दोनों में ही दान की प्रवृत्ति होती है। भक्त शुभ कर्मों में द्रव्यादि लगाता है और विचारवान् (विरक्त) सबका बाध करता है—यही उसका दान है। भक्त और ज्ञानी दोनों ही दानी होते हैं, क्योंकि भक्त भी सर्वत्याग करता है और ज्ञानी सबको मरुमरीचिका के समान समझता है।

दम—इन्द्रियों को वश में रखना। यज्ञ—जो बारह प्रकार के यज्ञ चतुर्थ अध्याय में कहे हैं। स्वाध्याय—अपने इष्टमन्त्र या शास्त्र का नियमपूर्वक पारायण करना। तप—सत्रहवें वृत्ति या आत्माकार वृत्ति ही हैं। आर्जव—सरलता! ऐसी सरलता हो कि जो मन में हो वही वाणी में हो और वही आचरण में भी हो। छल-कपट तनिक भी न हो।

अहिंसा—स्वार्थ त्याग अर्थात् मन वाणी या शरीर से किसी को कोई कष्ट न देना। वाणी मनुष्य की बहुत बड़ी निधि है। इसके दूषित होने से मन और वीर्य भी दूषित हो जाते हैं, जिससे ब्रह्मचर्यादि तप में भी बाधा पड़ती है और आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो पाती। अतः वाणी के दोष से बचना बहुत आवश्यक है।

सत्य—देखे-सुने को ज्यों का त्यों कह देना सत्य है। उसे कुछ भी घटावे-बढ़ावे नहीं। सत्य ही भगवान् है। इस सत्यरूप भगवान् की प्राप्ति सत्यभाषण से ही होती। इसकी गणना जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पाँच धर्म हैं उनमें भी है। वे पाँच धर्म ये हैं—(१) सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं। (२) मौन से बढ़कर कोई तप नहीं। (३) जप से बढ़कर कोई यज्ञ नहीं। (४) विचार से बढ़कर कोई ज्ञान नहीं। (५) त्याग से बढ़कर कोई सुख नहीं।

क्रोध— अपने विपरीत कोई बात सुनकर जो उत्तेजना होती है उसे क्रोध कहते हैं। यह साधक का अपना बनाया हुआ शत्रु है। इससे जितनी क्षति उसकी होती है, उतनी उसकी नहीं होती जिस पर क्रोध किया जाता है। यदि अपने अपराधी पर क्रोध करना ही है तो क्रोध पर ही क्रोध करना चाहिये—'अपराधिनि कोपश्चेत् कोपे कोपो कथम् न ते।'

त्याग— सर्वत्र उपरति होना अथवा श्रौत-स्मार्त्त आदि कर्मों का फल ईश्वरार्पण-बुद्धि से त्याग देना इससे चित्त में शान्ति और प्रसन्नता रहती है। शान्ति-प्राप्ति के चार साधन हैं—क्षमा, दान, सत्य और अहिंसा। गीता में अन्य चार प्रकार से भी शान्ति की प्राप्ति बतलायी है; यथा—

१. **कर्म-फल त्याग से**—'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्ति-माप्नोति नैष्ठिकीम्।' (५/१२)

२. **उपासना से**—'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।' (९/३१)

३. **ज्ञान से**—ज्ञानं लब्ध्वां परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।' (४/३९)

४. **ज्ञान निष्ठा से**—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्ति निर्वाणपरमाँ मन्संस्थामधिगच्छति॥

(६/१५)

प्रश्न— 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इस वाक्य के अनुसार शान्ति तो ज्ञान होने पर ही जाती है, फिर ज्ञाननिष्ठा से और कैसी शान्ति मिलती है?

उत्तर— ज्ञाननिष्ठा से जो शान्ति मिलती है वह चित्त की ही उपरति है। उसे निवृत्ति का सुख भी कह सकते हैं। वह वास्तविक शान्ति नहीं है। सच्ची शान्ति तो ज्ञान होने पर हो चुकी।

प्रश्न— क्या आत्मनिष्ठा और जीवन्मुक्ति का सुख एक ही बात है?

उत्तर— नहीं, दोनों भिन्न हैं। आत्मनिष्ठा तो गृहस्थ और विरक्त दोनों को हो सकती है, परन्तु जीवन्मुक्ति का सुख केवल विरक्त को ही होता है।

प्रश्न— आप कहते हैं कि आत्मनिष्ठा गृहस्थ और विरक्त दोनों को हो सकती है, परन्तु भगवान् भाष्यकार तो 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इत्यादि श्लोक के भाष्य में आत्मनिष्ठा के लिये चतुर्थाश्रम का ग्रहण करने का विधान करते हैं।

उत्तर— भाई! आत्मनिष्ठा तो दोनों को हो सकती है, परन्तु भाष्यकार ने ऐसा विधान इसलिए किया है कि ज्ञान होने पर वैराग्य ढीला पड़ जाता है। वैराग्य तो रहता है, परन्तु उत्कट वैराग्य नहीं रहता। वैराग्य की जो नशे की-सी लहरें उठती हैं वे नहीं रहती। इसलिये प्राचीन ऋषियों ने विरक्ति पर जोर डाला है और इसीलिये गृहस्थ को वेदान्त-श्रवण का निषेध करते हुए ऐसी व्यवस्था की है कि संन्यास लेकर ही वेदान्त श्रवण करे।

अपैशुन—किसी व्यक्ति की अनुपस्थिति में उसके दोष बतलाना पैशुन या चुगली है। यह दोष न होना अपैशुन है। चुगली करने से बड़े भीषण परिणाम निकलते हैं। गोसाईं तुलसीदासजी कहते हैं—'परनिन्दा सम अघ न गिरिन्दा।' ईसामसीह ने तो इसका बहुत तिरस्कार किया है। किसी गाँव में वर्षा न होने पर उन्होंने उसका कारण वहाँ एक चुगलखोर की उपस्थिति बतलायी थी। जब उनसे उसका

नाम पूछा तो उन्होंने कहा कि यदि मैं उसका नाम बतला दूँ तो मैं भी चुगलखोर हो जाऊँगा। सारांश यह कि इस अवगुण को किसी प्रकार अपने में न आने दें।

दया—प्राणियों के अवगुणों को छुड़ाने का प्रयत्न करना अर्थात् सबका कल्याण चाहना ही सच्ची दया है।

अलोलुपता—जो मिल जाय उसी में सन्तुष्ट रहे। विषयों की सन्निधि में भी उन्हें पाने का लोभ न हो।

मार्दव—मृदुलता, कठोर शब्द या कठोर वाणी न होना। अथवा दृष्टि, वाणी या व्यवहार सभी में मधुर होना।

लज्जा—शास्त्रविरुद्ध कर्म करने में सङ्कोच होना। ऐसा सङ्कोच पापाचरण से बचा लेता है। इसी से लज्जा कुल स्त्री का आभूषण कही गई है।

अचापल—अचपलता या व्यर्थ चेष्टा का अभाव। मन, वाणी और शरीर की चञ्चलता दूर हुए बिना शान्ति, ममता, ज्ञान, भक्ति कुछ भी नहीं हो सकते। इसलिये यति के लिये कहा है—

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो यतिः।
न च वाक्चपलश्चैवमिति शिष्टस्य लक्षणम्॥

अर्थात् यति को हाथ पैर नेत्र और वाणी की चपलता से शून्य होना चाहिये। यही शिष्ट पुरुष का लक्षण है।

तेज—खाने-पीने से सुन्दर स्वास्थ्य होना तेज नहीं है, अपितु अपनी प्रतिज्ञा और नियमों में दृढ़ निष्ठा होना ही तेज है। अथवा चरित्र या बुद्धि का बल तेज कहा जाता है। यह ऐसी दिव्यशक्ति है जिसके कारण सभी प्रेम और आदर करते हैं। यह बुद्धि का बल है जो अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य का पालन करने से बढ़ता है।

क्षमा— दूसरे का अपराध से क्षुभित न होना अथवा सहन शीलता। क्षमाशील सबको अपने अधीन कर लेता है।

धृति— धैर्य या धारण शक्ति, जिससे देह, इन्द्रिय मन और प्राण अपने अधीन रहते हैं। वास्तव में तो जिसने उपस्थ और रसनेन्द्रिय

को वश में कर लिया है वही धृतिमान् है। ज्ञानेन्द्रियों में नेत्र और कर्मेन्द्रियों में वाणी प्रबल है, इन्हें वश में करने का सामर्थ्य धीर पुरुष में ही होता है।

शौच— बाह्य और आन्तरिक पवित्रता। बाह्य पवित्रता जल और मृतिका आदि से होती है तथा आन्तर पवित्रता के लिए राग-द्वेष का त्याग प्रधान साधन है। मिथ्या भाषण के त्याग से मुख की शुद्धि होती है, परान्न त्याग से रसना की, प्रतिग्रह के त्याग से हाथों की, शास्त्रविहित ब्रह्मचर्य के पालन से कक्ष की, धर्मानुकूल धनोपार्जन से धन की और शास्त्रानुकूल आचरण से कर्म की शुद्धि होती है।

अद्रोह— किसी के प्रति शत्रुता न रखना। अपना अनिष्ट करने वाले के प्रति भी प्रतीकार की भावना न रखकर उसके लिए भगवान् से दया और बुद्धि-शुद्धि की प्रार्थना करना।

नातिमानिता— बड़प्पन के अभिमान से रहित होना। ऊँचा आसन प्राप्त होने की इच्छा न रखना।

ये दैवी सम्पद् के लक्षण किन्हीं में जन्म से ही होते हैं। उन्हें इनका अभ्यास नहीं करना पड़ता। जिनमें ये लक्षण होते हैं वे ही भगवान् का यथार्थ भजन कर सकते हैं। जैसा कि भगवान् ने अध्याय ९ श्लोक १३ में कहा है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।।

यहाँ भगवान् ने जो दैवी सम्पत्ति बतलायी है वह अर्जुन को यह दिखलाने के लिये है कि तू भी जन्म से ही दैवी सम्पत् सम्पन्न है, इसलिये तुझे अधीर नहीं होना चाहिये, तेरा अवश्य कल्याण होगा।

प्रश्न— दैवी सम्पत्तिवान्पुरुष से सब क्यों प्रसन्न रहते हैं?

उत्तर— आत्मा काम-क्रोधादि विकारों से रहित है। दैवी सम्पत्तिवान् पुरुष में आत्मा के लक्षण आ जाते हैं, और आत्मा सबको प्रिय है, इसलिये स्वस्वरूपभूत होने के कारण वे सबको प्रिय लगते हैं।

प्रश्न—क्या बोध होने पर भी दैवी सम्पत्तिवान् होना आवश्यक है?

उत्तर— यद्यपि ज्ञानी के लिये शास्त्र का कोई शासन नहीं है, तथापि यह तो नियम ही है कि बोध की प्राप्ति अन्तःकरण शुद्ध होने पर ही होती है। चित्तशुद्धि बिना निष्काम कर्म के नहीं होती और निष्काम कर्म दैवी सम्पत्तिवान् ही कर सकता है। इसलिये दैवी सम्पत्ति तो उसका स्वभाव ही बन जाता है।

प्रश्न— आपने जो कहा वह तो ठीक है, परन्तु ऐसा देखा गया है कि दुर्वासा आदि में आसुर भाव था तथा असुरों में भी कोई-कोई ज्ञानी हो गये हैं।

उत्तर— दुर्वासा आदि तो कारक पुरुष थे। उनका क्रोध तो लीला मात्र था। तथा असुरों में ज्ञानी हुए हैं वे जन्म से ही असुर थे, स्वभाव से नहीं। फिर भी ये अपवादमात्र ही समझने चाहिये। इन्हें आदर्श नहीं कह सकते। आदर्श तो ऋभु, निदाघ, वशिष्ठ और वामदेव आदि ही हैं। मेरा तो यही सिद्धान्त है कि तत्त्ववेत्ता में दैवी सम्पत्ति अवश्य होनी चाहिये, जैसा कि कहा है—

अक्रोधवैराग्यजितेन्द्रियत्वं क्षमादयासर्वजनप्रियत्वम्।
निर्लोभदानं भयशोकहानं ज्ञानस्य चिह्नं दशलक्षणानि॥

अर्थात् अक्रोध, वैराग्य, जितेन्द्रियता, क्षमा, दया, सर्वप्रियता, लोभहीनता, दान, निर्भयता और निःशोकता— ये दश लक्षण ज्ञान के चिह्न हैं।

यों तो बोधवान् की दृष्टि में चराचर जगत की सत्ता नहीं रहती फिर दैवी सम्पद् कहाँ रहेगी। परन्तु वास्तव में यह भी उसी में और उसी की तो है, इसलिये उसका स्वभाव ही है।

संगति—अब अगले श्लोकों में आसुरी सम्पत्ति वालों के लक्षण बताते हैं—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥४॥

भावार्थ—हे पार्थ! आसुरी सम्पत्ति में जन्म लेने वाले पुरुष में दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान रहते हैं।

व्याख्या—दम्भ—दूसरों के सामने अपने जप-ध्यानादि को प्रकट करना दम्भ है। अर्थात् कुछ बनना ही दम्भ है।

दर्प—दूसरों को तुच्छ समझना, सबका निरादर करना, दयालुता न होना दर्प है।

अभिमान—विद्या, बुद्धि, बल, रूप आदि में अपने को सब से बड़ा मानना अभिमान है।

क्रोध—जो स्वार्थसिद्धि में बाधक हो उससे बदला लेने की भावना क्रोध है। वह इतनी उग्र हो जाती है कि बदला लेकर ही चैन पड़ता है। इसके लिये अनेकों अवगुणों का आश्रय लेना पड़ता है।

पारुष्य—कठोर या निष्ठुर भाषण पारुष्य है।

अज्ञान— सत्-असत्-विचारशून्य अर्थात् हानि-लाभ की परवाह न करते हुए मनमाना आचरण करना अज्ञान है।

ये सब आसुरी सम्पत्ति लेकर उत्पन्न हुए पुरुषों के लक्षण हैं।

संगति—यहाँ तक दोनों प्रकार की सम्पत्तिवालों के लक्षण बतलाकर अब इनका प्रभाव बतलाते हैं –

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।।५।।

भावार्थ—दैवी सम्पत्ति मुक्ति की हेतु है और आसुरी सम्पत्ति बन्धन करने वाली मानी गयी है। हे पाण्डुपुत्र! तू शोक न कर, क्योंकि तू दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न उत्पन्न हुआ है।

व्याख्या—जो दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न है वही ध्यानादि कर सकता है, इसलिये उसे मुक्ति का साधन बतलाया है।

संगति—दोनों संपत्तियों का उल्लेख करके अब आसुरी सम्पत्ति का विशेष रूप से वर्णन करते हैं –

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु।।६।।

भावार्थ—हे पार्थ! इस लोक में दैव और आसुर दो प्रकार के प्राणियों की सृष्टि है। उनमें दैवी सुष्टि का तो विस्तार से वर्णन किया। अब आसुरी सृष्टि का वर्णन सुनो।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।।७।।

भावार्थ—आसुरी सम्पत्ति वाले प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही को नहीं जानते। तथा उनमें पवित्रता, आचार और सत्य भी नहीं होते।

व्याख्या—जो करना चाहिये उसे प्रवृत्ति कहते हैं और जो नहीं करना चाहिये उसे निवृत्ति कहते हैं। आसुरी सम्पत्ति वालों को इन दोनों का ज्ञान नहीं होता। शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति दैवी सम्पत्ति है और शास्त्रप्रतिकूल प्रवृत्ति आसुरी सम्पत्ति। धर्माधर्म का विवेक न होने के कारण उनमें शौच (पवित्रता) भी नहीं होता। 'च' शब्द से तात्पर्य है कि उनमें दया आदि सद्‌गुण भी नहीं होते। तथा उनमें धर्मानुकूल आचरण और सत्यभाषण भी नहीं पाये जाते। वे असत्य प्रधान होते हैं।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।।८।।

भावार्थ—वे संसार को झूठा, निराधार और ईश्वरशून्य बताते हैं और कहते हैं कि यह परस्पर संयोग से उत्पन्न हुआ है तथा भोगार्थ होने के सिवा और क्या है, अर्थात् कुछ नहीं है।

व्याख्या—वे स्वयं झूठे होते हैं इसलिये सबको झूठा मानते हैं। ईश्वर की सत्ता या अनुशासन कुछ नहीं मानते और भोग को ही परम पुरुषार्थ समझते हैं।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।।९।।

भावार्थ—इस दृष्टि का आश्रय लेकर जिनका अन्तकरणः दूषित हो गया है वे मन्दमति अहितकारी उग्रकर्मा पुरुष संसार के नाश के निमित्त ही बनते हैं।

व्याख्या—ये लोग ऐसे-ऐसे क्रूर कर्म करते हैं जिनसे संसार को हानि ही पहुँचती है। कहीं आग लगा देना, किसी की हत्या कर देना, दूसरों के अभियोग (मुकदमे) लेकर लड़ना—यही उनके नित्यकृत्य होते हैं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥१०॥

भावार्थ— जिसकी कभी पूर्ति नहीं होती ऐसे काम का आश्रय लेकर दम्भ, मान और मद से युक्त हुए अपवित्र संकल्पों वाले वे मूढ़ मोहवश असम् आग्रहों को पकड़ कर प्रवृत्त होते हैं। (अर्थात् उनका ऐसे कार्यों में ही आग्रह रहता है जिनसे सबको हानि ही हो। वे न स्वयं चैन से रहते हैं, न दूसरों को रहने देते हैं।)

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥११॥

भावार्थ—वे मरणपर्यन्त अपरिमित चिन्ताओं को भोगते रहते हैं। विषयोपभोग ही सबसे बढ़कर है— ऐसा उनका निश्चय होता है।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥१२॥

भावार्थ— वे सैकड़ों आशा-पाशों से बँधे रहते हैं, काम-क्रोध में तत्पर रहते हैं तथा विषयोपभोग के लिए अन्याय से अर्थसञ्चय करने का प्रयत्न करते रहते हैं।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥१३॥

भावार्थ—(वे सोचते रहते हैं कि) मुझे यह वस्तु तो आज मिल गयी, अब इस कामना की भी पूर्ति हो जायगी। मेरे पास यह सम्पत्ति तो है, फिर यह धन भी प्राप्त हो ही जायगा।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥१४॥

भावार्थ—मैंने इस शत्रु को तो मार डाला, अब दूसरों को भी समाप्त कर दूँगा। मैं बड़ा ईश्वर (समर्थ) हूँ, भोगी हूँ, सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ और सुखी हूँ।

व्याख्या—प्रश्न—'मैं ईश्वर हूँ' क्या यह भी आसुरी सम्पद् का लक्षण है। तब तो अहंग्रहोपासना भी आसुरी मानी जायगी।

उत्तर—ईश्वरपने का परिच्छिन्न-अभिमान दुःखदायी है और आसुरी सम्पत्ति है, किन्तु अपरिच्छिन्न-अभिमान तो संसार से छुड़ाने वाला है।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥१५॥

भावार्थ—मैं बड़ा सम्पन्न हूँ, बड़ा कुटुम्बी हूँ, मेरे समान और है कौन? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और खुशी मनाऊँगा इस प्रकार के अज्ञान से वे मोहित रहते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥१६॥

भावार्थ— जिनका चित्त अनेक प्रकार से भ्रमित है, जो मोह-पाश में जकड़े हुए हैं तथा काम-भोगों में आसक्त हैं ऐसे ये आसुरी सम्पद वाले अपवित्र नरकों में गिरते हैं।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥१७॥

भावार्थ— अपने को ही सर्वश्रेष्ठ समझने वाले, अविनीत तथा धन के मद से भरे हुए ये लोग दम्भपूर्वक विधिविहीन नाममात्र के यज्ञों का आयोजन करते हैं।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥१८॥

भावार्थ— वे अहंकार (अनात्मा में आत्मबुद्धि) बल, घमण्ड, काम, क्रोध का आश्रय लिये दूसरों की निन्दा करने वाले अपने और

दूसरों के देहों में विद्यमान मुझसे ही द्वेष करने वाले हैं। 'च' से यहाँ लोभादि समझने चाहिए।

तानहं द्विषतः क्रूरान संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।१९।।

भावार्थ—अपने से द्वेष करने वाले उन क्रूर नराधमों को मैं संसार में बार-बार पाप योनियों में ही पटकता हूँ।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।२०।।

भावार्थ—हे कुन्तिनन्दन! जन्म-जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त हुए वे मूढ़ मुझे प्राप्त न होकर उससे भी अधम गति को प्राप्त होते रहते हैं।

व्याख्या—भगवान् ने सातवें अध्याय के १४ वें श्लोक में कहा है– "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" अर्थात् जो मेरी शरण लेते हैं वे इस माया को पार कर जाते हैं। और यहाँ अपने से द्वेष करने वालों को जन्म-जन्म में अधमाधम योनियों की प्राप्ति बतला रहे हैं। इससे यही निश्चय होता है कि बिना भगवद्भजन के कल्याण नहीं होता।

प्रश्न—दैवी सम्पत्ति के वर्णन के पश्चात् आसुरी सम्पत्ति बतलाने की क्या आवश्यकता थी?

उत्तर—यदि आसुरी सम्पत्ति और उसके दोष न बतलाते तो उसका त्याग कैसे होता? दुर्गुण को जानकर ही तो त्यागा जा सकता है।

संगति—यहाँ तक आसुरी सम्पत्ति बतलाकर अब अगले श्लोक में भगवत्प्राप्ति के बाधक मुख्य दोष बतलाते हैं–

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।२१।।

भावार्थ—काम, क्रोध और लोभ–ये आत्मा का नाश करने वाले नरक के तीन प्रकार के द्वार हैं। अतः इन तीनों का त्याग करें।

व्याख्या—प्रश्न—जीवात्मा के नरक के द्वारों के समान क्या उसकी मुक्ति के भी तीन द्वार हैं?

उत्तर—सम, सन्तोष और सत्संग—ये जीव की मुक्ति के द्वार हैं। सम (कारण दृष्टि रखना), सन्तोष (स्वतः प्राप्त से अधिक की इच्छा न करना) और सत्संग (सत्पुरुषों का साथ करना) इन तीनों के द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होकर जिज्ञासा होगी और फिर तत्वज्ञान द्वारा कल्याण हो जायगा।

प्रश्न—काम, क्रोध और लोभ का त्याग किस प्रकार करे?

उत्तर—काम की निवृत्ति तो आत्मप्राप्ति की कामना से अथवा स्वरूपाकार वृत्ति से होती है। क्रोध की निवृत्ति 'मैं शरीर हूँ' यह मिथ्या ज्ञान नष्ट होने से होती है और मिथ्या ज्ञान सत्संग से निवृत्त होता है। तथा लोभ निवृत्ति वैराग्य अथवा आत्मरति से होती है। किन्तु आत्मरति से तो तीनों ही की निवृत्ति हो जाती है। वास्तव में तो आत्मप्राप्ति की कामना और सत्संग साधन हैं। तथा आत्मरति साध्य है।

प्रश्न—मद, मत्सर और मोह की निवृत्ति कैसे होती है?

उत्तर—मद की निवृत्ति भिक्षावृत्ति से होती है, मत्सर की सबमें भगवद्‌भावना करने से और मोह की एकान्त सेवन से। क्रोध इन सबमें बुरा है।

संगति—अगले श्लोक में कामादि के त्याग का फल बतलाते हैं—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥२२॥

भावार्थ— हे कौन्तेय! अज्ञान के द्वारा इन तीनों दोषों से मुक्त हुआ पुरुष अपने कल्याण के लिए आचरण करता है और उससे परमगति प्राप्त कर लेता है।

संगति—अब स्वेच्छाचारी की गति बतलाते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥२३॥

भावार्थ—जो शास्त्रविधि को त्यागकर मनमाना व्यवहार करता है वह सफलता प्राप्त नहीं कर सकता और न सुख या परमगति ही प्राप्त कर सकता है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तु मिहार्हसि।।२४।।

भावार्थ—अत: कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में तुम्हारे लिए शास्त्र ही प्रमाण है। तुम शास्त्रविधि से बतलाये हुए कर्म को जानकर ही इस लोक में कर्म करो।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्‌भगवद्‌गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
दैवासुरसम्पद्‌विभागयोगो नाम षोडशोऽध्याय:।।१६।।



ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

अथ सप्तदशोऽध्यायः

संगति— पिछले अध्याय में भगवान् ने कहा है कि जो शास्त्र विधि को त्यागकर मनमाना व्यवहार करता है उसे न तो सफलता प्राप्त होती है और न सुख या परमगति ही मिलती है। इसपर अर्जुन को यह जानने की इच्छा हुई कि जो अनपढ़ हैं और शास्त्रविधि से अनभिज्ञ हैं, किन्तु श्रद्धालु हैं उनकी क्या गति होती है। अतः वे पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः।।१।।

भावार्थ— अर्जुन बोला—श्रीकृष्ण! जो लोग शास्त्रविधि को त्यागकर श्रद्धापूर्वक यज्ञादि करते हैं उनकी स्थिति सत्त्व, रज अथवा तम किसमें होती है?

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु।।२।।

भावार्थ— प्राणियों की वह स्वाभाविकी श्रद्धा तीन प्रकार की होती है—सात्विकी, राजसी और तामसी। उसके विषय में सुनो।

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।३।।

भावार्थ— हे भारत! सभी प्राणियों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुसार होती है। यह पुरुष श्रद्धामय (श्रद्धास्वरूप) है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह वही हो जाता है।

व्याख्या— श्रद्धा से यहाँ चिन्तन या ध्यान अभिप्रेत है। जो जैसा चिन्तन करता है वैसा ही हो जाता है। भाव का कारण श्रद्धा है।

श्रद्धा, भक्ति, प्रेम ये एक ही हैं। पहले श्रद्धा होती है। उसकी परिपक्व अवस्था भक्ति है और भक्ति की सिद्धावस्था प्रेम है।

यजन्ते सात्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।४।।

भावार्थ—सात्विक श्रद्धा वाले देवताओं का भजन करते हैं, राजस लोग यक्ष-राक्षसों का और तामसी पुरुष प्रेत एवं भूतों की पूजा करते हैं।

व्याख्या—इन पूजकों के अतिरिक्त साधकों की और भी तीन श्रेणियाँ हैं। जो आत्मरति में लगे हैं वे सात्विक हैं, जो सिद्धियों की इच्छा करते हैं वे राजस हैं और जो यह मानकर कि हमें तो अब ज्ञान हो गया, हमारा कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है पड़े रहते हैं, वे तमोगुणी हैं। सत्संग-पाठ आदि सात्विक साधन हैं, इहलोक या परलोक के सुख की इच्छा से यज्ञादि करना राजस है और मारण-उच्चाटनादि तामस साधन हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः।।५।।
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।।६।।

भावार्थ—जो मूर्ख लोग दम्भ और अहंकार से युक्त हो तथा काम और राग के वशीभूत हो अपने शरीर में स्थित भूतसमुदाय और अन्तःकरण में स्थित मुझे पीड़ित करते हुए अशास्त्रविहित घोर तप करते हैं, उन्हें तुम आसुरी निश्चय वाले जानो।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु।।७।।

भावार्थ—आहार भी सबको तीन प्रकार का प्रिय होता है। इसी प्रकार यज्ञ, तप और दान के विषय में समझो। उनके ये भेद सुनो।

आयुः सत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः।।८।।

भावार्थ— आयु, सत्त्व (बुद्धि का बल), बल (शारीरिक शक्ति), आरोग्य, सुख और प्रसन्नता की वृद्धि करने वाले, सरस, चिकने, स्थिर (शरीर में ठहरने वाले) और हृदय को प्रिय लगने वाले पदार्थ सात्विक लोगों को प्रिय होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।९।।

भावार्थ—अति कड़ुवा, अति खट्टा, अति नमकीन, अति उष्ण, अति चरपरा, अति रूखा और अति दाहक पदार्थ राजसिक पुरुषों को प्रिय होते हैं, जो कि दुःख, शोक और रोगों को ही देने वाले होते हैं। [सबकी 'अति' के कारण धातु क्षीण हो जाती है और इसलिए वे दुःखदायी ही होते हैं।]

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।१०।।

भावार्थ—अधपका, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, बासी और जो उच्छिष्ट (जूठा) तथा अपवित्र हो वह भोजन तामसी लोगों को प्रिय होता है।

व्याख्या—यातयाम—जिस भोजन को पके एक पहर बीत गया हो। परन्तु जो दुर्गन्धयुक्त न हो अथवा घृतपक्व (पकवान) हो वह यातयाम नहीं होता। चावल, रोटी, दाल एक पहर बीत जाने पर तथा जो आधा सिका हो वह पदार्थ यातयाम कहे जाते हैं। इन्हें नहीं खाना चाहिए। अमेध्य—बुद्धि को बिगाड़ने वाले मद्य-मांसादि। अथवा जो स्वयं अच्छा खाय परन्तु दूसरों को गला-सड़ा खिलाये या दूसरों से छिपाकर भोजन करे वह भी अमेध्य-भोजी है। किन्तु यदि दूसरों को अच्छा खिलाये और स्वयं रूखा-सूखा खाय तो वह बुद्धिवर्द्धक होता है।

संगति—अब तीन श्लोकों में तीन प्रकार के यज्ञ बतलाते हैं—

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः।।११।।

भावार्थ— फल की इच्छा न करने वाले पुरुषों के द्वारा यज्ञ करना कर्त्तव्य है—ऐसा निश्चय करके जो शास्त्रविधि से किया जाय वह यज्ञ सात्त्विक है।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्।।१२।।

भावार्थ— हे भरतश्रेष्ठ! जो यज्ञ फल की इच्छा रखकर और जो दम्भ (दिखावे) के लिए किया जाता है, उसे तुम रजोगुणी समझो।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।।१३।।

भावार्थ— जो विधिहीन, अन्नदान से रहित, मन्त्रहीन, दक्षिणाशून्य और श्रद्धारहित हो वह यज्ञ तमोगुणी कहा जाता है।

संगति—अब शारीरिक तप बतलाते हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।१४।।

भावार्थ—देवता, ब्राह्मण, गुरु और तत्त्वज्ञ का पूजन [बाह्य और आन्तर] पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शारीरिक तप कहा जाता है।

व्याख्या—यहाँ पूजन के साथ शौच और आर्जव का सम्बन्ध है। तात्पर्य यह कि पूजन भाव से करना चाहिये, दिखावटी न हो। भाव की पवित्रता हो और सरलता भी हो। जो मन में हो वही बाहर प्रकट हो। मृत्तिका आदि से बाह्य शुद्धि और राग-द्वेष के त्याग से आन्तर शुद्धि की जाय। इस प्रकार दम्भ रहित होकर पवित्रतापूर्वक पूजा करे।

ब्रह्मचर्य का पालन करने में इसलिए सफलता नहीं मिलती क्योंकि हम केवल शरीर से ही इसका पालन करना चाहते हैं, मन से नहीं। अतः हमको प्रयत्नपूर्वक मन, वाणी और कर्म से ब्रह्मचर्य का

पालन करना चाहिए। साधारणतया तो जो आठ प्रकार के मैथुन से बचे हुए हैं वे ब्रह्मचारी कहे जाते हैं। किन्तु मेरे विचार से तो संसार में सच्चा ब्रह्मचारी मिलना कठिन है। सच्चा ब्रह्मचारी तो वह है जो सब प्रकार के सौन्दर्य से दूर रहता है। यहाँ तक कि उपरति, भगवदाकार वृत्ति आदि भी एक प्रकार की आसक्तियाँ ही हैं और सब स्त्रीलिंग भी हैं। जो इन सबसे भी परे है वही सच्चा ब्रह्मचारी है। अर्थात् जिसे यह दृढ़ अपरोक्ष अनुभव है कि ब्रह्म के सिवा और कुछ है ही नहीं वस्तुतः वही ब्रह्मचारी है।

प्रश्न— आठ प्रकार के मैथुन कौन-कौन हैं?

उत्तर— भगवान् मनु कहते हैं—

दर्शनं स्पर्शनं केलि रहस्यं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।

अर्थात् परस्त्री को देखना, उसे स्पर्श करना, उसके साथ ताश-चौपड़ आदि खेलना, एकान्त में मिलना और बात करना, संकल्प करना, सहवास का निश्चय करना और सहवास करना—ये मैथुन के आठ अंग विद्वान् बतलाते हैं।

प्रश्न—ब्रह्मचर्य रखने से क्या लाभ हैं? क्या बुद्धि बढ़ाने के लिये ब्रह्मचर्य से रहा जाता है?

उत्तर—कारण का भोक्ता कार्य होता है। जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है उसी को खाती है। जैसे अन्न से शरीर की उत्पत्ति होती है तो उसी को शरीर खाता है। नेत्रेन्द्रिय तेज से उत्पन्न हुई है और तेज के गुण रूप को ही भोगती है। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों को समझना चाहिये।

ब्रह्मचर्य से बुद्धि बढ़ती है—यह बात तो गौण है। मुख्य बात यह है कि जितने स्त्री-पुरुष हैं उनके प्राणों का भोग रूप हैं। स्त्री के प्राणों का भोग पुरुष का रूप है और पुरुष के प्राणों का भोग स्त्री का

रूप है। निर्गुण उपासना का भोग प्राण है क्योंकि निर्गुण उपासना में प्राण निःशेष हो जाता है। निर्गुण उपासना जीव करता है, इसलिए प्राणों का भोक्ता जीव है। पहले लोग प्राणों को ही भोगते थे, फिर रूप और शब्द को भोगने लगे। अब इतने स्थूल हो गये कि अन्न खाने लगे। सारांश यह कि जब तक हमको रूप और रस में राग है, जब तक हमें रूप और रस मिलेंगे तब तक हम ब्रह्मचर्य से नहीं रह सकते। और बिना ब्रह्मचर्य के चित्त भगवान् में नहीं लगेगा। इसीलिये मुख्यतया ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है। परन्तु भगवान् के रूप में आसक्ति होना हानिकारक नहीं है, क्योंकि उसमें सच्चिदानन्द बुद्धि होती है।

अथवा रूपादि का भोगने वाला प्राणवायु है, क्योंकि जिस इन्द्रिय में प्राण नहीं रहता वह अपने विषय को ग्रहण नहीं कर सकती। अतः प्राण ही सब इन्द्रियों का आधार है। जब तक प्राण अपने अधीन नहीं होगा तब तक विषयासक्ति नहीं छूटेगी। योगी अपने प्राणों पर अधिकार कर लेता है। परन्तु योगी और अवतारों में यह अन्तर है कि योगी तो प्राणों को अधीन करके विषयों को जीतता है किन्तु अवतार प्राणों का संयम किये बिना भी विषयासक्त नहीं होते।

संसार में सबसे अधिक राग स्त्री में होता है। और जब तक कहीं भी राग है तब तक भगवान् या आत्मा में राग नहीं हो सकता। इसलिये ब्रह्मचर्य की बड़ी आवश्यकता है। शरीर प्राणों का ही कार्य है, अतः प्राणों में विकार होने से शरीर में भी विकार हो जाते तथा तरह-तरह के रोग पैदा हो जाते हैं। प्राण के स्थिर होने से सब विकार शान्त हो जाते हैं। फिर भूख-प्यास को भी बाधा नहीं होती, मल-मूत्र कम हो जाते हैं और कफ शुद्ध हो जाता है। तब तो स्वयं ही ब्रह्मचर्य का पालन हो जाता है। देखो, बच्चे में प्राण की वृद्धि नहीं होती, इसलिये वह निर्विकार भाव से माँ की गोद में पड़ा रहता है। इसी प्रकार जिसका प्राण स्थित हो जाता है वह बच्चे की तरह निर्विकार हो जाता

है। उसकी मृत्यु भी नहीं होती। वह अमर हो जाता है। अत: प्राणों को स्थिर करना मनुष्य का प्रधान कर्त्तव्य है। और यही मनुष्य जन्म की सफलता है।

शरीर में जो भारापन होता है वह बात और कफ के कारण होता है। पित्त अर्थात् गर्मी बढ़ने से शरीर हल्का हो जाता है। गर्मी को ही बिजली कहते हैं। आसन और प्राणायाम के स्थिर होने पर शरीर में बिजली पैदा होती है और शरीर से कोई क्रिया की जाती है तो बिजली निकल जाती है। बिजली को रोकने से शरीर नीरोग हो जाता है। आसन स्थिर करने के लिए ऐसा संकल्प करना चाहिये कि जिस प्रकार पृथिवी को धारण करने पर शेषजी बिलकुल नहीं हिलते उसी प्रकार मैं भी स्थिर रहूँगा। मैं शरीर और प्राण का द्रष्टा हूँ। मन के सामने शरीर और प्राणों को देखते रहो।

प्राण की गति जानने के लिए नाभि पर दृष्टि रखो। यदि शरीर हिल जायगा तो प्राणों की गति बढ़ जायगी। यदि शरीर के बिना हिले ही प्राणों की गति बढ़ जाय तो समझो कि निन्द्रा-तन्द्रा आ रही है अर्थात् मन लय की ओर बढ़ रहा है। अभ्यास तो मन और प्राण की लड़ाई है। यदि प्राणों में मन लय होता है तो तमोगुण बढ़ता है और यदि मन में प्राण लीन होते हैं तो सत्वगुण की वृद्धि होती है। तमोगुण बढ़ने पर प्राणों की गति तेज हो जाती है और सत्वगुण बढ़ने पर वे स्थिर हो जाते हैं। जब मन प्राण के द्वारा काम करने लगता है तो रजोगुण बढ़ जाता है। इस अवस्था में प्राण की गति समान रहती है, परन्तु मन में संकल्प-विकल्प होने लगते हैं। ऐसा होने पर मन को संकल्प-विकल्पों से हटाकर लक्ष्य पर स्थिर करना चाहिए। ऐसा करने से वह शान्त हो जायगा। संकल्प त्याग करने से निश्चय ही इष्ट की प्राप्ति होती है। इसका मैं ठेका लेता हूँ। वीर्य, प्राण और मन इन तीनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमें से एक के स्थिर होने से तीनों स्थिर हो जाते हैं। इसी से शास्त्रों में ब्रह्मचर्य पर बहुत जोर दिया है।

संगति—मन, वाणी या शरीर से किसी का भी अनिष्ट-चिन्तन, कटु भाषण या उत्पीड़न न करना अहिंसा है।

संगति— यहाँ तक शरीर का तप बताया गया। अब वाणी का तप बताते हैं—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥१५॥

भावार्थ—दूसरों को उद्विग्न न करने वाला और जो सत्य, प्रिय और हितकारी हो ऐसा वचन बोलना तथा धर्म ग्रन्थों का अध्ययन— यह वाणी का तप कहा जाता है।

व्याख्या—दूसरों के चित्त में उद्वेग तथा क्षोभ कर देना ही वाणी का पाप है। इससे बचने का यही उपाय है कि जहाँ तक हो सके मौन रहे और यदि बोले तो उच्च स्वर से स्वाध्याय करे। यही वाणी का तप है। कहा भी है—

परापवादं पैशुन्यमनृतं चव न भाषते।
अन्योद्वेगकरं चापि तुष्यते तेन केशवः॥

अर्थात् जो पुरुष दूसरे की निन्दा, चुगली और मिथ्याभाषण नहीं करता तथा किसी को बुरी लगने वाली बात भी नहीं कहता उससे भगवान् प्रसन्न रहते हैं। अतः हित, मित, सत्य, प्रिय और सरस वाणी का प्रयोग करना ही वाणी का तप है।

संगति—अब अगले श्लोक में मानसिक तप बतलाते हैं—

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥१६॥

भावार्थ—मन की प्रसन्नता, शान्ति, मौन, मनोनिग्रह और भाव की शुद्धि—ये सब मानसिक तप कहे जाते हैं।

व्याख्या—जब तक मन शुद्ध नहीं होगा भोजन और भजन निष्फल है। अतः मन को प्रसन्न रखना चाहिए। परन्तु प्रसन्नता के साथ

शान्ति भी रहनी आवश्यक है। इसी से 'प्रसाद' के पश्चात् 'सौम्यत्व' शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात् मन के साथ नेत्र, चेष्टा, वाणी सभी प्रसन्न और शान्त हों। साथ ही मौन, ध्यान और निरन्तर इष्ट-चिन्तन हो, आत्मविनिग्रह अर्थात् मन और इन्द्रियों का निग्रह हो। ये सब बातें हों परन्तु भाव शुद्ध न हो तो सब निष्फल है, इसलिये सबके पश्चात् भाव-संशुद्धि कही है। भाव-संशुद्धि यही है कि सारे संसार को ब्रह्ममय, भगवत्स्वरूप अथवा मरुस्थल के जल के समान, गन्धर्व-नगरवत् या स्वप्नसदृश देखें। तात्पर्य यह कि राग-द्वेष को स्थान न देना, इष्टाकार वृत्ति रखना और संसार-चिन्तन को समीप न आने देना ही भाव-संशुद्धि है।

संगति— अब तीन श्लोकों में तप के सात्त्विकादि भेद बतलाते हैं—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते॥१७॥

भावार्थ—यह तीन प्रकार का तप जब अत्यन्त श्रद्धा से, फलाकांक्षाहीन पुरुषों द्वारा एकाग्रचित्त से किया जाता है तो सात्विक कहलाता है।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥१८॥

भावार्थ—जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिये दम्भपूर्वक किया जाता है वह इस लोक में राजस, अस्थिर और अनित्य होता है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥१९॥

भावार्थ—जो तप मूढ़ता से हठपूर्वक और शरीर को पीड़ा देकर तथा [मारण-उच्चाटनादि के द्वारा] दूसरों का नाश करने के लिये किया जाता है वह तामस कहलाता है।

संगति—अब दान के तीन भेद बतलाते हैं—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।।२०।।

भावार्थ—जो दान देना ही चाहिए—ऐसी कर्त्तव्य बुद्धि से प्रत्युपकार की भावना न रखकर देश-काल में सुपात्र को दिया जाता है वह सात्विक माना गया है।

व्याख्या—धन, शरीर और प्राण का अर्पण कर देना दान है। मन और अन्त:करण गुरुदेव को अर्पण कर देना सर्वस्व दान है। गंगातट आदि पुण्यस्थान दान के योग्य स्थान हैं तथा सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण आदि योग्य काल हैं। गुरु ही सत्पात्र हैं। अत: जो गुरुदेव को दिया जाता है वह सात्विक दान है। और भी जो भजनानन्दी, विरक्त और अकिञ्चन हैं वे भी दान के सत्पात्र हैं। जब जीवभाव नष्ट हो जाय और गुरु के साथ एकता हो जाय तो यह महादान है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।।२१।।

भावार्थ—जो प्रत्युपकार की दृष्टि से अथवा फल को सामने रखकर कष्टपूर्वक दिया जाता है वह दान राजस माना जाता है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

भावार्थ— जो दान अपवित्र देश या काल में अपात्रों को असत्कार और तिरस्कारपूर्वक दिया जाता है वह तामस कहा गया है।

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।।२३।।

भावार्थ—ॐ तत् और सत् इन तीन अवयवों वाला नाम परब्रह्म का कहा गया है। इसी से सृष्टि के आरम्भ में ब्राह्मण, वेद और यज्ञों का विधान किया गया था।

व्याख्या—ॐ परब्रह्म का वाचक है—'तस्य वाचकः प्रणवः' (यो.सू.) 'तत्' और 'सत्' उसी के संकेत हैं। ब्रह्मा ने इन्हीं के द्वारा सर्ग

के आरम्भ में वेद, ब्राह्मण और यज्ञों की सृष्टि की थी। अत: ये इनके मूल कारण हैं।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतप: क्रिया:।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ता: सततं ब्रह्मवादिनाम्।।२४।।

भावार्थ— अत: वेदवेत्ताओं के शास्त्रोक्त यज्ञ, दान और तप-रूप कर्म सर्वत्र 'ॐ' ऐसा उच्चारण करके किये जाते हैं।

व्याख्या—'ॐ तत्सत्' उच्चारण किये बिना कोई सत्कर्म आरम्भ नहीं किया जाता। इस श्लोक से यह भी सिद्ध होता है कि 'ॐ' के उच्चारण में मुख्यतया ब्राह्मण का ही अधिकार है। 'ब्रह्मवादिनाम्' शब्द का अर्थ भी तत्त्ववेत्ता नहीं, वेदवेत्ता ही समझना चाहिए, क्योंकि यहाँ उनके कृत्य यज्ञ-दानादि का उल्लेख है।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतप: क्रिया:।
दानक्रियाश्च विविधा: क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभि:।।२५।।

भावार्थ—'तत्' ऐसा उच्चारण करके मुमुक्षुलोग फल की इच्छा त्यागकर यज्ञ, तप और दान आदि अनेकों कर्म करते हैं।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्द: पार्थ युज्यते।।२६।।

भावार्थ— हे पार्थ! सद्भाव और साधुभाव में 'सत्' इस शब्द का प्रयोग होता है। तथा श्रेष्ठ कर्म में भी सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है।

व्याख्या— 'सद्भाव' अर्थात् किसी वस्तु का होना और 'साधुभाव' श्रेष्ठभाव। इन्हें सूचित करने के लिये 'सत्' विशेषण का प्रयोग होता है। इसी प्रकार शुभ कर्म को भी सत्कर्म कहा जाता है। अर्थात् 'सत्' का अर्थ है सत्ता और शुभ।

यज्ञे तपसि दाने च स्थिति सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।।२७।।

भावार्थ—यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति है वह भी सत् कही जाती है। तथा उनके (परमात्मा के) लिये जो भी कर्म किया जाता है वह सत् कहलाता है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह।।२८।।

भावार्थ— हे अर्जुन! अश्रद्धापूर्वक जो भी हवन, दान, तप या कर्म किया जाता है वह असत् कहलाता है। वह न मरने पर काम आता है, न इस लोक में। [अतः जो भी शुभ कर्म किया जाय वह श्रद्धापूर्वक होना चाहिये।]

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः।।१७।।



ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

अथाष्टादशोऽध्यायः

संगति– सत्रहवें अध्याय में श्रद्धा, दान, तप, यज्ञ और आहारादि के सत्त्व, रज और तम भेद से तीन-तीन प्रकार बतलाये और निर्णय किया कि केवल सात्त्विक श्रद्धा और तप आदि ही कल्याण के हेतु हैं राजसी या तामसी नहीं। अब अठारहवें अध्याय में यह बतलावेंगे कि किस कर्म से अनन्तगुण फल होता है और किससे न्यून। जैसे द्रौपदी ने दुर्वासा ऋषि को नग्न देखकर अपनी साड़ी में से फाड़कर कौपीन दे दी और उन्हें नग्न होने से बचा लिया तो वही अनन्तगुण होकर द्रौपदी का चीर हुआ और कौरवसभा में उसकी लज्जा बचाने में निमित्त बना। अब सबसे पहले अर्जुन भगवान् से संन्यास और त्याग का तत्त्व पूछते हैं।

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन।।१।।

भावार्थ– अर्जुन ने कहा–हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशिनिकन्दन! मैं आपसे संन्यास और त्याग का तत्व अलग-अलग जानना चाहता हूँ।

व्याख्या– यहाँ अर्जुन ने भगवान् को 'महाबाहो', 'हृषीकेश' और 'केशिनिषूदन' ये तीन विशेषण दिये हैं। 'महाबाहो' कहने से तात्पर्य है कि आप भगवदीय शक्ति से सम्पन्न हैं। अतः स्वयं भगवान् ही हैं। फिर 'हृषीकेश' इसलिए कहा कि आपका अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार है, अतः आपकी गोपियों के साथ जो गुह्य लीलाएँ थीं उनसे किसी को कोई भ्रान्ति नहीं रहनी चाहिये। आप भगवान् ही नहीं, पूर्ण इन्द्रियनिग्रही और तत्त्वदर्शी भी हैं। आगे 'केशिनिषूदन'

कहकर यह बतलाया कि आप दुष्टों का संहार करने वाले भी हैं। अतः अपने भक्तों की रक्षा करने में तत्पर हैं। इन सब विशेषणों से अर्जुन यह सूचित करते हैं कि इस त्याग और संन्यास के रहस्य का वर्णन करने में आपसे बढ़कर और कोई समर्थ नहीं हैं। इस प्रकार अर्जुन उन्हें सर्वसमर्थ सूचित करते हैं।

संगति— अगले श्लोक में भगवान् इनका भेद बतलाते हैं—

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।२।।

भावार्थ— श्री भगवान् बोले—सूक्ष्मदर्शी लोग काम्यकर्मों के त्याग को संन्यास समझते हैं और विद्वानों ने सम्पूर्ण कर्मों के फलत्याग को त्याग बतलाया है।

व्याख्या— शास्त्रों में कामनाएँ बहुत बतलायी हैं, किन्तु मुख्य तीन ही हैं— स्वर्ग, पशु और पुत्र की कामनाएँ। पशु या गौ की कामना इसलिए है कि पहले ऋषियों का धन गौ ही होती थी। उसी से उन्हें हव्य सामग्री प्राप्त होती थी। उक्त तीनों कामनाओं का त्याग ही संन्यास है। काम्य कर्म इस लोक या परलोक की कामना से किये जाते हैं। उन्हें त्याग देना ही संन्यास है। ऐसा संन्यास गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी किया जा सकता है। यहाँ काम्यकर्मों के त्याग पर जोर दिया है, इसलिए इसे संन्यास कहा है। यह वास्तविक संन्यास या संन्यासाश्रम नहीं है।

समस्त कर्मों का त्याग हो भी नहीं सकता, क्योंकि श्वास-प्रश्वास, और खान-पान और चलना-फिरना तो होगा ही। इसलिए कर्मफल के त्याग को ही त्याग कहा है। हाँ, सिद्ध पुरुष अवश्य सब कर्मों का त्याग कर सकते हैं, क्योंकि उनमें कर्तृत्व भोक्तृत्व का संस्पर्श भी नहीं होता।

संगति— इसी विषय में मतान्तरों का उल्लेख करते हैं—

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे।।३।।

भावार्थ— किन्हीं बुद्धिमानों का कहना है कि कर्म दोषयुक्त है, इसलिए उसे त्याग देना चाहिए। तथा अन्य विद्वान् कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप रूप कर्म नहीं त्यागने चाहिये।

व्याख्या— यज्ञों में जो पशु बलि आदि दी जाती है वहाँ हिंसा होने के कारण दोष है। अतः कर्मकाण्ड की दृष्टि से विहित होने पर भी विचार-दृष्टि से तो वह त्याज्य ही है। अतः कोई लोग तो कर्ममात्र को त्यागना ही श्रेयस्कर मानते हैं। किन्तु किन्हीं का मत है कि यज्ञ, दान और तप तो करते ही रहना चाहिये। इनसे अन्तःकरण शुद्ध होकर जिज्ञासा होगी।

संगति— यहाँ तक अन्य आचार्यों के मत बतलाकर अब भगवान् अपना मत बतलाते हैं—

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः।।४।।

भावार्थ— हे भरतश्रेष्ठ! अब त्याग के विषय में तुम मेरा निश्चय सुनो। हे पुरुषसिंह! त्याग भी तीन प्रकार का कहा गया है।

व्याख्या— यहाँ भगवान् ने अर्जुन को 'भरतसत्तम' इसलिए कहा कि ब्रह्मविद्या प्रायः लुप्त हो चुकी थी। भरतकुल में भी उस समय कोई ब्रह्मवेत्ता नहीं था। वह तत्त्वज्ञान अर्जुन प्राप्त करना चाहता है, इसलिए वह भरतकुल में सर्वश्रेष्ठ है। इसी प्रकार 'पुरुषव्याघ्र' सम्बोधन भी इसीलिए प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि अर्जुन सिंह के समान निर्भय है और जो निर्भय होता है वही ब्रह्मविद्या प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न— तत्त्ववेत्ता का क्या लक्षण है?

उत्तर— ज्ञान के कुछ लक्षण तो इस श्लोक द्वारा पहले बतलाये जा चुके हैं—

अक्रोधवैराग्यजितेन्द्रियत्वं क्षमादयासर्वजनप्रियत्वम्।
निर्लोभदानं भयशोकहानं ज्ञानस्य चिह्नं दशलक्षणानि।।

इनके सिवा जो क्षमावान् हो, आत्मचिन्तन में तत्पर हो, अमानी और निर्भय हो तथा सुख-दु:ख में समान रहे और मानापमान में अविचल हो वह भी ज्ञानी है। वह क्षमावान् इसलिए होता है, क्योंकि शरीर से असंग होता है। आत्मा के सिवा किसी की सत्ता ही नहीं है, अत: और किसका चिन्तन करे। शरीर को वह स्वयं घृणित समझता है, इसलिए उसे मानापमान का कोई ध्यान नहीं होता। जब सब अपने ही स्वरूप हैं तो वह भय किससे करे। शरीर से उसका सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिए वह सुख-दु:ख में समान रहता है। वह सम्पूर्ण मत-मतान्तर, प्रवृत्ति-निवृत्ति, ज्ञानी-अज्ञानी, और प्रेमी-अप्रेमियों को आकाश-कुसुमवत् देखता है, इसलिए सभी से उदासीन रहता है। ये सब लक्षण भी केवल संकेत मात्र हैं। वास्तव में तो तत्त्ववेत्ता का कोई लक्षण नहीं होता। अथवा सब संसार उसी का स्वरूप है, इसलिए सब उसी की महिमा है। ज्ञान तो स्वसंवेद्य है। यदि उसका कोई लक्षण हो तो वह परसंवेद्य हो जायगा। द्रष्टा को दृश्य और रज्जु को सर्प कैसे जानेगा।

यज्ञदानतप:कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।५।।

भावार्थ—यज्ञ, दान और तप आदि कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं, ये तो करने ही चाहिये, क्योंकि यज्ञ, दान और तप तो जीवन्मुक्तों को भी पवित्र करने वाले हैं।

व्याख्या—प्रश्न—ये जीवन्मुक्तों को क्या पवित्र करेंगे, वे तो स्वयं परम पवित्र होते हैं।

उत्तर—उनकी अनात्माकार वृत्ति न होने देना ही उनकी पवित्रता है।

प्रश्न—क्या जीवन्मुक्त संन्यासी यज्ञादि कर सकता है?

उत्तर—क्यों नहीं। यज्ञ तो पशु–पक्षी आदि सभी जीव कर रहे हैं, जैसे आटे में जल डालना, पेट में अन्न डालना आदि क्रियाएँ भी तो यज्ञ ही है। यद्यपि ये अविधि यज्ञ हैं। परन्तु भगवत्प्रीत्यर्थ होने पर ये साधनरूप हो जाते हैं। संन्यासी के लिए आत्माकार वृत्ति करना, सत्संग करना तथा ज्ञानोपदेश और स्वाध्याय करना—ये सब यज्ञ ही हैं। संन्यासी ये ही यज्ञ करते हैं, द्रव्य यज्ञ नहीं।

संगति— जिस प्रकार न्यायाधीश कहता है कि कानून के अनुसार तो ऐसा है, परन्तु मेरा मत यह है, इसी प्रकार भगवान् भलीभाँति निर्णय करके अपना मत कहते हैं—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।६।।

भावार्थ— हे पार्थ! इन कर्मों को भी आसक्ति और फल का त्याग करके करना चाहिए। यह मेरा निश्चित उत्तम मत है।

व्याख्या— भगवान् ने यह कर्मकाण्डियों का सिद्धान्त कहा है। उनका तो यही सिद्धान्त है कि उपासना और ज्ञान कुछ नहीं कर्मकाण्ड ही वेदोक्त सिद्धान्त है। अतः आसक्ति को त्याग कर कर्म करते रहना चाहिए। परन्तु यह बात तर्क और अनुभव से सिद्ध नहीं होती। अनुभव तो यही बताता है कि तत्त्वनिष्ठ से व्यावहारिक कर्म नहीं होते। अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करना है और उसी का वह अधिकारी है। इसलिए उसके अधिकार के अनुसार वे उसे निष्काम कर्म में प्रवृत्त कर रहे हैं।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।७।।

भावार्थ—शास्त्रविहित कर्म का त्याग उचित नहीं हैं। मोहवश उसे त्याग बैठना तमोगुणी कहा गया है।

व्याख्या—यदि त्याग करने वाला वैराग्यवान् मुमुक्षु है तब तो शास्त्रोक्त कर्म का त्याग करके संन्यासाश्रम ग्रहण करना भी उचित ही है। परन्तु वैराग्य न होने पर केवल देखा–देखी ऐसा करना तो तमोगुण ही है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥८॥

भावार्थ—जो गृहस्थाश्रम में दुःख है ऐसा समझकर केवल शारीरिक कष्ट के भय से कर्म छोड़ बैठते हैं वे तो रजोगुणी त्याग करते हैं। उन्हें त्याग का फल (शान्ति) नहीं मिलता।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गंत्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥९॥

भावार्थ—हे अर्जुन! जो पुरुष विहित कर्मों को 'करना ही चाहिए' ऐसी बुद्धि से आसक्ति और फल का त्याग करके करता है उसका वह त्याग सात्त्विक माना गया है।

व्याख्या—रूपासक्ति, धन, रसास्वाद, नियमविरुद्ध दया और मानापमान– इन पाँच का त्याग ही सात्त्विक त्याग है।

संगति—ये साधकों के लिए त्रिगुणमय त्याग बतलाये। अब इन सबसे श्रेष्ठ जो तत्त्ववेत्ता का त्याग है वह बतलाया जाता है–

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥१०॥

भावार्थ—जो त्यागी, सत्त्वसम्पन्न, मेधावी और संशयशून्य महापुरुष है वह तो अकुशल। दुःखदायी कर्म से द्वेष नहीं करता और कुशल (सुखदायी) कर्म में आसक्त नहीं होता।

व्याख्या—जो पहले निष्काम कर्म और उपासना कर चुका है उसे जब तत्त्वबोध हो जाता है तो उसका कहीं भी राग या द्वेष नहीं रहता, क्योंकि वह सभी का अत्यन्ताभाव देखता है अथवा सबको अपना स्वरूप ही समझता है। जब वह सबका अत्यन्ताभाव देखता है तो पूर्ण त्यागी है और जब सबको स्वस्वरूप देखता है तो पूर्णसंग्रही है। जब उसकी अन्तर्दृष्टि होती है तो वह सबका अत्यन्ताभाव देखता है और पूरा नास्तिक होता है और जब बाह्य दृष्टि होती है तो सबको अपना स्वरूप देखता है और पूरा आस्तिक होता है। वह त्यागी है,

इसलिए सत्त्वसम्पन्न है और सत्त्वसम्पन्न होने के कारण मेधावी (बुद्धिमान्) है। तथा बुद्धिमान् होने के कारण उसके सब संशय नष्ट हो गये हैं।

'त्यागी'—अन्तर्बाह्य दृश्य, पञ्चकोश तथा इहलोक परलोक का त्याग ही वास्तविक त्याग है। 'सत्त्वसमाविष्ट'—सत्तामात्र जो आत्मतत्व है उसमें स्थिति ही सत्त्वसमावेश है। जिसे पूर्णतया नित्यानित्यविवेक है वही मेधावी है। 'छिन्नसंशय'–ईश्वर जीव का भेद, जीव–जीव का भेद, ईश्वर–प्रकृति का भेद–इन सब भेदों की निवृत्ति होकर पूर्ण ज्ञान हो जाना ही संशयों का छेदन है। जिसकी सत्त्व में स्थिति होगी वही त्यागी है, वही मेधावी है, वही छिन्न संशय है और वही सर्वगुण सम्पन्न है।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥११॥

भावार्थ—जो देहधारी है उसके द्वारा कर्मों का पूर्णतया त्याग नहीं हो सकता। जो कर्मफल का त्याग करने वाला है वही त्यागी कहा जाता है।

व्याख्या—ऐसा करने पर ही कोई सन्तपद प्राप्त कर सकता है, क्योंकि संग्रह की अपेक्षा त्याग ही श्रेष्ठ और सुकर (सरल) है। संग्रह की तो कभी पूर्ति नहीं हो सकती। हाँ, त्याग पूरा किया जा सकता है। किन्तु त्याग में भी क्रिया का त्याग देह के रहते हुए सम्भव नहीं है। अतः आवश्यक कर्म तो करे, परन्तु फल की कामना न करे।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥१२॥

भावार्थ—जो अत्यागी (कर्मफल का त्याग न करने वाले) है उन्हें देह त्याग करने पर इष्ट (अनुकूल), अनिष्ट (प्रतिकूल) और मिश्रित तीन प्रकार का कर्मफल प्राप्त होता है। किन्तु संन्यासियों (कर्मफल–त्यागियों) को कहीं कोई फल नहीं मिलता।

व्याख्या—जिनके पाप-पुण्य समान होते हैं वे मनुष्य योनि में जाते हैं, जिनके पुण्यकर्म अधिक होते हैं वे देवादि योनियों में जाते हैं और जिनमें पाप की प्रधानता होती है वे चौरासी लाख तिर्यक् योनियों में जाते हैं। परन्तु कर्मफलत्यागी संन्यासियों को कोई योनि प्राप्त नहीं होती, क्योंकि आत्मा अकर्ता-अभोक्ता है। अतः तत्त्ववेत्ता करते हुए भी कुछ नहीं करता।

संगति—कर्म करने वाले पाँच हैं। अर्थात् कोई भी क्रिया पाँच के द्वारा निष्पन्न होती है। इन पाँचों को बतलाने से पहले भगवान् यह संकेत करते हैं कि मैं अपनी ओर से कुछ नहीं कह रहा हूँ। जो कुछ भी कहा जाता है वह सांख्यशास्त्र के अनुसार है।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।।१३।।

भावार्थ—हे महाबाहो! सम्पूर्ण कर्मों निष्पत्ति में सांख्य सिद्धान्त में कहे हुए ये पाँच कारण हैं, वह मुझसे सुनो।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।।१४।।

भावार्थ—[वे पाँच कारण ये हैं]-अधिष्ठान (शरीर), कर्ता (चिदाभास), भिन्न-भिन्न प्रकार के कारण (इन्द्रियों), तरह-तरह की चेष्टाएँ और पाँचवाँ दैव (विधाता या इन्द्रियों के अधिष्ठात् देव)।

शरीरवाङ् मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।।१५।।

भावार्थ—मनुष्य शरीर वाणी या मन से जो भी शुभ, या अशुभ कर्म करता है उसके पाँच ही हेतु होते हैं।

संगति—अब यह बतलाते हैं कि जो केवल आत्मा को ही कर्ता मानता है वह अज्ञानी है—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।।१६।।

भावार्थ—परन्तु ऐसा होने पर भी जो केवल आत्मा को ही कर्ता देखता है वह दुर्मति तो अशुद्धबुद्धि होने के कारण यथार्थ नहीं देखता।

व्याख्या—शरीर के द्वारा सब कुछ करते हुए भी बोधवान् अपने को अकर्ता देखता है, किन्तु अज्ञानी अपने को ही कर्ता-भोक्ता समझता है। अतः बोधवान् का अपने कर्मों के शुभाशुभ फल से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसी से श्रुति कहती है— "नैनं कृताकृते तपतः।"

प्रश्न—आप कहते हैं कि बोधवान् के शुभाशुभ फल नहीं होते तो क्या बोधवान् में काम-क्रोधादि असद्वृत्तियाँ रहती हैं?

उत्तर—बोधवान् में ये क्षणिक आभासमात्र रहते हैं। वह इन्हें पालता नहीं, किन्तु कोई प्रसंग उपस्थित होने पर इनका क्षणिक स्फुरण हो सकता है। परन्तु इन पर उसका अधिकार रहता है। ये उसे दबा नहीं सकते। ऐसा भी कहा है—

विरक्तो विषयद्वेष्टा रागी विषयलोलुपः।
ग्रहमोक्षविहीनस्तु न विरक्तो न रागवान्॥

अर्थात्—विरक्त तो विषयों से द्वेष करता है और रागी उन में आसक्त रहता है। किन्तु ज्ञानी विषयों को न पकड़ता है न छोड़ता है, इसलिए वह न रागी है न विरागी। तात्पर्य यह है कि मन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। काम-क्रोधादि भी बोध के बाधक नहीं, शान्ति के बाधक हैं। ये शरीर के स्वभाव हैं, जब तक शरीर है इनका भी भास रहेगा ही।

प्रश्न—यदि ज्ञानी को भी काम-क्रोधादि रहे तो ज्ञान का फल ही क्या हुआ ? अशान्ति तो बनी ही रही।

उत्तर—अज्ञानी का व्यष्टि शरीर में अभिमान होता है, इस लिए वह उसके विकारों को अपने में मानता है। और उनके कारण अपने को पापी या पुण्यात्मा समझता है। किन्तु ज्ञानी को शरीर और अन्तःकरण स्वप्नवत् जान पड़ते हैं। उसका अभिमान सबके अधिष्ठानभूत आत्मा में रहता है। अतः प्रसंगवश होने वाले काम-

क्रोधादि को भी वह स्वप्नवत् ही समझता है। उसकी वृत्ति अपने शुद्ध स्वरूप से कभी नहीं हटती।

प्रश्न—जिस समय काम-क्रोध की वृत्ति होगी उस समय तो उसकी वृत्ति स्वरूप से हट ही जानी चाहिए, क्योंकि विकाराकार वृत्ति के समय ब्रह्माकार वृत्ति और ब्रह्माकार वृत्ति के समय विकाराकार वृत्ति होनी असम्भव है।

उत्तर—ज्ञानी ब्रह्माकार वृत्ति करता नहीं। ब्रह्माकारवृत्ति तो साधनारूपा है। वह स्वरूपसाक्षात्कार से पहले की जाती है। स्वरूप साक्षात्कार होने पर वृत्ति निश्चयात्मिका हो जाती है। फिर ब्रह्म में ही आत्माभिमान हो जाता है। किन्तु शरीर और मन तो प्रारब्ध के पुतले हैं। अपने प्रारब्धानुसार सुख-दुःख भोगने के लिए तरह-तरह की वृत्तियाँ उठती रहती हैं। इसलिए मानसिक वृत्तियों के बदलते रहने पर भी बुद्धि की निश्चयात्मिका वृत्ति एक ही रहती है। ब्रह्माकारवृत्ति निश्चयात्मिका होने के कारण बुद्धि की है और काम-क्रोधादि वृत्तियाँ विकारात्मिका होने के कारण मन की हैं। अतः उनके एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है। यदि कहा जाय कि प्रारब्ध का फल तो सुख-दुःख है, राग द्वेष नहीं, तो राग-द्वेष का अभाव रहने पर तो सुख-दुःख का भोग भी नहीं हो सकता; क्योंकि राग सुखानुशयी अर्थात् सुख के बाद रहने वाला होता है और द्वेष दुःखानुशयी। इससे निश्चय हुआ कि ज्ञानी में स्वदृष्टि से राग-द्वेष और काम-क्रोध का अत्यन्ताभाव होने पर भी देह-दृष्टि से उनकी प्रतीति होने में कोई हानि नहीं है, क्योंकि उसमें कर्माशय नहीं होता। अर्थात् उसे ऐसा भ्रम कभी नहीं होता कि मैं कर्ता-भोक्ता हूँ।

अथवा यों समझो कि कर्माशय चार प्रकार के होते हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। समाधिनिष्ठ तत्त्ववेत्ता में वे प्रसुप्त रहते हैं, व्यवहारस्थ तत्त्ववेत्ता में तनु रहते हैं, धर्मात्मा या साधक में विच्छिन्न रहते हैं और संसारी में उदार रहते हैं। वे मरते समय भी लड़के से कह जाते हैं कि इसका बदला लेना। तत्त्ववेत्ता में जो तनु

कर्माशय कहा है वह भी व्यावहारिकी दृष्टि से हैं। वास्तव में तो जब उसका शरीर ही नहीं तो कर्माशय कहाँ रहेगा।

संगति— अब तत्त्ववेत्ता की पूर्ण असंगता का वर्णन करते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्तिन निबध्यते।।१७।।

भावार्थ—जिस पुरुष में अपने कर्तापन का अभिमान नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह इन सब लोकों को मारकर भी नहीं मारता और न बन्धन को प्राप्त होता है।

व्याख्या—परन्तु यह बात अर्थवाद (स्तुति-वाक्य) है।

प्रश्न—आपने तो कहा था कि भगवद्वाक्य यथार्थ होते हैं, उनमें अर्थवाद-बुद्धि करना अपराध है। फिर आप इस श्लोक को अर्थवाद क्यों बताते हैं?

उत्तर—व्यवहार में तो अर्थवाद नहीं कह सकते, परन्तु यह बात कही गयी है जिज्ञासु की निष्ठा बढ़ाने के लिए ही। तत्त्ववेत्ता के लिए तो गीता क्या, सम्पूर्ण वेदशास्त्र भी परमार्थ दृष्टि से अर्थवाद ही हैं, क्योंकि शास्त्र दृश्य-सत्ता में हैं, वे जिज्ञासु के लिए हैं, बोधवान् के लिए नहीं। कहा भी है—

वर्णाश्रमाभिमानेन श्रुतेर्दासो भवेन्नरः।
वर्णाश्रमविहीनो यो वर्तते श्रुतिमूर्द्धनि।।

अर्थात्—मनुष्य वर्णाश्रम का अभिमान होने पर श्रुति का दास है, जो वर्णाश्रम के अभिमान से शून्य है वह तो श्रुति के सिर पर रहता है।

संगति—अब यह बतलाते हैं कि कर्म की प्रेरणा और कर्म का संग्रह किस प्रकार होता है—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः।।१८।।

भावार्थ—ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता—ये तीनों कर्म के प्रेरक हैं तथा करण, कर्म और कर्ता—ये तीन कर्म के संग्रह हैं।

व्याख्या—यहाँ 'ज्ञान' का अर्थ कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का व्यावहारिक ज्ञान है, परमार्थ-ज्ञान नहीं। 'ज्ञेय' दृश्यवर्ग को समझना चाहिए। 'करण' इन्द्रिय वर्ग और मन-बुद्धि आदि हैं। तात्पर्य यह कि ज्ञानादि के द्वारा तो कर्म में प्रेरणा होती है और करणादि के द्वारा क्रिया की निष्पत्ति होती है। इन सबका साक्षी आत्मा अकर्ता ही है।

संगति—ये ज्ञान कर्म और कर्ता गुणभेद से तीन-तीन प्रकार के होते हैं—यह बात अगले श्लोकों में बतायी जाती है—

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि।।१९।।

भावार्थ—जिसमें गुणों का विवेचन किया है उस सांख्य शास्त्र में ज्ञान, कर्म और कर्ता भी गुणभेद से तीन-तीन प्रकार के ही कहे हैं। उन्हें भी भली भाँति सुनो।

व्याख्या—भगवान् के इस कथन से यह बात व्यक्त होती है कि वे अपनी ओर से कुछ नहीं कह रहे हैं, सांख्यशास्त्र के आधार पर ही बोल रहे हैं।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।।२०।।

भावार्थ—जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य अलग-अलग सब प्राणियों में एक अविभक्त अविनाशी भाव देखता है। उस ज्ञान को तुम सात्विक जानो।

व्याख्या—ऐसा ज्ञान पूर्व पुण्य और ईश्वर एवं गुरुदेव की कृपा से ही होता है। यही यथार्थ ज्ञान है। ऐसा होने पर सब अपने ही हो जाते हैं, किसी में कोई राग-द्वेष नहीं रहता। यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह ब्राह्मण है—इत्यादि देखना भेद-ज्ञान है। जहाँ भेद होता है वहाँ राग-द्वेष होता है। सच पूछा जाय तो सबमें एक सत्ता देखना ही ज्ञान है और भेद-दृष्टि ही अज्ञान है। परन्तु भक्ति में कार्य-दृष्टि का महत्व

होता है और ज्ञान में कारण-दृष्टि का। कहीं कारण का महत्व अधिक होता है कहीं कार्य का। जैसे लोक में पुत्र की अपेक्षा माता पिता को बड़ा माना जाता है। परन्तु संन्यास ले लेने पर पुत्र ही बड़ा हो जाता है। लकड़ी एक रुपये की होती है परन्तु उसकी मूर्त्ति घड़ ली जाय तो वह १० रुपये की हो जाती है। किन्तु माया जीव-जगत्-ये सब स्वप्नमात्र है-ऐसी दृष्टि हो तो कारणदृष्टि ही का विशेष महत्त्व होता है।

संगति—अब राजस ज्ञान बतलाते हैं—

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।।२१।।

भावार्थ—जिस ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण भूतों में अनेक पदार्थों को भिन्न-भिन्न पात्रों के रूप में जाना जाता है उस ज्ञान को राजस जानो।

व्याख्या—एक को अनेक रूपों में देखना, अर्थात् मिट्टी को भिन्न-भिन्न पात्रों में जानना राजस ज्ञान है। इस प्रकार कारणज्ञान सात्विक है और कार्य-ज्ञान राजस। यह नियम है कि प्रीति कार्य में होती है, कारण में नहीं। जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो पहले कारण पर ही दृष्टि जाती है, किन्तु उसका कोई आकर्षण नहीं होता। यदि कारण में प्रीति होती भी है तो कार्य के लोभ से ही होती है। यदि घड़ा अच्छा बना हो तो मिट्टी भी अच्छी लगती है और उसे लेने के लिये दूर देश में भी चले आते हैं। कार्य में प्रीति होना ही जीवभाव है, क्योंकि परिच्छिन्न दृष्टि होने पर ही कार्य में प्रीति होती है। व्यापक दृष्टि हुए बिना कार्य का मोह निवृत्त नहीं होता और न जीवत्व ही नष्ट होता है। इसी से बोध होने पर कार्य का आकर्षण नहीं रहता और यही कल्याण का हेतु है।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

भावार्थ—जबकि एक कार्यरूप शरीर में ही अकारण पूर्णतया आसक्ति हो जाय तथा जिसमें तत्त्वदृष्टि भी न हो ऐसा तुच्छ ज्ञान तामस कहा गया है।

व्याख्या—जो पुरुष कार्यरूप शरीर में ही पूर्णरूप से आसक्त हो जाय और जिसमें कोई तत्त्वदृष्टि भी न हो वह तुच्छ ज्ञान तो तमोगुणी ही है। यह ज्ञान ऐसा ही है जैसे रज्जु में सर्प का और स्थाणु में पुरुष का ज्ञान।

संगति—अब अगले श्लोकों में कर्म के भेद बतलाये जाते हैं—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते।।२३।।

भावार्थ—जो कर्म शास्त्रविहित हो, आसक्तिशून्य हो, राग-द्वेषरहित होकर किया जाय और फलाकांक्षा से शून्य पुरुष द्वारा अनुष्ठित हो वह सात्त्विक कहा जाता है।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।।२४।।

भावार्थ—जो कर्म अहंकारपूर्वक सकाम पुरुष द्वारा बड़े परिश्रम से किया जाय वह राजस कहा गया है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।।२५।।

भावार्थ—जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और अपने सामर्थ्य का विचार न करके केवल मोहवश आरम्भ कर दिया जाता है वह तामस कहलाता है।

व्याख्या—अनुबन्ध—परिणाम, अर्थात् इससे सुख होगा या दुःख इसका विचार न करना। पाँच रुपया खर्च करने की सामर्थ्य होने पर भी पचास खर्च कर डालना। पूर्वापरका विचार किये बिना कोई कार्य कर बैठना, जैसे भोजन तैयार होने से पहले ही जीमने बैठा देना। मेरी बात किसी को रुचती है या नहीं, इसका विचार न करके बोले जाना। यह सब अनुबन्ध का विचार न करना है।

क्षय—इस काम को करने पर कितनी हानि होगी, इसका विचार न करके कार्य आरम्भ कर देना।

हिंसा—ऐसा करने से किसी को कष्ट तो नहीं होगा—ऐसा विचार न करना। जैसे कर रहे हैं यज्ञ और दूसरों से बेगार लेते हैं।

पौरुष—अपनी कितनी शक्ति है इसका विचार न करना।

यह सब बिना विचारे मोहवश जो काम किया जाता है वह तामस होता है।

संगति— अब तीन प्रकार के कर्ता बतलाते हैं।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते।।२६।।

भावार्थ—[क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विवेक हो जाने के कारण] जिसकी किसी में आसक्ति नहीं है, जो अहंकाररहित है, धैर्य और उत्साहयुक्त है तथा सिद्धि-असिद्धि में [हर्ष-शोकादि] विकारों से रहित है, ऐसा कर्त्ता सात्त्विक कहा जाता है।

व्याख्या—व्यक्ति मुक्तसङ्ग होने पर ही अहंकारशून्य हो सकता है। धैर्य और उत्साहयुक्त तो रजोगुणी भी हो सकते हैं, परन्तु वे सिद्धि-असिद्धि में समान नहीं रह सकते।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।।२७।।

भावार्थ—जो आसक्तियुक्त हो, कर्मफल की कामना वाला हो लोभी, दूसरों को कष्ट पहुँचाने वाला और अपवित्र हो तथा हर्ष-शोक से युक्त हो वह कर्ता राजस कहा जाता है।

व्याख्या—सात्विक कर्ता से इसका इतना ही अन्तर है कि वह आसक्तिशून्य होता है और यह आसक्तियुक्त होता है तथा वह सिद्धि-असिद्धि में निर्विकार होता है और यह हर्ष-शोकरूप विकारों से युक्त होता है।

अयुक्तःप्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते।।२८।।

भावार्थ—जो युक्तहीन, साधारण, कर्त्तव्याकर्त्तव्यशून्य, हठीला, अकर्मण्य, आलसी, विषादी (काम बिगड़ने पर दु:खी हो जाने वाला) और दीर्घसूत्री (कार्य की पूर्ति में अधिक समय लगाने वाला) हो वह कर्ता तामस कहा जाता है।

संगति—अब बुद्धि और धृति के भेद बतलाते हैं।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय।।२९।।

भावार्थ—अब हे धनञ्जय! गुणों के अनुसार बुद्धि और धृति के भी तीन प्रकार के भेद मेरे द्वारा पृथक्-पृथक् कहे हुए सुनो।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३०।।

भावार्थ—हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्ति-निवृत्ति, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, भय-अभय और बन्ध-मोक्ष को जानती है वह सात्त्विकी है।

प्रश्न—प्रवृत्ति और निवृत्ति में क्या अन्तर है।

उत्तर—चित्त की व्यवहारोन्मुक्त वृत्ति प्रवृत्ति है और निर्व्यापार स्थिति निवृत्ति है। विचारदृष्टि से इनमें कोई न्यूनाधिक नहीं है। परन्तु इतना भेद अवश्य है कि प्रवृत्ति में विचार का पूर्ण विकास नहीं होता और निवृत्ति में होता है। जैसे मिट्टी और काँच विचारदृष्टि से तो एक ही है। परन्तु मिट्टी के मकान में बैठा हुआ मनुष्य बाहर का कोई पदार्थ नहीं देख सकता, किन्तु काँच के मकान में बैठा हुआ सब कुछ देख सकता है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।।३१।।

भावार्थ—हे पार्थ! जिसके द्वारा मनुष्य धर्म-अधर्म और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को यथार्थ रूप से नहीं जानता वह बुद्धि राजसी है।

व्याख्या—उपर्युक्त दो श्लाकों में कार्य अकार्य शब्द आये हैं। दोनों का अर्थ कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य ही है। परन्तु सात्त्विक बुद्धि वाला

इनके विभाग को ठीक–ठीक जानता है और राजस बुद्धि वाला कर्त्तव्य को अकर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य को कर्त्तव्य समझता है। इस विषय में उसका निर्णय विपरीत होता है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।३२।।

भावार्थ— हे पार्थ! जो तमोगुण से आच्छादित बुद्धि अधर्म को ही धर्म मानती है तथा और सब विषयों को उल्टे ही समझती है वह तमोगुणी है।

संगति—अगले तीन श्लोकों में तीन प्रकार की धृति के भेद बतलाते हैं।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिःसा पार्थ सात्त्विकी।।३३।।

भावार्थ—हे पार्थ! जिस अव्यभिचारिणी धारणा से योग द्वारा प्राण और इन्द्रियों की क्रिया को वश में किया जाता है वह सात्त्विकी धृति है।

यया तु धर्मकामार्थन्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।।३४।।

भावार्थ—हे अर्जुन! जिस धृति के द्वारा मनुष्य धर्म, अर्थ और कामों को धारण करता है और प्रसंगवश फल की कामना भी करता है वह धृति राजसी है।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।।३५।।

भावार्थ—जिस धारणा शक्ति के द्वारा दुर्बद्धि पुरुष स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मद को नहीं छोड़ पाता वह धृति तामसी है।

व्याख्या—ऐसे मनुष्य को कितना ही समझाओ वह अपना स्वभाव नहीं बदलता।

संगति—अब तीन प्रकार के सुखका वर्णन करते हैं—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।।३६।।

भावार्थ—हे भरतश्रेष्ठ! अब तुम मुझसे तीन प्रकार के सुख के विषय में भी सुनो, जिसमें अभ्यासवश मनुष्य रमण करने लगता है और दुःखों का अन्त प्राप्त कर लेता है।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।।३७।।

भावार्थ—जो पहले तो विष के समान कटु जान पड़े, किन्तु परिणाम में अमृत के समान हितकारी हो वह मन और बुद्धि की निर्मलता से उत्पन्न होने वाला सुख सात्विक कहा गया है।

व्याख्या—प्रातःकाल शीघ्र उठना, स्नान करना, व्रत, उपवास, जप, पाठ, ब्रह्मचर्य का पालन तथा सम्बन्धी और सम्पत्ति को छोड़कर संन्यास लेना—ये सब आरम्भ में बड़े कठिन जान पड़ते हैं। परन्तु अन्त में अमृत के समान सुखदायी हैं। प्रातःकाल सोने से साधु का पतन होता है, ब्रह्मचर्य नष्ट होता है और गृहस्थ दरिद्री हो जाता है। कष्टसाध्य होने पर भी कल्याण सात्विक सुख से ही होता है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।३८।।

भावार्थ—विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न हुआ जो सुख आरम्भ में अमृत के समान, किन्तु परिणाम में विष के तुल्य होता है वह राजस सुख माना गया है। जैसे स्त्री-पुत्रादि और खान-पान का सुख आरम्भ में सुख जान पड़ता है, किन्तु परिणाम में दुःख, शोक और रोग का ही कारण होता है।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।।३९।।

भावार्थ—जो आरम्भ में और अन्त में मन को मोह में ही डालने वाला होता है वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से होने वाला सुख तामस कहा गया है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।।४०।।

भावार्थ—पृथिवी में, स्वर्ग में तथा देवताओं में भी कोई ऐसा प्राणी नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीन गुणों से मुक्त हो।

व्याख्या—उन्नसीवें से लेकर उनचालीसवें श्लोक तक यह बतलाया गया है कि स्वर्ग, पाताल, इहलोक, परलोक पर्यन्त जो कुछ है सब त्रिगुणात्मक है। परन्तु इन सबसे परे भी एक तत्त्व है, जिसे भगवान् गुणातीत कहते हैं। किन्तु उसकी प्राप्ति तत्त्वज्ञ महापुरुषों को ही हो सकती है। वह परमानन्द अवर्णनीय है, संसारी जीव तो त्रिगुणात्मक है। परन्तु इन सबसे परे भी एक तत्त्व है, जिसे भगवान् गुणातीत कहते हैं। किन्तु उसकी प्राप्ति तत्त्वज्ञ महापुरुषों को ही हो सकती है। वह परमानन्द अवर्णनीय है, संसारी जीव तो त्रिगुणात्मक सुखों में ही फँसे हुए हैं।

परमात्मा का साक्षात् दर्शन वेदशास्त्र भी नहीं करा सकते। वे भी केवल संकेतमात्र करते हैं। एक बार श्री जानकीजी से वनवासिनी नारियों ने पूछा कि तुम्हारे साथ ये दो पुरुषसिंह कौन हैं। तब उन्होंने उत्तर दिया कि इनमें जो गौरवर्ण हैं वे मेरे छोटे देवर हैं। इससे निश्चय हो गया कि दूसरे इनके पति देव हैं। इसी प्रकार शास्त्रों ने नेति-नेति कहकर सबका निषेध किया है और इसी प्रकार निषेधावधिभूत तत्व को परमात्मा बतलाया है।

संगति—आगे के चार श्लोकों में चारों वर्णों के कर्म बतलाते हैं—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।४१।।

भावार्थ—हे परन्तप! स्वभावजनित गुणों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्मों का भी त्याग किया गया है।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥४२॥

भावार्थ—शम (मन की शान्ति), दम (इन्द्रियनिग्रह) तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता, ज्ञान (शास्त्रज्ञान) विज्ञान (तत्त्वज्ञान) और आस्तिकता (शास्त्र और ईश्वर में श्रद्धा) ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।

व्याख्या— ब्राह्मण के विषय में ऐसा भी कहा है कि वह क्रोध करना नहीं जानता—'क्रोधं कर्तुं न जानाति एतद् ब्राह्मण-लक्षणम्।'

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥४३॥

भावार्थ—बल, तेज, धैर्य कुशलता, युद्ध से न भागना, दान और शासन करने का स्वभाव—ये क्षत्रिय के स्वभाविक कर्म हैं।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥४४॥

भावार्थ—कृषि, गोपालन और वाणिज्य—ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं। तथा शूद्र का स्वभाविक कर्म सेवा है।

व्याख्या—इन तीनों श्लोकों में चारों वर्णों के कर्मों का वर्णन करते हुए भगवान् ने 'स्वभावजम्' शब्द का प्रयोग किया है। इससे निश्चय होता है कि ये चारों वर्णों के जन्मजात कर्म हैं, उपार्जित नहीं।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥४५॥

भावार्थ—मनुष्य अपने-अपने कर्म में लगे रहने पर सम्यक् सिद्धि (अन्तःकरण की शुद्धि या क्रममुक्ति) प्राप्त कर लेता है। अपने कर्म में निरत रहने पर जिस प्रकार सिद्धि मिलती है वह सुनो—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥४६॥

भावार्थ—जिससे सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति हुई है और जिसके द्वारा यह सब व्याप्त है, अपने कर्म-द्वारा उसकी पूजा करने पर मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है। अर्थात् उसे उस परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।४७।।

भावार्थ—भले प्रकार अनुष्ठान किये परधर्म से गुणरहित भी स्वधर्म श्रेष्ठ है। जो कर्म स्वभाव से निश्चित है उसे करने पर कोई दोष नहीं होता।

व्याख्या—स्वकर्म अर्थात् अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन करना ही परमात्मा की पूजा है। अतः अपना वर्णाश्रम धर्म गुणरहित प्रतीत होने पर भी वास्तव में त्याज्य नहीं होता। अपने लिए वही कल्याणकारी होता है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।।४८।।

भावार्थ—हे कुन्तीनन्दन! अपना स्वाभाविक कर्म दोषयुक्त हो तो भी नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि धुएँ से अग्नि के समान सभी आरम्भ दोष से ढके हुए हैं।

व्याख्या—धर्म जन्म के साथ ही लगा हुआ है। जैसे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ बालक स्वभाव से ही जप, ध्यान और स्वाध्याय में निरत रहता है तथा क्षत्रिय का बालक सिंहादि वन्य पशुओं का आखेट करता है। अतः अपना कर्म दोषयुक्त जान पड़े तो भी उसे त्यागे नहीं, क्योंकि अग्नि के साथ जैसे धुआँ रहता है वैसे ही कोई न कोई दोष तो प्रत्येक कर्म के साथ लगा हुआ है।

कर्मों में दोषदृष्टि तो भक्त और जिज्ञासुओं की होनी चाहिए। उनके लिए तो कर्ममात्र दोषयुक्त है। जिज्ञासु को तो यही विचार करना चाहिए कि मैं कौन हूँ, यह संसार क्या है और यह आ कहाँ से गया इत्यादि। परन्तु कर्मकाण्डी को तो कर्म ही इष्ट होता है, क्योंकि यह संसार कर्म ही का तो परिणाम है। अतः उसे निरन्तर स्वकर्म का अनुष्ठान करना चाहिए। इसी से ये कर्मलोलुप कर्मकाण्डी भक्ति और ज्ञान को नहीं पहचान सकते। कहा भी है—'यत्कर्मी न विजानाति' इत्यादि।

संगति—अब निष्काम कर्म और उपासना का फल बतलाते हैं—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।।४९।।

भावार्थ—जिसकी बुद्धि सर्वत्र अनासक्त है, जिसका अन्तःकरण अपने अधीन है और जिसे कोई इच्छा नहीं है, वह संन्यास के द्वारा परम नैष्कर्मसिद्धि (मुक्ति) प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या—जो मुक्ति चाहता हो वह तीन काम करे। (१) स्त्री-पुत्रादि से लेकर सम्पूर्ण संसार से अनासक्त हो जाय। (२) जितात्मा हो—अपनी इन्द्रियों को वश में रखे। परन्तु संसार में अनासक्ति तभी होती है जब उसे मृगतृष्णा के समान मिथ्या समझे। इतने से भी काम न चले तो तीसरा विशेषण दिया जाता है 'विगतस्पृह'। अर्थात् कोई इच्छा न रखे। इनमें से एक लक्षण भी नहीं होगा तो काम नहीं बनेगा। नैष्कर्म्य की प्राप्ति नहीं होगी। इसके पश्चात् संन्यास अर्थात् त्याग भी आवश्यक है। ऐसा होने पर ही स्वरूपस्थिति और नैष्कर्म्य की प्राप्ति हो सकती है। नैष्कर्म्य के साथ परम विशेषण होने से इसे गाढ़ आत्मरति समझना चाहिए। अर्थात् अपने इष्ट के सिवा और कुछ न देखे।

आत्मरति के लिए बुद्धि की अनासक्ति मन का विजय और इच्छा का त्याग ये तीनों आवश्यक हैं। जब तक हम मन, बुद्धि और शरीर का सम्बन्ध नहीं छोड़ेंगे तब तक सर्वत्र असक्तबुद्धि नहीं हो सकते। यह देहतः त्याग है। इसके पश्चात् गेहतः त्याग भी आवश्यक होता है, क्योंकि सबसे असंग होने पर भी अपने प्रति पुत्रादि की आसक्ति तो बनी रहती है। वह पुनः मोह-ग्रस्त कर सकती है। इसी से कहते हैं संन्यासेनाधिगच्छति।' आगे श्लोक ५२ में भी कहेंगे 'वैराग्यं समुपाश्रितः' अर्थात् असंग होने पर भी वैराग्य का आश्रय लिये रहे।

संगति—यहाँ तक प्रवृत्ति मार्ग वालों के लिए बतलाया कि स्वधर्मानुकूल आचरण करते हुए भगवत्प्राप्ति हो सकती है। अब निवृत्ति मार्ग वालों का कर्तव्य बताते हैं—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।।५०।।

भावार्थ—हे कौन्तेय! [अन्तःकरण की शुद्धिरूप] सिद्धि को प्राप्त हुआ जिस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त होता है वह मुझसे सुनो। तथा जो ज्ञान की परानिष्ठा है उसे भी संक्षेप में जान लो।

व्याख्या—उपर्युक्त दो श्लोकों में जिस अन्तःकरण की शुद्धि रूप सिद्धि का वर्णन है वह विवेक है, क्योंकि आगे ५२ वें श्लोक में 'ध्यानयोगपरो नित्यं' आवेगा। और जब तक विवेक न हो तब तक ध्यान कैसे करेगा।

संगति—अतः अब ध्यान की विधि बतलाते हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा राग-द्वेषौ व्युदस्य च।।५१।।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।।५२।।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।५३।।

भावार्थ—विशुद्ध बुद्धि से युक्त अन्तःकरण की वृत्ति को धैर्य से नियम में रखकर शब्दादि विषयों को त्यागकर राग-द्वेष को दूर रखकर जो एकान्त का सेवन करता है, अल्पाहारी है, वाणी, शरीर और मन को वश में रखता है तथा सर्वदा वैराग्य का आश्रय लेकर ध्यानयोग में तत्पर रहता है वह अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और परिग्रह को त्यागकर ममताशून्य तो शान्त भाव से ब्रह्म-पद प्राप्त करने के योग्य हो जाता है।

व्याख्या—जब विषयाकार से रहित होकर वृत्ति निरन्तर ध्येय वस्तु में स्थिर रहे इसका नाम ध्यान है। यही सविकल्प समाधि में परिणत हो जाता है। उसकी जो गाढ़ अवस्था है वही निर्विकल्प समाधि है। और यही योग है। इन दोनों समाधियों में तत्पर

होना ही ध्यानयोगपरायण होना है। किन्तु इसमें बीच-बीच में विघ्न आते हैं। अतः वैराग्यपूर्वक रहने को कहा है। वैराग्य का भी अभिमान न हो इसलिए एकान्त सेवन लघु भोजन और मन, वाणी तथा शरीर को संयमित करने को कहा है; कहा भी है—

एकान्तवासो लघुभोजनादि मौनं निराशा करणावरोधः।
मुनेरसोः संयमनं षडेते चित्तप्रसादं जनयन्ति शीघ्रम्।।

अर्थात्—एकान्त में रहना, अल्पाहार, मौन, कोई आशा न रखना इन्द्रिय-संयम और प्राणायाम ये छः मुनि को शीघ्र ही चित्त प्रसाद की प्राप्ति कराते हैं।

बुद्धि तीन प्रकार की होती है—अशुद्ध—जो पापकर्म और विषय विलास में प्रवृत्त करे। शुद्ध—जो धर्म, कर्म और उपासना में प्रवृत्त करे। विशुद्ध—जो आत्मा-अनात्मा का विवेक करावे और सब ओर से छुड़ाकर अपने लक्ष्य में स्थिर कर दे।

यहाँ ५१ और ५२ वें श्लोकों में निराकार का ध्यान है। शब्दादि का त्याग करने पर निराकार का ही ध्यान होता है। इनका क्रमशः त्याग करने पर जो आनन्द आता है उससे भी असंग होने पर निराकार में स्थिति होती है। इसमें आने वाले विघ्नों के त्याग की आवश्यकता ५३ वें श्लोक में बतायी है।

अहंकारादि दोषों को त्यागने पर चित्त ममता रहित हो जाता है। उससे शान्ति मिलती है और तभी ब्रह्म प्राप्ति की योग्यता आती है। ऐसा होने पर ब्रह्मत्व का अधिकार तो प्राप्त हो जाता है, परन्तु अभी ब्राह्मी स्थिति प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि अभी उसकी दृष्टि में दृश्य की सत्ता बनी हुई है।

यहाँ काम-क्रोधादि तो गिनाये हैं, परन्तु लोभ का उल्लेख नहीं किया, क्योंकि जिज्ञासु में स्वभाव से ही धन या यश का लोभ नहीं होता। उसका लोभ तो अपने लक्ष्य के साक्षात्कार में ही होता है।

संगति—ब्रह्म को प्राप्त होने पर उसका स्वभाव कैसा हो जाता है यह बात अगले श्लोक में बतायी जाती है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥५४॥

भावार्थ—ब्रह्म को प्राप्त हुआ प्रसन्न चित्त पुरुष न तो शोक करता है, न कुछ चाहता है। उसकी सब प्राणियों में समदृष्टि होती है और वह मेरी परा भक्ति प्राप्त करता है।

व्याख्या—श्लोक ५१ से ५३ तक ज्ञान की परानिष्ठा के साधन बतलाये गये हैं। जो अहन्ता-ममता से युक्त था इन साधनों के द्वारा वह उनसे मुक्त हो जाता है। परन्तु अभी जीव भाव ही रहता है। इसे ज्ञान नहीं कह सकते। अभी केवल प्रकृति और पुरुष का विवेक हुआ है। यही सांख्य दर्शन का सिद्धान्त है। यह ब्रह्मभूत कहा जाता है। इस स्थिति में प्रसन्नता को प्राप्त हुआ पुरुष बीती हुई बात के लिए शोच नहीं करता और आने वाली के लिए आकांक्षा नहीं करता। अर्थात् उसे भूत-भविष्यत् का चिन्तन नहीं होता। वह वर्तमान में स्थिर रहता है।

अथवा 'न शोचति न कांक्षति' कहकर अन्तःकरण का निषेध किया है। अन्तःकरण से असंग हो जाने के कारण उस में शोक और आकांक्षा का प्रसंग ही नहीं रहता। असह्य कष्ट पड़ने पर भी वह उद्विग्न नहीं होता। किसी के वर-शाप का भी उसे कोई भय नहीं रहता उसे किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं रहती, क्योंकि वह सभी को मायिक देखता है। उसकी सब वस्तुओं में समबुद्धि हो जाती है क्योंकि वह सबको दृश्यमात्र देखता है। जब ऐसी समबुद्धि होती है तब उसे मेरी पराभक्ति प्राप्त होती है। परन्तु अभी दृश्य में सत्यत्व और आत्माओं का भेद निवृत्त नहीं होता। इसलिए यह ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं आत्म साक्षात्कार है। यह ब्रह्मभाव है, ब्रह्मज्ञान नहीं। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का उपदेश होने पर जब दृश्य का अत्यन्ताभाव हो जाता है तब ब्रह्मसाक्षात्कार होता है।

प्रश्न—यह श्लोक समवाद का है या ब्रह्मवाद का?

उत्तर—समवाद में द्वैत की सत्ता रहती है और ब्रह्मवाद में नहीं रहती। इस श्लोक में द्वैत की सत्ता स्वीकार की है, इसलिए यह समवाद का है। यहाँ तो सांख्यवाद की ही परिपक्व अवस्था बतलाई है। यह पराभक्ति ज्ञान नहीं, ज्ञान का साधन है। तत्त्वज्ञान का स्वरूप तो श्लोक ५५ में कहेंगे। ब्रह्म भूत शब्द से भी यहाँ द्रष्टा का बोध कराया है, जैसा कि योग सूत्र में कहा है—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।' सांख्य में द्रष्टा की स्वरूप-स्थिति को ही समबुद्धि कहते हैं। भक्ति में 'सब भगवान्' इसी को समबुद्धि कहते हैं और ज्ञान में 'सब मैं हूँ, अन्य सत्ता का अत्यन्ताभाव है' यह समबुद्धि है।

संगति—इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में त्वं पद का शोधन हुआ है और उत्तरार्द्ध में तत्पद का। अब अगले श्लोक में त्वं और तत् पद का एकीकरण करते हैं—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।५५।।

भावार्थ—उस पराभक्ति द्वारा मैं जो और जैसा हूँ इस प्रकार मुझे तत्त्वतः जान लेता है। और फिर मुझे तत्त्वतः जान कर मुझ ही में प्रवेश कर जाता है।

व्याख्या—इस श्लोक 'भक्त्या' शब्द तृतीयान्त है और तृतीया हेतु अर्थ में होती है। हेतु स्वतन्त्र नहीं होता। इसलिए यह उपासना है। गीता में 'भक्त्या' शब्द कई स्थानों में आया है। यहाँ श्लोक ५५ में इसका विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। अध्याय ११ श्लोक ५४ में तो भक्ति के द्वारा ज्ञातुं, द्रष्टुं और प्रवेष्टुं तीन बातें कही हैं। यहाँ 'अभिजानाति' का अर्थ है भगवान् के स्वरूप को ठीक-ठीक जान लेना, जानकर साक्षात्कार कर लेना 'ज्ञात्वा' से सूचित होता है। और फिर उनमें प्रेम हो जाय, कोई पर्दा न रहे और न अन्य सत्ता रहे, इस प्रकार तद्रूप हो जाना ही 'विशते' शब्द से कहा गया है।

पिछले श्लोक में दृश्य की सत्ता रह गयी थी। उसका यहाँ निषेध है। कुछ काल निषेधाकार वृत्ति रहने पर ऐसा अनुभव होगा

कि समष्टि-द्रष्टा और व्यष्टि-द्रष्टा समष्टि शरीर व्यष्टि शरीर—ये सब एक ही द्रष्टा में अध्यस्त है। यही बोध है। इसीलिए कहते हैं कि 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।' अर्थात् तत्त्वज्ञान होने पर फिर किसी प्रकार का भेद नहीं रहता। प्रपञ्च की सत्ता भी नहीं रहती। अतः मैं तू का झगड़ा समाप्त हो जाता है। यह अभेद भक्ति है, इसी के द्वारा मैं जाना जाता हूँ। तब तो यही अनुभव होता है कि चराचर मेरा ही स्वरूप है, सब मैं हूँ और मेरे स्वरूप में अन्य कुछ नहीं है। ऐसा जानकर समष्टि-साक्षी, व्यष्टि-साक्षी, नीचे ऊपर चारों ओर मैं ही हूँ—ऐसा अनुभव होना ही 'विशते तदनन्तरम्' है।

अथवा आभूषणों में सुवर्ण के समान ईश्वर, जीव, जगत् ये सब सच्चिदानन्दस्वरूप है। सुवर्ण से भिन्न जैसे आभूषणों की सत्ता ही नहीं है उसी प्रकार एक सच्चिदानन्द से भिन्न और किसी की सत्ता ही नहीं है। ऐसा जिसको बोध है उसी के लिये 'विशते तदनन्तरम्' कहा है।

जहाँ तक भेद-दृष्टि है वहीं तक बुद्धि है और वहीं तक उपासना है। अभेद दृष्टि तो बुद्धि से आगे की बात है। यही ज्ञान है। अहंकाररहित तदाकारवृत्ति अभेद होने पर होती है और अहंकार सहित तदाकार वृत्ति भेद में होती है। द्रष्टा और दृश्य के संयोग का नाम ही अभिमान है। ज्ञानी की दृष्टि में इनका कभी संयोग नहीं हुआ, अतः उसके लिए दृश्य का अत्यन्ताभाव है।

संगति—यहाँ साधन का प्रकरण समाप्त हो चुका। परन्तु यहाँ कहा है कि मुझे तत्त्व से जानकर मुझमें प्रवेश कर जाता है। इसलिए अगले श्लोक में कनिष्ठ अधिकारी के लिये पुनः तत्त्वज्ञान का साधन बतलाते हैं, क्योंकि विषय अति कठिन है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥५६॥

भावार्थ—जो मेरे आश्रय रहकर सब प्रकार के कर्म भी सदा करता रहता है वह मेरी कृपा से सनातन अविनाशी पद प्राप्त कर लेता है।

संगति—यह श्लोक सगुणपरक है इसी की पुष्टि अगले श्लोक में करते हैं—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।।५७।।

भावार्थ—सब कर्मों को चित्त से मुझे अर्पण करके मेरे परायण हुआ बुद्धि-योग का आश्रय लेकर तू निरन्तर मेरे में ही चित्त लगाने वाला हो जा।

व्याख्या—भक्तों के लिए भगवान् के अतिरिक्त सबको माया समझना अथवा सबको भगवत्स्वरूप समझना तथा निरन्तर भगवदाकार वृत्ति रखना ही बुद्धियोग है। तथा ज्ञानियों को श्रवण, मनन, निदिध्यासन करने पर जब निरन्तर आत्माकारा वृत्ति रहती है वह बुद्धियोग है।

जो निष्काम कर्म नहीं कर सकते उनके लिए यहाँ दो शब्द 'मच्चित्तः' और 'मत्परः' कहे गये हैं। अर्थात् विराट या निर्गुण में नहीं मुझ मुरलीधारी कृष्ण में ही चित्त लगाओ। तर्क-वितर्क छोड़कर मेरे परायण हो जाओ इसका फल यह होगा कि तुम मेरे ही स्वरूप हो जाओगे। ऐसा ही श्री तुलसीदास जी ने कहा है—

मम दर्शन फल परम अनूपा।
जीव पाव निज सहज स्वरूपा।।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि।।५८।।

भावार्थ—मुझमें चित्त लगाने से तू मेरी कृपा से सब कठिनाइयों को पार कर जायगा और अहंकारवश मेरी बात नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा।

व्याख्या—भगवान् यहाँ निर्देश कर रहे हैं कि संसार-बंधन से मुक्त होने के लिए मेरी कृपा अनिवार्य है। यदि इस बन्धन से छूटने की उत्कण्ठा है तो मुझमें चित्त लगाने की आवश्यकता है। परन्तु मुझमें

चित्त मेरी ही कृपा से लगता है। और यह कृपा उसी पर होती है जो सब कुछ त्यागकर मेरी शरण में आता है। मेरा उपदेश ही मेरी कृपा है। मेरे उपदेश से जब चित्त मुझमें लग जाता है तो ऐसा अनुभव होता है कि यह संसार मेरा ही स्वरूप है। और यही संसार-सागर से तर जाना है। इससे आगे भगवान् कहते हैं कि यदि तू अहंकारवश मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा। अर्थात् तुझे चौरासी लाख योनियों में भटकना पड़ेगा।

गीता में जहाँ भी अस्मद् शब्द का 'माम्' 'मयि' आदि कोई रूप आवे वहाँ अपना इष्ट समझना चाहिए। गीता की यही एक विशेषता है कि भगवान् ने अपने किसी एक रूप का ही उल्लेख नहीं किया।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।।५९।।

भावार्थ—यदि तू अहंकार का आश्रय लेकर ऐसा मानता हो कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो तेरा यह निश्चय झूठा है, क्योंकि तेरी प्रकृति तुझे युद्ध में नियुक्त कर देगी।

व्याख्या—यहाँ भगवान् का आशय यह है कि तू क्षत्रिय है, अतः तेरी इच्छा न होने पर भी तेरा स्वभाव तुझे बलात्कार से युद्ध में प्रेरित कर देगा।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुनेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।६०।।

भावार्थ—हे कुन्तिनन्दन! अपने स्वाभाविक कर्म से बँधा होने के कारण जो कार्य तू मोहवश नहीं करना चाहता वह तुझे विवश होकर भी करना पड़ेगा।

व्याख्या—मनुष्य अपने पूर्व जन्मों के कर्मानुसार जन्म लेता है और उसी के अनुरूप कर्म करता है। इस प्रकार सब अपने स्वभाव से बँधे हुए हैं। परन्तु यह स्वभाव की प्रधानता अविवेकियों के लिये है। विचारवान् तो स्वभाव को पलट देते हैं— 'स्वभावविजयः शौर्यम्'। क्योंकि ज्ञान-द्वारा स्वभाव भी जीत लिया जाता है। योगिजन तो

पाँच-छः शरीर धारण करके पाँच-छः जन्मों का प्रारब्ध एक ही साथ भोग लेते हैं।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।६१।।

भावार्थ—हे अर्जुन! अन्तर्यामी ईश्वर यन्त्ररूप शरीर पर आरूढ़ समस्त प्राणियों को अपनी माया से भ्रमाता हुआ सभी जीवों के हृदय-देश में रहता है।

व्याख्या—भगवान् सभी प्राणियों को इसी प्रकार नचा रहे हैं जैसे सूत्रधार कठपुतलियों को नचाता है। परन्तु यह दृष्टान्त एकदेशी है, क्योंकि जीव कठपुतलियों के समान जड़ नहीं है। किन्तु जिस प्रकार न्यायकारी राजा अपने राज्य में ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि वर्णाश्रमों को अपने-अपने धर्मानुकूल चलाता है, किसी को भी कोई अपकर्म नहीं करने देता, उसी प्रकार ईश्वर भी किसी को बुरा काम करने की प्रेरणा नहीं देता। इसी से उसे सूत्रधार बतलाया है। किसी को ऐसी शंका न हो कि अपकर्म भी भगवान् ही कराते हैं, इसीलिये अगले श्लोक में वे भगवान् की शरण में जाने का आदेश देते हैं।

यहाँ उपासना का प्रसंग है, ज्ञान का नहीं। अतः यहाँ भगवद्भजन पर ही जोर दिया गया है, क्योंकि सबके स्वामी और प्रेरक तो भगवान् ही हैं। जिस प्रकार चरख पर चढ़े हुए लोगों को चरखवाला घुमाता रहता है वैसे ही शरीररूप यन्त्र पर चढ़ाकर भगवान् सबको अपनी माया से घुमाते रहते हैं।

उमा दारु-योषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गुसाईं।।

अतः भक्त की दृष्टि किसी के गुण-अवगुण पर नहीं जानी चाहिए। ५९ वें श्लोक में जीव को प्रकृति के अधीन, ६० वें में स्वभाव के अधीन और ६१ वें में ईश्वर के अधीन बताया है। परन्तु इन सबका साक्षी शुद्ध चेतन है।

संगति—अब अगले श्लोक में भगवान् उपदेश का उपसंहार करते हैं। यहाँ तक उन्होंने अर्जुन को कर्म, उपासना, ज्ञान, नीति,

वैराग्य अनेकों प्रकार के उपदेश दिये। अर्जुन उन्हें समझ भी गया होगा। परन्तु इतने पर भी न समझा हो तो अब एकमात्र सर्वश्रेष्ठ उपाय शरणागति का उपदेश करते हैं।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शन्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।६२।।

भावार्थ—हे भारत! तू (अन्य सब आश्रय छोड़कर) सर्वभाव से उस परमात्मा की ही शरण में जा। उसकी कृपा से तू परम शान्ति और नित्य पद प्राप्त करेगा।

व्याख्या—एकमात्र भगवान् पर ही भरोसा होना, किसी दूसरे की ओर दृष्टि न ले जाना और दृढ़ विश्वास रखना कि सब कुछ करने-धरने वाले वे ही हैं—यही भक्तों की शरणागति है। तथा भगवान् के साथ अपने को अभिन्न देखना, भगवान् की वस्तु उन्हीं को सौंप देना तथा सारे संसार को अपने से भिन्न मरुमरीचिका के समान असत् देखना—यह विचारवानों की शरणागति है।

यहाँ 'तमेव' से शुद्ध ब्रह्म अर्थ ग्रहण करना चाहिये। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो अगले श्लोक में जो भगवान् कहते हैं कि मैंने तुमसे यह गुह्य से गुह्यतर ज्ञान कहा है उससे विरोध होगा। अतः यह ज्ञान का प्रकरण है। प्रकृति को परमात्मा से भिन्न देखना ही गुह्य ज्ञान है।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।।६३।।

भावार्थ—इस प्रकार मैंने तुझसे गुह्यसे गुह्यतर ज्ञान कहा है। इस पर पूर्णतया विचार करके जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर।

संगति—इस पर जब अर्जुन से कोई उत्तर नहीं मिला तो भगवान् अगले श्लोक में अत्यन्त रहस्यपूर्ण वचन कहते हैं—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।६४।।

भावार्थ—अब तू मेरा जो सबसे गुह्यतम श्रेष्ठ वचन है वह सुन। तू मुझे अत्यन्त प्रिय है, इसलिये तेरे हित की बात कहता हूँ।

व्याख्या—भगवान् ने अपना सब गुप्त रहस्य अर्जुन को बता दिया। परन्तु अब वे जो कुछ कहना चाहते हैं वह सबसे गुह्यतम है। अर्थात् इससे अधिक गुह्य और कोई बात नहीं है। ऐसी बात क्यों बता रहे हैं? क्योंकि अर्जुन उन्हें अत्यन्त प्रिय है। उनका अनन्य भक्त और सखा है। अतः उन्हें जो बात सब से प्रिय है वह बता रहे हैं।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।६५।।

भावार्थ—तू मुझमें मन लगा। मेरा भक्त हो। मेरा पूजन कर और मुझे ही नमस्कार कर। इससे तू मुझे ही प्राप्त होगा। मैं सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, क्योंकि तू मेरा प्यारा है।

व्याख्या—यहाँ भगवान् अपनी प्राप्ति का उपाय बता रहे हैं कि यदि तुझे ज्ञान हो गया है 'मन्मना भव'—आत्मरति कर। और यदि ज्ञान नहीं हुआ तो मेरा भक्त हो जा और मेरी ही पूजा कर। यदि यह भी न हो सके तो मुझे नमस्कार कर लिया कर। अथवा इसका यह भी आशय हो सकता है कि ध्यान का अधिकारी ब्राह्मण है, भक्ति का अधिकारी क्षत्रिय है, यज्ञ का अधिकारी वैश्य है तथा नमस्कार या जप के अधिकारी सभी हैं, क्योंकि यह तो सामान्य धर्म है। अथवा उत्तम अधिकारी ध्यान करे, मध्यम भक्ति करे, कनिष्ठ यज्ञ करे और कनिष्ठतर जप एवं नमस्कार करे। इसकी पुष्टि भगवान् अध्याय ९ श्लोक ३४ में, अध्याय १२ श्लोक ८ से ११ में और अध्याय १३ श्लोक २४- २५ में कर आये हैं।

जप सभी कर सकते हैं, यह सामान्य धर्म है। जप के बिना पापों का नाश नहीं होता। पाप नष्ट हुए बिना उपासना नहीं होती। उपासना के बिना वैराग्य नहीं होता, वैराग्य बिना विचार नहीं होता और विचार के बिना ज्ञान नहीं होता। ज्ञान के बिना शान्ति नहीं मिलती और ज्ञानाभ्यास के बिना ज्ञाननिष्ठा नहीं होती। अर्थात् जीवन्मुक्ति

का विलक्षण सुख नहीं मिलता। इस श्लोक में भगवान् ने चार-पाँच प्रकार से अर्जुन को समझाया है कि ऐसा करते हुए तू अवश्य मुझे प्राप्त कर लेगा यह भगवान् का फैसला है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।६६।।

भावार्थ—तू सम्पूर्ण धर्मों का आश्रय छोड़कर एक मेरी ही शरण में आजा। मैं तुझे सब पापों से छुड़ा दूँगा। तू शोक न कर।

व्याख्या—प्रश्न—गीता का प्रारम्भ 'अशोचयानन्वशोचस्त्वम्' से हुआ है और इसकी समाप्ति 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' आदि में हुई है। इस प्रकार उपक्रम तो ज्ञान से हुआ और उपसंहार भक्ति में किया गया। इसका क्या कारण है?

उत्तर—भगवान् अर्जुन को उपदेश करते रहे और अर्जुन सुनता रहा। इससे भगवान् को यह सन्देह हुआ कि अर्जुन को ज्ञान हुआ या नहीं। इसी से उन्होंने कहा कि यदि तुझे ज्ञान हो गया तब तो तेरे कल्याण में कोई सन्देह है नहीं। और यदि ज्ञान नहीं हुआ तो तू मेरी शरण में आजा फिर भक्ति के द्वारा तुझे ज्ञान हो जायगा। इस प्रकार ज्ञान का उपदेश करके भगवान् ने उसका साधन बताया है तथा इस शंका से मुक्त कर दिया है कि युद्ध करने से तुझे कोई पाप लगेगा।

प्रश्न—धर्म क्या है?

उत्तर—धर्म का कोई विशेष रूप नहीं है। शुभ कार्य ही धर्म कहे जाते हैं। इसी से कर्मफल-त्याग का उपदेश किया है। यही सब धर्मों का त्याग है। सर्व-धर्म-त्याग वही कर सकता है जो भगवान् के शरणापन्न हो जाय।

प्रश्न—भगवान् तो अन्तर्यामी हैं। क्या वे नहीं जानते थे कि अर्जुन को ज्ञान हुआ है या नहीं?

उत्तर—भगवान् तो अन्तर्यामी हैं, परन्तु बोधवान् के अन्तःकरण ही नहीं होता, तब जानेंगे क्या।

इस श्लोक में शरणागति की प्रधानता है और धर्मों की गौणता, क्योंकि धर्मों का सर्वथा त्याग तो हो नहीं सकता। अतः शास्त्रकार का आशय यही है कि धर्मों का आश्रय छोड़ भगवान् का आश्रय लिया जाय।

संगति—अब गीता का उपदेश समाप्त करके यह बताते हैं कि इसके श्रवण का अधिकारी कौन है।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।६७।।

भावार्थ—यह गुह्य ज्ञान तुम्हें किसी ऐसे पुरुष को कभी नहीं सुनाना चाहिये जो तपस्वी न हो, भक्त न हो, गुरु सेवा न करता हो और मेरी निन्दा करता हो।

व्याख्या—उपदेश करते समय तो सभी शिष्य सुनते हैं। परन्तु उपदेश को ग्रहण करने वाले केवल गुरुभक्त, गुरुसेवक या वैराग्यवान् ही होते हैं। इसलिए भगवान् कहते हैं कि जिसमें अहिंसा आदि तप नहीं हैं, जो मन, वाणी और शरीर के तप से सम्पन्न नहीं है, जो भलीभाँति धर्म का पालन नहीं करता, वह गीता के ज्ञान का अधिकारी नहीं है। फिर कहते हैं कि वह सगुण-भक्त भी हो, परन्तु गुरुभक्त या शास्त्र श्रवण में श्रद्धा रखने वाला न हो, तो उससे भी यह ज्ञान न कहे। अथवा जो गुरुभक्त तो हो परन्तु गुरुसेवा न करता हो, भगवान् का भक्त हो परन्तु भगवद्भक्तों की सेवा न करता हो, उसे भी यह उपदेश न सुनावे।

अथवा कोई तपस्वी और भक्त तो है, परन्तु सुनने की इच्छा नहीं रखता, जिज्ञासु नहीं है उसे भी यह ज्ञान न सुनावे। अन्त में कहते हैं कि भले ही ऊपर कहे हुए लोगों को सुना दे, किन्तु जो भगवान्, भगवद्भक्त और महापुरुषों की निन्दा करता हो उसे तो कभी न सुनावे।

अतः गीता सुनने के अधिकारी में चार लक्षण होने चाहिए (१) तपस्वी, (२) भक्त, (३) गुरुभक्त या जिज्ञासु अर्थात् सुनने की

प्रबल इच्छा वाला (४) असूयारहित अर्थात् गुणों में दोषदृष्टि न करने वाला, परनिन्दा से बचने वाला। जिसमें ये गुण हों उसी को इसका उपदेश करना चाहिए।

संगति—अब गीता का उपदेश करने वालों की प्रशंसा करते हैं।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥६८॥

भावार्थ—जो मेरे इस अत्यन्त गुह्य रहस्य को मेरे भक्तों के प्रति कहेगा वह निश्चय ही मुझमें परम भक्ति करके मुझ ही को प्राप्त होगा।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥६९॥

भावार्थ—मनुष्यों में उससे अधिक मेरा प्रिय करने वाला और कोई नहीं है। और न मुझे उससे अधिक प्यारा ही संसार में कोई होगा।

व्याख्या—गीता के उपदेशक में उपदेश करते समय स्वार्थ-बुद्धि नहीं होनी चाहिये। तथा श्रोता में भी उपर्युक्त चार दोष नहीं होने चाहिए। वह भगवान्, गीता और वक्ता में श्रद्धा रखे तथा सत्पुरुषों में दोषदृष्टि न करे।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥७०॥

भावार्थ— जो पुरुष हम दोनों के इस धर्ममय संवाद का अध्ययन करेगा उसके द्वारा मानो ज्ञानयज्ञ से मेरा पूजन किया जायगा— ऐसा मेरा मत है।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥७१॥

भावार्थ—जो श्रद्धवान् और अदोषदर्शी पुरुष इस ग्रन्थ का श्रवण-मात्र भी करेगा, वह भी संसार से मुक्त होकर पुण्यकर्मा पुरुषों के शुभ लोकों को प्राप्त होगा।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय।।७२।।

भावार्थ—हे पार्थ! क्या तुमने मेरा यह उपदेश एकाग्र चित्त से सुना। और हे धनञ्जय! क्या तुम्हारा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया।

व्याख्या—इस श्लोक से यह सिद्ध होता है कि ज्ञान प्राप्ति के लिए निरुद्धावस्था की आवश्यकता नहीं है, केवल एकाग्रता होनी चाहिये। और एकाग्रता के लिये पूर्ण जिज्ञासा आवश्यक है। इसीलिये भगवान् ने यह प्रश्न किया है कि तुमने मेरा उपदेश एकाग्रता से सुना और क्या तुम्हारा मोह नष्ट हो गया। यही बात अध्याय २ के ५४ वें श्लोक में किये गये समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ के विषय के अर्जुन के प्रश्न से भी व्यक्त होती है कि स्थितप्रज्ञ असमाधिस्थ भी होता है।

अर्जुन पहले और दूसरे अध्याय में स्वजनों को मारने में पाप और पूज्य गुरुजनों के विरुद्ध खड़े होकर युद्ध करने में अपनी असमर्थता व्यक्त कर चुका था। अध्याय १ के श्लोक ४५ और अध्याय २ के श्लोक ४ में उसने स्पष्टतया युद्ध न करने की बात कही है। जब भगवान् ने उसकी एक-एक शंका का समाधान कर दिया तो अगले श्लोक में वह स्वयं स्वीकार करता है कि मेरा मोह नष्ट हो गया, मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।७३।।

भावार्थ—अर्जुन बोला—अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मुझे स्मृति प्राप्त हो गयी। अब मैं संशयशून्य होकर स्थित हूँ, अतः आपके वचनों का पालन करूँगा।

व्याख्या—यहाँ 'नष्टो मोहः' और 'गतसन्देहः' दो विशेषण आये हैं। जब तक किसी भी प्रकार का सन्देह या अज्ञान का कार्य मोह शेष है तब तक सिद्धावस्था नहीं हो सकती। अतः अर्जुन के इन शब्दों

से मालूम होता है कि उसे सिद्धावस्था प्राप्त हो गयी है और उसे स्मृति अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति भी प्राप्त हो गयी है।

प्रश्न—आत्माकार वृत्ति और ब्रह्माकार वृत्ति में क्या अन्तर है। और 'स्मृति' शब्द से यहाँ क्या तात्पर्य है।

उत्तर—जो लोग दृश्य से अपने को भिन्न मानते हैं वे वास्तव में तत्त्वज्ञ नहीं हैं। वे असंगता का अनुभव नहीं करते, केवल असंगता का चिन्तन करते हैं। वे दृश्य की सत्ता भी स्वीकार करते हैं और अपने को भी कुछ माने हुए हैं। असली असंगता तो यह है कि दृश्य की कोई सत्ता ही नहीं है, वह केवल प्रतीतिमात्र है। सम्पूर्ण दृश्य का अधिष्ठान अपना स्वरूप ही है और वही एकमात्र सत्ता है। इसी को आत्माकार वृत्ति कहते हैं।

यह तो हुई आत्माकार वृत्ति की बात। ब्रह्माकार वृत्ति में अपने से भिन्न देखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि दृश्य अलग तो है ही—यह बात पहले ही निश्चित हो चुकी है। उस के अत्यन्ताभाव देखने की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जो वस्तु आकाश में प्रतीत होती है उसका कोई आधार नहीं होता, इसलिए वास्तव में वह है नहीं। अतः असंगता का चिन्तन और प्रपञ्च अत्यन्ताभाव देखना भी ब्रह्माकार वृत्ति का उत्तम अभ्यास नहीं है। उत्तम अभ्यास तो स्मृतिमात्र है। अर्थात् वस्तुमात्र को देखते समय हमारी दृष्टि ज्ञप्तिमात्र पर रहे। इस अवस्था में दृश्य की ठीक-ठीक प्रतीति होती है तथा जिसे इदं-रूप से नहीं देख सकते उस शुद्ध सत्ता का भी अनुभव होता है। यही स्मृतिमात्र ब्रह्माकार वृत्ति है। इसी का विशेष महत्त्व है, ज्ञान का नहीं, क्योंकि यहाँ 'स्मृतिर्लब्धा' कहा है 'ज्ञानं लब्धं' नहीं कहा। इसका विशेष महत्त्व इसलिए है कि यह खाते-पीते, चलते-फिरते हर समय रह सकती है। जैसा कि कहा भी है—

निमिषार्द्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं बिना।
यथा तिष्ठन्ति ब्रह्माद्याः सनकाद्याः शुकादयः॥

अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्मादि सनकादि और शुकादि सब कुछ करते हुए भी निरन्तर ब्रह्माकार वृत्ति में स्थित रहते हैं उसी प्रकार तत्त्ववेत्ता आधे पल भी ब्रह्माकार वृत्ति के बिना नहीं रहते। इसका तात्पर्य यह है कि बोध हो जाने पर निरन्तर स्वरूपस्मृति बनी रहती है, जैसे कि याद न करने पर भी अपनी जाति या नाम का स्मरण रहता है। कोई पूछता है तो तुरन्त बता देते हैं, याद नहीं करना पड़ता। जो बादशाह से एक बार भी हाथ मिला लेता है वह जन्मभर उसे नहीं भूलता।

अथवा यह नियम है कि अहंवृत्ति के बिना इदंवृत्ति नहीं होती। और अहं ही स्वस्वरूप है। परन्तु अहन्ता तीन प्रकार की होती है—शरीर में, चिदाभास में और शुद्ध सत्ता में। जिस प्रकार सारा स्वप्न-प्रपञ्च स्वप्नद्रष्टा से भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार सम्पूर्ण दृश्य स्वस्वरूप ही है। अतः जो भी अहंवृत्ति या इदंवृत्ति होती है तत्त्वतः वह ब्रह्माकार वृत्ति ही है। यह वृत्ति मनुष्य ही नहीं कीट-पतंगादि को भी होती है, परन्तु उनको इसका अनुभव नहीं है। परन्तु बोधवान् तो सब कुछ अपना-आप देखता है। नेत्र से रूप देखने के समान इसमें उसे प्रयास नहीं करना पड़ता। उसका मन जहाँ-जहाँ भी जाता है वहीं-वहीं उसे समाधि है। ऐसी स्थिति होने पर उसे कुछ कर्त्तव्य नहीं रहता है। यह उसकी सहज समाधि है।

प्रश्न—आपने जो कहा कि आत्मदर्शन अत्यन्त सुगम है, सो किस प्रकार? आत्मचिन्तन का वह सुगम उपाय क्या है?

उत्तर—पहले असंग-भावना करनी चाहिये। इसमें निष्ठा हो जाने पर चराचर जगत् की उपेक्षा कर देने से हर समय आत्म-चिन्तन स्वाभाविक हो जायगा। कोई कष्ट नहीं करना पड़ेगा। परन्तु यह स्थिति होती तभी है जब अपने-आप में प्रेम हो। अपने में प्रेम होना बड़ा कठिन है, क्योंकि चित्त जगह-जगह बँटा हुआ है। अतः दूसरों में तो आसक्ति हो जाती है किन्तु आत्मरति नहीं होती। सब इस शरीर को

ही हृष्टपुष्ट चाहते हैं अथवा स्त्री–पुत्रादि के लालन–पालन में लगे हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि अधिकतर लोगों की आसक्ति अनात्मा में ही है। अतः जब सब ओर से हटकर आत्मा में ही प्रेम हो तब समझो कि अब मेरा पुण्योदय हुआ, अब अवश्य कल्याण हो जायगा।

यह तो निश्चय ही है कि सम्पूर्ण प्रपञ्च आकाश के अन्तर्गत है। और जो वस्तु आकाश में होती है वह वस्तुतः होती नहीं क्योंकि उसके निमित्त और उपादान कारण का अत्यन्ताभाव है। आत्मा में एक शक्ति–वृत्ति होती है। वही सम्पूर्ण प्रपञ्च को विषय करती है। जितने भाव–पदार्थ हैं वे अभाव के अन्तर्गत हैं। इसलिए पहले वह वृत्ति अभाव को ग्रहण करती है और फिर अभावाकार होकर अन्य पदार्थों को अनुभव करती है। इस प्रकार अभाव वृत्ति भाव–पदार्थों की साक्षी है और आत्मा अभाव–वृत्ति का साक्षी है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा सम्पूर्ण पदार्थों से असंग है। अभाव–वृत्ति के साथ तादात्य को प्राप्त होने से ही उसे अन्य पदार्थों की प्रतीति होती है। विवेक की दृढ़ता हो जाने पर सम्पूर्ण प्रपञ्च से असंगता का अनुभव होने लगे तो फिर समस्त प्रतीतियों की उपेक्षा करके वृत्तिसाक्षीरूप से अनुभव करने पर उसे अपना साक्षात् अनुभव होने लगता है। यही आत्मचिन्तन का सबसे सहज उपाय है। इस प्रकार आत्मचिन्तन के इच्छुक पुरुष को चाहिये कि वह प्रतीति मात्र को आकाश–कुसुम के समान समझे और उसकी उपेक्षा करके स्वयं वृत्ति–साक्षी होकर स्थित रहे।

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्।।७४।।

भावार्थ– सञ्जय बोला–इस प्रकार मैंने वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण और पृथा–पुत्र महात्मा अर्जुन का यह अद्भुत और रोमाञ्चकारी संवाद सुना।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।।७५।।

भावार्थ—मैंने भगवान् व्यासदेव की कृपा से यह परम गुह्य योग सुना है, जो स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण ने ही कहा है।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।।७६।।

भावार्थ—राजन्! श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस पवित्र संवाद को स्मरण कर-करके मैं पुनः-पुनः हर्षित हो उठता हूँ।

व्याख्या—इस संवाद के श्रवण और मनन से पुण्य होता है, इसलिये यह पुण्यरूप है। इसी से अनजाने में किये हुए पाप नष्ट हो जाते हैं, इसलिए यह अद्भुत है। इसी से सञ्जय ने कहा है कि इसे स्मरण कर-करके मैं हर्षित हो जाता हूँ।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः।।७७।।

भावार्थ—राजन्! श्रीहरि के उस अद्भुत विराट् रूप का स्मरण कर-करके तो मुझे बड़ा विस्मय होता है और मैं पुनः-पुनः हर्षित हो जाता हूँ।

व्याख्या—जब अर्जुन को अपनी अज्ञानावस्था का विचार होता है कि बोध होने से पूर्व मैं क्या था और अब क्या हो गया तो उसे बड़ा आश्चर्य होता है। उस अज्ञान की निवृत्ति में भगवान् का विराट् रूप भी सहायक हुआ था। उसी विराट् रूप और भगवान् की अद्भुत शक्ति ने सञ्जय को भी विस्मय में डाल दिया।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।७८।।

भावार्थ—जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धारी अर्जुन है वहाँ श्री, विजय, वैभव और नीति सर्वदा रहती हैं—ऐसा मेरा मत है।

व्याख्या—जहाँ 'योगेश्वर' जिनके अधीन विद्या-अविद्या एवं ज्ञान-अज्ञान सभी हैं, अथवा जो कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग सभी प्रदान कर सकते हैं, जिनकी कृपा से जीव और ईश्वर का भेद भी निवृत्त हो जाता है, ऐसे श्रीकृष्ण और उनका अनन्य भक्त अर्जुन है वहाँ लक्ष्मी, विजय, विभूति, नीति सभी अविचल होकर रहती हैं। ऐसा मेरा मत है। सञ्जय का यह मत ही शास्त्र का सिद्धान्त है। जहाँ भक्त और भगवान् हैं वहाँ क्या नहीं है?

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः।।१८।।
श्रीकृष्णार्पणमस्तु



हमारे प्रकाशन

१. हमारे श्रीमहाराजजी–यह ब्रह्मलीन पूज्यपाद श्री उड़िया बाबा जी महाराज का जीवन-चरित्र है। महापुरुषों के जीवन में साधकों को अपने जीवन-निर्माण की दिशा मिलती है। श्री महाराजजी का जीवन इस दृष्टि से बहुत उपयोगी है। उनमें किस प्रकार मानव जीवन के चरम लक्ष्य का आविर्भाव हुआ, यह कुशल लेखक ने बड़ी सजीव भाषा में व्यक्त किया है। इतना सफल चरित्र-चित्रण शायद ही किसी जीवन-चरित्र में हुआ होगा। डिमाई साइज की करीब छः सौ पृष्ठों की सजिल्द पुस्तक में तीन तिरंगे और तीन सादे चित्र भी हैं।

२. श्री उड़िया बाबाजी के उपदेश–श्री महाराजजी समय-समय पर साधकों को जो उपदेश देते थे उनमें से जो वाक्य अधिक प्रभावशाली होते थे उन्हें साधक लोग नोट कर लेते थे। यह उन्हीं का संग्रह है। इसमें आचार, उपासना और ज्ञान तीन खण्ड हैं। अतः यह सभी प्रकार के साधकों के लिए उपयोगी है। यह पुस्तक पाँच सौ पृष्ठों की हैं।

३. श्री उड़िया बाबाजी के संस्मरण-प्रथम खण्ड–
श्री महाराजजी के सान्निध्य में रहे लगभग १०० सन्त, भक्तों के तथ्यपूर्ण अनुभव लगभग चार सौ पृष्ठों में। आकर्षक जिल्द सहित।

४. श्री उड़िया बाबाजी के संस्मरण-द्वितीय खण्ड –
श्री महाराजजी के सान्निध्य में रहे लगभग ८० सन्त, भक्तों के तथ्यपूर्ण अनुभव लगभग चार सौ पृष्ठों में। आकर्षक जिल्द सहित।

पुस्तक प्राप्ति स्थान :-

श्रीकृष्णाश्रम,
दावानल कुण्ड, वृन्दावन (मथुरा)